ॐ

श्री परत्मामने नमः

श्रीमद् स्वामी कार्तिकेय विरचित

कार्तिकेयानुप्रेक्षा

भाषा टीकाकार :

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा

हिन्दी रूपान्तरकार, सम्पादक एवं अन्वयार्थ लेखक :

पण्डित महेन्द्रकुमार पाटनी, काव्यतीर्थ

मदनगंज - किशनगढ़ (राजस्थान)

हिन्दी पद्यानुवाद :

पण्डित अभयकुमार शास्त्री

देवलाली (महाराष्ट्र)

प्रस्तावना :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियां (राजस्थान)

प्रकाशक :

❀ श्री दिगम्बर जैन कुन्दकुन्द परमागम ट्रस्ट

16/1, साधनानगर, इन्दौर (मध्यप्रदेश)

❀ श्री दिगम्बर जैन कुन्दकुन्द कहान स्वाध्याय भवन

16/1, साऊथ तुकोगंज, पलासिया, इन्दौर (मध्यप्रदेश)

पूर्व छह संस्करण : 9000 प्रतियाँ
सातवाँ संस्करण : 1200 प्रतियाँ

न्यौछावर राशि : 50.00 रुपये

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन कुन्दकुन्द परमागम ट्रस्ट**
श्री विजय बड़जात्या, मोबा : 09425066838
16/1, साधनानगर, इन्दौर (मध्यप्रदेश)

2. **श्री दिगम्बर जैन कुन्दकुन्द कहान स्वाध्याय भवन**
16/1, साऊथ तुकोगंज, पलासिया, इन्दौर (मध्यप्रदेश)

3. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com

4. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मङ्गलायतन)**
अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)

5. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक : **देशना कम्प्यूटर्स,** जयपुर

प्रकाशकीय

परम पूज्य दिगम्बर आचार्य स्वामी कार्तिकेय द्वारा रचित कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ का प्रस्तुत (सप्तम संस्करण) प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है। इस ग्रन्थ की विशेषता है कि इसमें द्वादश अनुप्रेक्षाओं का वर्णन इतना सजीव और व्यापक ढंग से किया गया है कि जिससे संसार, शरीर और भोगों की नि:सारता समझकर आत्मार्थी जीव की परिणति को स्वात्मसन्मुख होने का अवसर प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में समागत लोक भावना का चित्रण तो इतना व्यापक है कि वह अन्यत्र दुर्लभ है।

इस ग्रन्थ की देशभाषामय वचनिका ढूंढारी भाषा में सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक विद्वान पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा द्वारा की गयी है। जिसका आधुनिक हिन्दी में अनुवाद तथा गाथाओं का अन्वयार्थ पण्डित महेन्द्रकुमारजी पाटनी काव्यतीर्थ द्वारा किया गया है। जो बाद में मुनिदीक्षा लेकर समाधि प्राप्त कर चुके हैं। प्रस्तुत संस्करण में पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री, देवलाली द्वारा किया गया गाथाओं का हिन्दी पद्यानुवाद सम्मिलित करके इस ग्रन्थ को सर्वजन ग्राह्य बनाने का प्रयास किया गया है। साथ ही ग्रन्थ का आवश्यक सम्पादन - जैसे कहीं-कहीं प्राचीन हिन्दी शब्दों का प्रचलित हिन्दीरूप आदि भी दिया गया है। इस श्रमसाध्य कार्य तथा प्रस्तुत ग्रन्थ की विस्तृत प्रस्तावना पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन द्वारा लिखी गयी है। जो इस संस्करण की विशेषता है।

श्री दिगम्बर जैन कुन्दकुन्द परमागम ट्रस्ट, इन्दौर में विगत अनेक वर्षों से स्थापित संस्था श्री श्री दिगम्बर जैनधर्म शिक्षण संयोजन समिति का विलय कर दिया गया है। यह संस्था इन्दौर नगर में आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान का प्रचार-प्रसार करने में संलग्न रही है। लगभग प्रतिवर्ष अनवरत रूप से ग्रीष्मावकाश में स्थानीय स्तर पर आध्यात्मिक शिक्षण-शिविरों का आयोजन करती थी। बाहर के एवं स्थानीय विद्वानों के सहयोग से नगर के विभिन्न जिनालयों में तात्त्विक गोष्ठियों का आयोजन इस समिति के माध्यम से किया जाता रहा है। इस संस्था द्वारा पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के तत्त्वावधान में राष्ट्रीय स्तर पर सन् 1982, 1991 एवं सन् 1999 में शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर सफलतापूर्वक आयोजित किये जा चुके हैं। समय-समय पर पूजन-विधान के आयोजन तो यह समिति कराती ही थी साथ ही उपनगरों में स्वाध्याय केन्द्र स्थापित करने में भी यह समिति तन-मन-धन से सहयोग करती रही है। प्रवचनसार (जयसेनाचार्यकृत टीका) कार्तिकेयानुप्रेक्षा, समयसार कलश टीका, बृहद् द्रव्य संग्रह तथा मुक्ति का संघर्ष का प्रकाशन श्री दिगम्बर जैनधर्म शिक्षण संयोजन समिति इन्दौर द्वारा पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर के माध्यम से किया गया था।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में जिन साधर्मियों ने आर्थिक सहयोग प्रदान किया उनके आभारी हैं। कार्तिकेयानुप्रेक्षा वर्ष के उपलक्ष्य में प्रकाशित इस ग्रन्थ का लाभ लेते हुए हम सभी आत्मकल्याण की ओर अग्रसर हों ऐसी भावना है।

अध्यक्ष

श्री दिगम्बर जैन कुन्दकुन्द परमागम ट्रस्ट, इन्दौर

प्रस्तावना

श्री वीतरागी जिनेन्द्र परमात्मा द्वारा उद्घाटित त्रैकालिक सत्य वस्तुस्वरूप का अविरल प्रवाह भावलिङ्गी सन्तों एवं तद्मार्गानुसारी ज्ञानी धर्मात्माओं की पावन परम्परा से आज तक जीवन्त है और हमें निरन्तर भवताप से बचने की पावन प्रेरणा दे रहा है।

वीतरागी सन्तों की इसी परम्परा की एक कड़ी हैं स्वामी कार्तिकेय; जिनके द्वारा रचित वैराग्य एवं अध्यात्म सिद्धान्तों का प्रतिपादक ग्रन्थ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, हमें संसार, शरीर एवं भोगों के विरक्त होकर निज शुद्धचैतन्यसत्ता में अवगाहन की दिव्य देशना प्रदान कर रहा है।

इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय वैराग्यजननी बारह भावनाएँ हैं, जिन्हें अनुप्रेक्षा नाम से भी जाना जाता है, अनुप्रेक्षा का अर्थ है किसी भी विषय का बारम्बार चिन्तन करना।

जैन पुराणों में वर्णित तीर्थङ्कर परमात्माओं के जीवनचरित्र, इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं, कि सभी तीर्थङ्करदेव, जिनदीक्षा से पूर्व इन बारह वैराग्य भावनाओं का चिन्तन करते हैं।

स्वामी कार्तिकेय के शब्दों में ये बारह भावनाएँ '**भवियजणाणंद जणणीयो**'[1] अर्थात् भव्य जीवों के लिए आनन्दजननी हैं।

बारह भावनाओं/अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन की उपयोगिता दर्शानेवाले कतिपय आगम प्रमाण इस प्रकार हैं —

एवं भावयतः साधोर्भवेद्धर्ममहोद्यमः।
ततो हि निष्प्रमादस्य महान् भवति संवर॥

अर्थात् इस प्रकार (अन्तरङ्ग सापेक्ष) बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करने से साधु के धर्म का महान उद्योत होता है। उससे वह निष्प्रमाद होता है; जिससे कि महान संवर होता है।[2]

द्वादशापि सदा चिन्त्या अनुप्रेक्षा महात्मभिः।
तद्भावना भवत्येव कर्मणां क्षयकारणम्॥[3]

अर्थात् महान पुरुषों को बारह भावनाओं का सदा ही चिन्तवन करना चाहिए, क्योंकि उनकी भावना कर्मों के क्षय का कारण होती ही है।[3]

विध्याति कषायाग्नि विगलितरागो विलीयते ध्वान्तम्।
उन्मिषति बोधदीपो हृदि पुंसां भावनाभ्यासात्॥

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १; २. तत्त्वसार, ६/४३; ३. पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका उपासक संस्कार, श्लोक ४२

अर्थात् इन बारह भावनाओं के अभ्यास से जीवों की कषायरूपी अग्नि शान्त हो जाती है, राग गल जाता है, अन्धकार विलीन हो जाता है और हृदय में ज्ञानरूपी दीपक विकसित हो जाता है।[१]

अनुप्रेक्षा का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि —

किसी विषय को पुनः-पुनः चिन्तवन करते रहना अनुप्रेक्षा है। मोक्षमार्ग में वैराग्य की वृद्धि के अर्थ बारह प्रकार की **अनुप्रेक्षाओं** का कथन जिनागम में प्रसिद्ध है, इन्हें वैराग्यमयी **बारह भावनाएँ** भी कहते हैं; इनके भाने से व्यक्ति शरीर व भोगों से उदासीन होकर साम्यभाव में स्थिति पा सकता है।[२]

..... स्वाख्यातत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा अर्थात् बारह प्रकार से कहे गये तत्त्व का पुनः-पुनः चिन्तन करना **अनुप्रेक्षा** है।[३]

शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा अर्थात् शरीरादिक के स्वभाव का पुनः-पुनः चिन्तन करना **अनुप्रेक्षा है**।[४]

अधिगतार्थस्य मनसाध्यासोनुप्रेक्षा अर्थात् जाने हुए अर्थ का मन में अभ्यास करना **अनुप्रेक्षा** है।[५]

कम्मणिज्जरणट्ठमट्ठि-मज्जाणुगयस्स सुदणाणस्स परिमलण-मणुपेक्खणा णाम अर्थात् कर्मों की निर्जरा के लिए अस्थि-मज्जानुगत अर्थात् पूर्णरूप से हृदयङ्गम हुए श्रुतज्ञान के परिशीलन करने का नाम **अनुप्रेक्षणा** है।[६]

सुदत्थस्स सुदणाणुसारेण चिन्तणमणुपेहणं णाम अर्थात् सुने हुए अर्थ का श्रुत के अनुसार चिन्तन करना **अनुप्रेक्षा** है।[७]

अपना और शरीरादि का जहाँ-जैसा स्वभाव है, वैसा पहिचानकर, भ्रम को मिटाकर, भला जानकर, राग नहीं करना और बुरा जानकर द्वेष नहीं करना — ऐसी सच्ची उदासीनता के लिए यथार्थ अनित्यत्वादिक का चिन्तवन करना ही सच्ची **अनुप्रेक्षा** है।[८]

अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन का उद्देश्य अथवा प्रयोजन संसार, शरीर, भोगों से उदासीनभावरूप वैराग्यपरिणामों की उत्पत्ति एवं उनकी वृद्धि है। इससे स्वरूप-स्थिरता का पुरुषार्थ और संवर की उपलब्धिपूर्वक निर्जरा एवं मोक्ष की ओर प्रयाण होता है।

आस्रव की दुःखरूपता का विचार करने से संवर और निर्जरा का सम्यक् पुरुषार्थ जागृत होता है। बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति के अवसरों की दुर्लभता का दृढ़तम चिन्तन करके, प्राप्त अवसर को न गँवाने की तीव्रतम भावना उत्पन्न होती है। लोक के स्वरूप का विचार एवं उसमें परिभ्रमण के दुःख का चिन्तन करके, **निज चैतन्य लोक** में निवास की प्रेरणा मिलती है। इत्यादि अनेक उद्देश्यों की पूर्ति इन

१. ज्ञानार्णव भावना अधिकार १९२; २. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १, पृष्ठ ७१; ३.तत्त्वार्थसूत्र, ९/७;
४. सर्वार्थसिद्धि, ९/७; ५. सर्वार्थसिद्धि, ९/२५; ६. धवला ९/४, १,५५/२६३/१;
७. धवला १४/५, ६, १४/९/५; ८. मोक्षमार्गप्रकाशक, २२९

वैराग्यवर्द्धिनी भावनाओं के चिन्तन से होकर यह चिन्तन वीतरागता की उपलब्धि में सहायक होता है।

अनुप्रेक्षाओं के चिन्तवन का महत्व दर्शानेवाले निम्न आगम उद्धरण भी विचारणीय हैं —

जो पुरुष इन बारह भावनाओं का चिन्तवन करके अनादिकाल से आज तक मोक्ष गये हैं; उनको मैं मन, वचन, कायपूर्वक बारम्बार नमस्कार करता हूँ। इस विषय में अधिक कहने की जरूरत नहीं है, बस! इतना ही बहुत है कि भूतकाल में जितने श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए और जो आगे होंगे, वे सब इन्हीं भावनाओं का चिन्तवन करके ही हुए हैं; इसे भावनाओं का ही महत्त्व समझना चाहिए।[१]

जो धर्मध्यान में प्रवृत्ति करता है, उसको ये द्वादशानुप्रेक्षा आधाररूप हैं; अनुप्रेक्षा के बल पर ध्याता धर्मध्यान में स्थिर रहता है; क्योंकि जो जिस वस्तुस्वरूप में वर्तमान में एकाग्रचित्त होता है, वह भी कालान्तर में विस्मरण होने पर उससे चिगता है; परन्तु यदि अनुप्रेक्षाओं के द्वारा बार-बार उसको एकाग्रता करने के लिए आलम्बन मिल जावेगा तो वह नहीं चिगेगा।[२]

अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करता हुआ यह जीव उत्तम क्षमादि धर्मों का ठीक तरह से पालन करता है और परीषहों को जीतने के लिए उत्साहित होता है, अत: तपाये हुए लोहे के गोले के समान क्षमादिरूप से परिणत हुए आत्महितैषियों को बारह भावनाओं का अवश्य चिन्तन करना चाहिए।[३]

अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन वैराग्य-वृद्धि के लिए किया जाता है। अत: यद्यपि मुनिराज का जीवन तो वैराग्य की साक्षात् मूर्ति होता है; वे तो सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के शिखामणि होते हैं; उनके जीवन में तो इन भावनाओं का चिन्तन एवं उसका फल प्रगट भी हो ही जाता है, तो भी वैराग्यभाव की विशेष वृद्धि के लिए वे इनका चिन्तन करते हैं। सम्यग्दृष्टि अथवा श्रावक भी अपने वैराग्यभाव की वृद्धि के लिए इन वैराग्यमय भावनाओं का चिन्तन करते हैं।

यद्यपि मिथ्यादृष्टि अज्ञानी को भी इनके चिन्तन का निषेध नहीं है, तथापि उसे वस्तुस्वरूप का सम्यक् बोध न होने से, उसके चिन्तन में समीचीनता नहीं होती। वह शरीरादि की अनित्यतादि के चिन्तन से उनके प्रति समभाव न लाकर द्वेषभाव भी उत्पन्न कर लेता है; अत: उसे सर्वप्रथम आगम के आधार पर सत्य वस्तुस्वरूप का निर्णय करना चाहिए।

दूसरी बात यह भी है कि इन बारह भावनाओं का वर्णन संवर के कारणों के अन्तर्गत आया है और मिथ्यादृष्टि को संवर नहीं होता है; अत: उसके सच्ची बारह भावनाएँ नहीं होती हैं। हाँ, वह वस्तुस्वरूप के निर्णयपूर्वक, इनके चिन्तन से अपने चित्त में वैराग्यमय कोमलपरिणामों के द्वारा आत्मानुभव का पुरुषार्थ करे तो उसके चिन्तन को निष्फल नहीं कहा जा सकता।

अनुप्रेक्षाओं को संवर के कारणों में गिना गया है। संवर के कारणों की चर्चा करते हुए आचार्य उमास्वामी कहते है कि — **स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः।**

१. बारसाणुवेक्खा, गाथा ८९, ९०; २. भगवती आराधना, १८७४; ३. सर्वार्थसिद्धि, ९/७

अर्थात् गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से संवर होता है।[१]

संवर की कारणरूप ये अनुप्रेक्षाएँ बारह प्रकार की होती हैं — **अनित्याशरण-संसारैकत्वान्यत्वा -शुच्यास्त्रव-संवर-निर्जरालोक-बोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिंतनमनुप्रेक्षा:। अर्थात्** अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म।[२]

मूलाचार एवं भगवती आराधना में भी यद्यपि अनुप्रेक्षा के बारह भेद ही प्ररूपित किये गये हैं, तथापि क्रम में अन्तर है। दोनों ग्रन्थों के अनुसार बारह भावनाओं का क्रम इस प्रकार है —

अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि।

यहाँ यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि संवर का एकमात्र कारण वीतराग शुद्धभाव ही है; अत: इन बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाओं के काल में ज्ञानी की अन्तरङ्ग शुद्ध परिणति ही संवर की कारण है; अनित्यादि का शुभभावरूप विकल्प नहीं। इसी बात को ध्यान में रखकर जिनागम में अनुप्रेक्षाओं के निश्चय-व्यवहार परक स्वरूप भी प्राप्त होता है। निश्चय अनुप्रेक्षा अर्थात् वीतराग परिणति और व्यवहार अनुप्रेक्षा अर्थात् उस भूमिका में वर्तनेवाला बारह प्रकार से अनुप्रेक्षाओं का शुभरागात्मक चिन्तन।

अनुप्रेक्षाओं के इन प्रकारों में निहित रहस्य के सन्दर्भ में लोकप्रिय प्रवचनकार डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के ये विचार अनुशीलन के योग्य हैं —

संसारी जीव के मुख्यरूप से स्त्री-पुत्र, मकान-जायदाद, रुपया-पैसा और शरीर का ही संयोग है; इनमें सर्वाधिक नजदीक का संयोगी पदार्थ शरीर ही है। अनित्यभावना में इनकी अनित्यता, अशरणभावना में इनकी अशरणता तथा संसारभावना में इनकी दु:खरूपता व नि:सारता का चिन्तन किया जाता है। स्वयं में एकत्व और संयोगों से भिन्नत्व का विचार क्रमश: एकत्व और अन्यत्वभावना में होता है। संयोगों (शरीर आदि) की मलिनता, अपवित्रता का चिन्तन ही अशुचिभावना है।

उक्त भावनाओं के चिन्तन का विषय यद्यपि संयोग ही है; तथापि चिन्तन की धारा का स्वरूप इस प्रकार है कि संयोगों से विरक्ति हो, अनुरक्ति नहीं। अत: ये छह भावनाएँ मुख्यरूप से वैराग्योत्पादक हैं।

आस्त्रव, संवर और निर्जरा तो स्पष्टरूप से तत्त्वों के नाम हैं; अत: इनका चिन्तन सहज ही तत्त्वपरक होता है। बोधिदुर्लभ और धर्मभावना में भी रत्नत्रयादि धर्मों की चर्चा होने से इनका चिन्तन तत्त्वपरक ही रहता है। लोकभावना में लोक की रचना सम्बन्धी विस्तार को गौण करके यदि उसके स्वरूप पर विचार किया जाए तो उसका चिन्तन भी निश्चितरूप से तत्त्वपरक ही है।

इस प्रकार आरम्भ की छह भावनाएँ वैराग्योत्पादक एवं अन्त की छह भावनाएँ तत्त्वपरक हैं परन्तु इसे नियम के रूप में देखना ठीक न होगा; क्योंकि यह कथन मुख्यता और गौणता की अपेक्षा से ही है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ९/२; २. तत्त्वार्थसूत्र, ९/७

वैराग्योत्पादक चिन्तन से भावभूमि के सरल हो जाने पर, तरल हो जाने पर, उसमें बोया हुआ तत्त्वचिन्तन का बीज निरर्थक नहीं जाता; उगता है, बढ़ता है, फलता भी है और अन्त में पूर्णता को भी प्राप्त होता है। कठोर-शुष्क भूमि में बोया गया बीज नाश को ही प्राप्त होता है, अत: जमीन को जोतने-सींचने के श्रम को निरर्थक नहीं माना जा सकता। आरम्भ की छह भावनाएँ मुख्यरूप से भावभूमि को जोतने एवं वैराग्यरस से सींचने का ही काम करती हैं; जो कि अत्यन्त आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बारह भावनाओं की यह चिन्तनप्रक्रिया अपने आप में अद्‌भुत है, आश्चर्यकारी है; क्योंकि इनमें संसार, शरीर और भोगों में लिप्त जगत को अनन्तसुखकारी मार्ग में प्रतिष्ठित करने का सम्यक् प्रयोग है, सफल प्रयोग है।[१]

इन बारह अनुप्रेक्षाओं का संक्षिप्त स्वरूप, आगमउद्धरणपूर्वक इस प्रकार है —

१. अनित्यानुप्रेक्षा – संसार, शरीर, भोगों की क्षणभङ्गुरता एवं स्वभाव की नित्यता का चिन्तन करना **अनित्यानुप्रेक्षा** है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि मात्र अनित्यता का चिन्तन ही अनित्यानुप्रेक्षा नहीं है, अपितु उस अनित्यता के साथ द्रव्यस्वभाव की नित्यता का चिन्तन भी अनिवार्य है। इस सन्दर्भ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा कृत बारह भावना का निम्न छन्द दृष्टव्य है —

द्रव्यरूप कर सर्व थिर, परजय थिर है कौन?
द्रव्यदृष्टि आपा लखो, पर्जयनय करि गौन।

स्वभाव की नित्यता के चिन्तनपूर्वक, पर्याय को गौण करके, नित्य द्रव्यस्वभाव का अनुभव या स्वसंवेदन करना ही संवर के कारणरूप अनित्यानुप्रेक्षा है। नित्यता अथवा अनित्यता का चिन्तन तो विकल्पात्मक शुभभावरूप होने से पुण्यबन्ध का ही कारण है।

अनित्यानुप्रेक्षा का स्वरूप दर्शानेवाले कुछ आगम उद्धरण इस प्रकार हैं —

परमट्ठेण दु आदा देवासुरमणुवरायविविहेहिं।
वदिरित्तो सो अप्पा सस्सदभिदि चिंतये णिच्चं॥

अर्थात् शुद्धनिश्चयनय से आत्मा का स्वरूप सदैव इस तरह चिन्तवन करना चाहिए कि यह देव, असुर, मनुष्य और राजा आदि के विकल्पों से रहित है अर्थात् इसमें देवादिक भेद नहीं हैं, ज्ञानस्वरूप मात्र है और सदा स्थिर रहनेवाला है।[२]

तत्सर्वमध्रुवमिति भावयितव्यम्। तद्भावनासहितपुरुषस्य तेषां वियोगेऽपि सत्युच्छिष्टेष्विव ममत्वं न भवति, तत्र ममत्वाभावादविनश्वरनिजपरमात्मानमेव भेदाभेदरत्नत्रयभावनया भावयति, यादृशम-विनश्वरमात्मानं भावयति, तादृशमेवाक्षयानन्तसुखस्वभावं मुक्तात्मानं प्राप्नोति। इत्यध्रुवानुप्रेक्षा मता।

१. बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ ६-७, १०; २. बारसाणुवेक्खा, गाथा ७

अर्थात् धन स्त्री आदि सब अनित्य हैं, इस प्रकार चिन्तवन करना चाहिए। उस भावना सहित पुरुष का उन स्त्री आदि से वियोग होने पर भी जूठे भोजन के समान ममत्व नहीं होता, उनमें ममत्व का अभाव होने से वह, अविनाशी निज परमात्मा को ही भेद-अभेद रत्नत्रय की भावना द्वारा भाता है। इस प्रकार वह **जैसी अविनश्वर आत्मा को भाता है; वैसी ही अक्षय, अनन्त सुखस्वभाववाली मुक्त आत्मा को वह प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अध्रुव (अनित्य) भावना है।**[१]

जीवणिबद्धं देहं खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्ध।
भोगोपभोगकारणदव्वं णिच्चं कहं होदि॥

अर्थात् जब क्षीर-नीरवत् जीव के साथ निबद्ध यह शरीर ही शीघ्र नष्ट हो जाता है तो भोगोपभोग के कारण यह दूसरे पदार्थ किस तरह नित्य हो सकते हैं — यह **अनित्यानुप्रेक्षा** है।[२]

इमानि शरीरेन्द्रियविषयोपभोगद्रव्याणि जलबुद्बुद्वदनवस्थितस्वभावानि गर्भादिष्ववस्था -विशेषेषु सदोपलभ्यमानसंयोगविपर्ययाणि, मोहादत्राज्ञो नित्यतां मन्यते। न किंचित् संसारे समुदितं ध्रुवमस्ति आत्मनो ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावादन्यदिति चिन्तनमनुप्रेक्षा।

अर्थात् जो समुदायरूप शरीर, इन्द्रिय के विषय, उपभोग और परिभोग द्रव्य, जल के बुलबुले के समान अनवस्थित स्वभाववाले होते हैं तथा गर्भादि अवस्था-विशेषों में सदा प्राप्त होनेवाले संयोगों से विपरीत स्वभाववाले होते हैं। मोहवश अज्ञ प्राणी इनमें नित्यता का अनुभव करता है, परन्तु वस्तुतः आत्मा के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के सिवाय इस संसार में कोई भी पदार्थ ध्रुव नहीं है; इस प्रकार चिन्तन करना **अनित्यानुप्रेक्षा** है।[३]

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार इन्द्रधनुष और बिजली देखते ही देखते विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार यह यौवनादि कुछ ही काल में नाश को प्राप्त होते हैं; वे कोई भी पदार्थ नित्य और स्थायी नहीं हैं; किन्तु निज शुद्धात्मा ही नित्य और स्थायी है।[४]

जोवन गृह गोधन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी।
इन्द्रिय भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई॥[५]

२. अशरणानुप्रेक्षा — संयोगों की अशरणता एवं निश्चय से निज शुद्धात्मा व व्यवहार से पञ्च परमेष्ठी की शरणरूपता का चिन्तन **अशरणानुप्रेक्षा** है।

शुद्धातम अरु पञ्चगुरु, जग में सरनौ दोय।
मोह उदय जिय के वृथा, आन कल्पना होय॥[६]

जन्म, जरा, मरण, रोग और भय आदि से आत्मा ही अपनी रक्षा करता है; इसलिए वास्तव में जो

१. वृहद् द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा ३५; २. बारसाणुवेक्खा, गाथा ६; ३. सवार्थसिद्धि, ९/७/४१३; ४. छहढाला ५/३ भावार्थ; ५. छहढाला ५/३; ६. बारसाणुवेक्खा, गाथा ११

कर्मों की बन्ध, उदय और सत्ता अवस्था से जुदा है, वह आत्मा ही इस संसार में शरण है अर्थात् संसार में अपनी आत्मा के सिवाय अपना और कोई रक्षा करनेवाला नहीं है। यह स्वयं ही कर्मों को खिपाकर जन्म, जरा, मरणादि के कष्टों से बच सकता है।

हे भव्य! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र शरण हैं। परम श्रद्धा के साथ उन्हीं का सेवन कर। संसार में भ्रमण करते हुए जीवों को उनके सिवाय अन्य कुछ भी शरण नहीं है।[१]

निश्चय रत्नत्रय से परिणत जो शुद्धात्मद्रव्य और उसकी बहिरङ्ग सहकारी कारणभूत पञ्चपरमेष्ठियों की आराधना, यह दोनों शरणभूत हैं; उनसे भिन्न जो देव, इन्द्र, चक्रवर्ती, सुभट, कोटिभट और पुत्रादि चेतन पदार्थ तथा पर्वत, किला, भौंहरा, मणि, मन्त्र-तन्त्र, आज्ञा, महल और औषध आदि अचेतन पदार्थ तथा चेतन -अचेतन मिश्रित पदार्थ; ये कोई भी मरणादि के समय शरणभूत नहीं होते। जैसे महावन में व्याघ्र द्वारा पकड़े हुए हिरण के बच्चे को अथवा समुद्र में जहाज से छूटे पक्षी को कोई शरण नहीं है। अन्य पदार्थों को अपना शरण न जानकर आगामी भोगों की आकाँक्षारूप निदान-बन्ध आदि का अवलम्बन न लेकर तथा स्वानुभव से उत्पन्न सुखरूप अमृत का धारक निज शुद्धात्मा का ही अवलम्बन करके, उस शुद्धात्मा की भावना करता है। **जैसी आत्मा को यह शरणभूत भाता है, वैसे ही सदा शरणभूत, शरण में आये हुए के लिए वज्र के पिंजरे के समान, निज शुद्धात्मा को प्राप्त होता है।**[२]

मरते समय प्राणियों को तीनों लोकों में मणि, मन्त्र, औषध, रक्षक, हाथी, घोड़ा, रथ और जितनी विद्याएँ, ये कोई भी शरण नहीं हैं अर्थात् ये सब उन्हें मरने से नहीं बचा सकते — यह **अशरणानुप्रेक्षा** है।[३]

जिस प्रकार एकान्त में क्षुधित और माँस के लोभी बलवान व्याघ्र के द्वारा दबोचे गये मृगशावक के लिए कुछ भी शरण नहीं होता; उसी प्रकार जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधि आदि दु:खों के मध्य में परिभ्रमण करनेवाले जीव को कुछ भी शरण नहीं है। परिपुष्ट हुआ शरीर भी भोजन करने के लिए सहायक है, परन्तु दु:खों के प्राप्त होने पर वह भी सहायक नहीं है। यत्न से सञ्चित किया हुआ धन भी भवान्तर में साथ नहीं जाता। जिन्होंने सुख और दु:ख को समानरूप से बाँट लिया है — ऐसे मित्र भी मरण के समय रक्षा नहीं कर सकते। सब मिलकर इकट्ठे हुए बन्धुजन भी रोग से व्याप्त इस जीव की रक्षा करने में असमर्थ होते हैं। यदि सुचरित धर्म हो तो वह ही दु:खरूपी महासमुद्र में तरने का उपाय हो सकता है। मृत्यु के द्वारा ले जानेवाले इस जीव को सहस्रनयन इन्द्र आदि भी शरण नहीं हैं, इसलिए संसाररूपी विपत्ति स्थान में धर्म ही शरण है, वही मित्र है और वही कभी भी न छूटनेवाला अर्थ है, अन्य कुछ भी शरण नहीं है; इस प्रकार की भावना करना, **अशरणानुप्रेक्षा** है।[४]

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि अशरणानुप्रेक्षा में पञ्च परमेष्ठी, धर्म इत्यादि को शरण कहा गया है तो क्या मृत्युकाल आने पर अथवा रोगादि होने पर वे उसे बचाते होंगे?

---

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ३०; २. वृहद्द्रव्यसंग्रह टीका ३५; ३. बारसाणुवेक्खा, गाथा ८
४. सर्वार्थसिद्धि ९/७;

समाधान यह है कि भाई! पञ्चपरमेष्ठी अथवा धर्म की शरण का आशय यह नहीं है कि वे मृत्युकाल अथवा रोगादि का अभाव कर देते हैं और न इस उद्देश्य से उनकी शरण अङ्गीकार की जाती है। बात इतनी-सी है कि मृत्यु काल अथवा रोगादि की दशा में होनेवाले आकुलता-व्याकुलतारूप आर्तपरिणाम पञ्चपरमेष्ठी अथवा निज शुद्धात्मा के आश्रयरूप धर्म की शरण से नहीं होते, यही उनकी शरण का प्रयोजन भी है। मरण अथवा रोगादिरूप अवस्था तो जब जैसी होनी है, होकर ही रहती है; उसे टालने में तो इन्द्र, अहमिन्द्र और जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं है।

यद्यपि अनित्य एवं अशरण अनुप्रेक्षा में संयोगों की अनित्यता एवं अशरणता के चिन्तवनपूर्वक निज भगवान आत्मा की ध्रुवता एवं शरणरूपता का चिन्तवन होता है, उस स्वभाव का आश्रय होता है, तथापि दोनों में मूलभूत अन्तर भी है, जो इस प्रकार है —

अनित्य भावना में संयोगों और पर्यायों के अनित्य स्वभाव का चिन्तन होता है और अशरण भावना में उनके ही अशरण स्वभाव का चिन्तन किया जाता है। अनित्यता के समान अशरणता भी वस्तु का स्वभाव है। जिस प्रकार अनित्य स्वभाव के कारण प्रत्येक वस्तु परिणमनशील है, नित्य परिणमन करती है; उसी प्रकार अशरण स्वभाव के कारण किसी वस्तु को अपने परिणमन के लिए पर की शरण में जाने की आवश्यकता नहीं है। पर की शरण की आवश्यकता परतन्त्रता की सूचक है, जबकि प्रत्येक वस्तु पूर्णत: स्वतन्त्र है।

अनित्य भावना का केन्द्रबिन्दु है — **मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार** और अशरण भावना कहती है — **मरतैं न बचावे कोई** — यही इन दोनों का मूलभूत अन्तर है।[१]

३. संसारानुप्रेक्षा — चतुर्गतिरूप परिभ्रमण एवं पञ्चपरावर्तनरूप संसार के दु:खों के चिन्तनपूर्वक संसार की असारता एवं निजस्वभाव का साररूप चिन्तन करना **संसारानुप्रेक्षा** है।

चहुँगति दु:ख जीव भरे हैं, परिवर्तन पञ्च करै हैं।
सब विधि संसार असारा, यामें सुख नाहिं लगारा॥[२]

आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं —

कम्मणिमित्तं जोवो हिंडदि संसारघोरकांतारे।
जीवस्स ण संसारी णिच्चयणयकम्मणिम्मुक्को॥

अर्थात् यद्यपि यह जीव कर्म के निमित्त से संसाररूपी बड़े भारी वन में भटकता रहता है, परन्तु निश्चयनय से यह जीव कर्म से रहित है और इसीलिए इसका भ्रमणरूप संसार से कोई सम्बन्ध नहीं है।[३]

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पाँच प्रकार के संसार का चिन्तवन करते हुए इस जीव का, संसाररहित निज शुद्धात्मज्ञान का नाश करनेवाले तथा संसार की वृद्धि के कारणभूत मिथ्यात्व, अविरति,

१. बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ २१ व ३१; २. छहढाला ५/५; १. बारसाणुवेक्खा, गाथा ३७

प्रमाद, कषाय और योग में परिणाम नहीं जाता, किन्तु वह संसारातीत सुख के अनुभव में लीन होकर निज शुद्धात्मज्ञान के बल से संसार को नष्ट करनेवाले निज निरञ्जन परमात्मा में भावना करता है। **तदनन्तर जिस प्रकार के परमात्मा को भाता है उसी प्रकार के परमात्मा को प्राप्त होकर संसार से विलक्षण मोक्ष में अनन्तकाल तक रहता है।** इस प्रकार **संसारानुप्रेक्षा** पूर्ण हुई।[१]

पंचविहे संसारे जाइजरामरणरोगभयपउरे।
जिणमग्गमपेच्छंतो जीवो परिभमदि चिरकालं॥

अर्थात् यह जीव जिनमार्ग की ओर ध्यान नहीं देता हुआ जन्म, बुढ़ापा, मरण, रोग और भय से भरे हुए पाँच प्रकार के संसार में अनादिकाल से भटक रहा है।[२]

कर्म-विपाक के वश से आत्मा को भवान्तर की प्राप्ति होना, संसार है। उसका पाँच प्रकार के परिवर्तनरूप से व्याख्यान होता है। उसमें अनेक योनियों और लाखों-करोडों कुलों से व्याप्त उस संसार में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव कर्मयन्त्र से प्रेरित होकर पिता होकर भाई, पुत्र और पौत्र होता है; माता होकर भगिनी, भार्या और पुत्री होता है; स्वामी होकर दास होता है तथा दास होकर स्वामी भी होता है। जिस प्रकार रङ्गस्थल में नट नानारूप धारण करता है, उसी प्रकार यह होता है अथवा बहुत कहने से क्या प्रयोजन, स्वयं अपना पुत्र होता है। इत्यादि रूप से संसार के स्वभाव का चिन्तन करना **संसारानुप्रेक्षा** है।[३]

आत्मा की चार अवस्थाएँ होती हैं - संसार, असंसार, नोसंसार और इन तीनों से विलक्षण। अनेक योनिवाली चार गतियों में भ्रमण करना, **संसार** है। शिवपद के परमामृत सुख में प्रतिष्ठित होना, असंसार (मोक्ष) है। चतुर्गति में भ्रमण न होने से और मोक्ष की प्राप्ति न होने से सयोगकेवली की जीवन-मुक्ति अवस्था होना, **ईषत् संसार या नोसंसार** है। अयोगकेवली की अवस्था होना, **इन तीनों से विलक्षण** है। अभव्य तथा भव्य सामान्य की दृष्टि से संसार अनादि-अनन्त है। भव्य विशेष की अपेक्षा अनादि-सान्त है। नोसंसार आदि-सान्त है। असंसार सादि-अनन्त है। तीनों से विलक्षण का काल अन्तर्मुहूर्त है। नोसंसार का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल कुछ कम एक लाख करोड़ पूर्व है। सादि-सान्त संसार का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल अर्द्धपुद्गलपरावर्तन काल है।[४]

बहुत पुण्य के उदय से यह मानव की उत्तम देह मिली, परन्तु फिर भी भवचक्र में किञ्चित् भी हानि नहीं कर सका। अरे! अब शीघ्र अपनी आत्मा को पहिचानकर, सर्व आत्माओं को समदृष्टि से देख और इस वचन को हृदय में रख।[५]

संसार अनुप्रेक्षा के अन्तर्गत पञ्च परावर्तन का स्वरूप भी विचारणीय है परन्तु मात्र उनका स्वरूप विचारना ही पर्याप्त नहीं है, उससे हमें क्या बोध लेना चाहिए - यह अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस सन्दर्भ में निम्न आगम उल्लेख पर्याप्त हैं —

१. वृहद्द्रव्यसंग्रह टीका ३५/१०५; २. बारसाणुवेक्खा, गाथा २४; ३. सर्वार्थसिद्धि, ९/७/४१५
४. राजवार्तिक ९/७, ३; ५. श्रीमद् राजचन्द्र, अमूल्य तत्त्व विचार

यह संसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप है, दु:खों से परिपूर्ण है और अशुभ है — ऐसे संसार में प्राणी अपने कर्मों के उदय से सदा परिभ्रमण किया करते हैं —

द्रव्य-संसार - इन तीनों लोकों में ऐसे कोई पुद्गल नहीं हैं, जो इस जीव ने कर्म, नोकर्म और पर्याप्तियों के द्वारा अनन्त बार ग्रहण न किये हों और अनन्त बार ही न छोड़े हों। **क्षेत्र-संसार** - ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है, जहाँ पर संसार में परिभ्रमण करते हुए यह जीव उत्पन्न न हुआ हो अथवा मृत्यु को प्राप्त न हुआ हो। **काल-संसार** - इसी प्रकार इस उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का कोई ऐसा समय नहीं है, जिसमें यह प्राणी अपने-अपने कर्मों के उदय से न जन्मा हो और न मरा हो। **भव -संसार** - इस संसार में चारों गतियों की योनियों में से ग्रैवेयक विमान के अन्त तक ऐसी कोई योनि नहीं है, जो इस जीव ने न ग्रहण की हो और मरकर न छोड़ी हो। **भाव-संसार** - विषयों में अन्धे हुए जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगों के द्वारा आत्मा में निरन्तर पुद्गलात्मक कर्मों का बन्ध करता रहता है।[१]

श्री ब्रह्मदेवसूरि ने इन पाँच परावर्तनरूप संसार का वर्णन अध्यात्मरस गर्भित शैली में निम्न प्रकार किया है —

इस जीव ने पूर्व में मिले हुए, पूर्व में नहीं मिले हुए और मिश्र — ऐसे शुद्धात्मद्रव्य से भिन्न पुद्गलद्रव्यों को ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मरूप से तथा शरीर के पोषण के लिए भोजन, पान आदि पाँच इन्द्रिय के विषयरूप नोकर्मरूप से अनन्त बार ग्रहण कर छोड़ा है; यह **द्रव्य-संसार** है।

सहज शुद्ध लोकाकाश प्रमाण स्व-शुद्धात्मद्रव्य सम्बन्धी असंख्य प्रदेशों से भिन्न जो लोकाकाश के प्रदेश हैं, उनमें एक-एक प्रदेश में व्याप्त होकर इस जीव ने अनन्त बार जन्म या मरण न किया हो — ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है; यह **क्षेत्र-संसार** है।

स्व-शुद्धात्मा के अनुभवरूप निर्विकल्प समाधि का काल छोड़कर, दश कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण उत्सर्पिणी काल और दश कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण अवसर्पिणी काल के एक-एक समय में अनेक परावर्तन करके, इस जीव ने अनन्त बार जन्म या मरण न किया हो — ऐसा कोई भी समय नहीं है; यह **काल-संसार** है।

भवनाशक निजशुद्धात्मभावना से रहित होकर और भव-उत्पादक मिथ्यात्व-रागादिभावना से सहित होकर इस जीव ने अनन्त बार जन्म और मरण किया है; यह **भव-संसार** है।

समस्त प्रकृतिबन्ध आदि के सम्पूर्ण नाश के कारणरूप विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभाव निजपरमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भाव ही इस जीव ने प्राप्त नहीं किया है; यह **भाव-संसार** है।[२]

१. मूलाचार प्रदीप, ३०३८-३०४३; २. वृहद्द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा ३५

इन पञ्च परावर्तन का स्वरूप जानकर इनके अभाव के लिए पञ्चम परम पारिणामिकभाव का आश्रय ही कार्यकारी है।

४. एकत्वानुप्रेक्षा — जन्म, जरा, मरण की आवृत्तिरूप महादु:ख का अनुभव करने के लिए अकेला ही मैं हूँ; न कोई मेरा स्व है और न कोई पर है; अकेला ही मैं जन्मता हूँ, अकेला ही मरता हूँ; मेरा कोई स्वजन या परजन, व्याधि, जरा और मरण आदि के दु:खों को दूर नहीं करता; बन्धु और मित्र श्मशान से आगे नहीं जाते। बस! धर्म ही मेरा कभी साथ न छोड़नेवाला नित्य सहायक है। इस प्रकार चिन्तवन करना **एकत्वानुप्रेक्षा** है।[१]

एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो।
सुद्धेयत्तमुवादेयमेवं चिंतेइ सव्वदा॥

अर्थात् मैं एक हूँ, ममतारहित हूँ, शुद्ध हूँ और ज्ञान-दर्शन-स्वरूप हूँ, इसलिए शुद्ध एकपना ही उपादेय है — ऐसा निरन्तर चिन्तवन करना चाहिए।[२]

एकत्वनिश्चय को प्राप्त जो समय है, वह लोक में सब जगह सुन्दर है; इसलिए एकत्व में दूसरे के साथ बन्ध की कथा विसंवाद-विरोध करनेवाली है।[३]

निश्चय से केवलज्ञान ही एक सहज या स्वाभाविक शरीर है, सप्तधातुमयी यह औदारिक शरीर नहीं। निजात्म तत्त्व ही एक सदा शाश्वत व परम हितकारी है, पुत्र कलत्रादि नहीं। स्वशुद्धात्म पदार्थ ही एक अविनश्वर व परम हितकारी परम धन है, सुवर्णादिरूप धन नहीं। स्वभावात्मक सुख ही एक सुख है, आकुलता उत्पादक इन्द्रिय सुख नहीं। स्वशुद्धात्मा ही एक सहायी है। इस प्रकार एकत्व भावना का फल जानकर निरन्तर शुद्धात्मा में एकत्व भावना करनी चाहिए। इस प्रकार एकत्व भावना कही गयी।[४]

यह आत्मा अकेला ही शुभाशुभ कर्म बाँधता है, अकेला ही दीर्घ संसार में भ्रमण करता है, अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही अपने कर्मों का फल भोगता है अर्थात् अन्य कोई इसका साथी नहीं है।[५]

इसी प्रकार के भाव प्राचीन भजनों में भी अभिव्यक्त हुए हैं —

जीव तू भ्रमत सदैव अकेला, संग साथी नहीं कोई तेरा।
अपना सुख-दुख आपहि भुगते, होत कुटुम्ब न भेला।
स्वार्थ भयैं सब बिछरि जात हैं, विघट जात ज्यों मेला॥[६]

जीवन-मरण, सुख-दु:ख आदि प्रत्येक स्थिति को जीव अकेला ही भोगता है, किसी भी स्थिति

१. सर्वार्थसिद्धि, ९/७; २. बारसाणुवेक्खा, गाथा २०; ३. समयसार, गाथा ३; ४. वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ टीका
५. बारसाणुवेक्खा, गाथा १४; ६. भागचन्दजी कृत भजन

में किसी का साथ सम्भव नहीं है। वस्तु की इसी स्थिति का चिन्तन एकत्व भावना में गहराई से किया जाता है।

एक बात और भी है कि इस दु:खमय संसार में कहने के साथी तो बहुत मिल जायेंगे, पर सगा साथी–वास्तविक साथी कोई नहीं होता क्योंकि वस्तुस्थिति के अनुसार कोई किसी का साथ दे ही नहीं सकता।[१]

५. अन्यत्वानुप्रेक्षा — शरीरादि जो बाह्य द्रव्य हैं, वे भी सब अपने से जुदा हैं और मेरा आत्मा ज्ञानदर्शनस्वरूप है, इस प्रकार अन्यत्व भावना का चिन्तवन करना ही **अन्यत्वानुप्रेक्षा** है।[२]

शरीर से अन्यत्व का चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। यथा बन्ध की अपेक्षा अभेद होने पर भी लक्षण के भेद से 'मैं शरीर से अन्य हूँ', शरीर ऐन्द्रियक है, मैं अतीन्द्रिय हूँ। शरीर अज्ञ है, मैं ज्ञाता हूँ। शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ। शरीर आदि–अन्तवाला है और मैं अनाद्यनन्त हूँ। संसार में परिभ्रमण करते हुए भूतकाल में मैंने लाखों शरीर धारण किये हैं, परन्तु उनसे भिन्न वह ही मैं हूँ। इस प्रकार शरीर से ही जब मैं अन्य हूँ, तब हे वत्स! मैं बाह्य पदार्थों से भिन्न होऊँ तो इसमें क्या आश्चर्य है? इस प्रकार मन का समाधान होने पर शरीरादि में स्पृहा उत्पन्न नहीं होती।[३]

जो जाणिऊण देहं, जीवसरूवादु तच्चदो भिण्णं।
अप्पाणं पि य सेवदि, कज्जकरं, तस्स अण्णत्तं॥

अर्थात् जो जीव अपने स्वरूप से देह को परमार्थ से भिन्न जानकर आत्मस्वरूप को सेता है अर्थात् ध्यान करता है, उसके अन्यत्व भावना कार्यकारिणी है।[४]

जा तन में नित जिय वसै, सो न आपनो होय।
तो प्रतक्ष जो पर दरब, कैसे अपने होय॥

अर्थात् जिस शरीर में जीव नित्य रहता है, जब वह शरीर ही अपना नहीं होता, तब जो परद्रव्य प्रत्यक्ष पर है, वे अपने कैसे हो सकते हैं?[५]

लोकप्रिय दार्शनिक चिन्तक बाबू 'युगलजी' के शब्दों में —

मेरे न हुए ये, मैं इनसे, अति भिन्न अखण्ड निराला हूँ।
निज में पर से अन्यत्व लिये, निज समरस पीनेवाला हूँ॥[६]

माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, आदि बन्धुजनों का समूह अपने कार्य के वश सम्बन्ध रखता है, परन्तु यथार्थ में जीव का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है अर्थात् ये सब जीव से जुदे हैं।[७]

---

१. बारहभावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ ५३; २. बारसाणुवेक्खा, गाथा १३; ३. सर्वार्थसिद्धि, ६/७
४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ८२; ५. दीपचन्दशाह कृत बारह भावना; ६. बाबू युगलजी कृत बारह भावना
७. बारसाणुवेक्खा, गाथा २१;

मेरे पुत्र हैं, मेरा धन है — ऐसा अज्ञानीजन कहते हैं। इस संसार में जब शरीर ही अपना नहीं, तब पुत्र धनादि कैसे अपने हो सकते हैं।[१]

जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपनो कोय।
घर सम्पति पर प्रकट ये, पर हैं परिजन लोय॥[२]

जल-पय ज्यौं जिय तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहिं भेला।
तो प्रकट जुदे धन धामा, क्यों ह्वै इक मिलि सुतरामा॥[३]

एकत्व एवं अन्यत्वानुप्रेक्षा में अन्तर दर्शाते हुए ब्रह्मदेव सूरि कहते हैं —

एकत्वानुप्रेक्षा में तो 'मैं अकेला हूँ' इत्यादि प्रकार से विधिरूप व्याख्यान है और अन्यत्वानुप्रेक्षा में 'देह आदि पदार्थ मुझसे भिन्न हैं, ये मेरे नहीं हैं' इत्यादि निषेधरूप से वर्णन है। इस प्रकार एकत्व और अन्यत्व इन दोनों अनुप्रेक्षाओं में विधि-निषेध का ही अन्तर है, तात्पर्य दोनों का एक ही है।[४]

६. अशुचि-अनुप्रेक्षा — वैराग्यभाव के उद्देश्य से देह के अपावनस्वरूप के चिन्तनपूर्वक, निज स्वभाव की पवित्रता का चिन्तन करना ही **अशुचि-अनुप्रेक्षा** है।

वास्तव में आत्मा देह से जुदा है, कर्मों से रहित है, अनन्त सुखों का घर है, इसलिए शुद्ध है, इस प्रकार निरन्तर भावना करते रहना चाहिए।[५]

अपवित्र होने से, सात धातुमय होने से, नाकादि नौ छिद्र द्वार होने से, स्वरूप से भी अशुचि होने के कारण तथा मूत्र, विष्टा आदि अशुचि-मलों की उत्पत्ति का स्थान होने से ही यह देह अशुचि नहीं है; किन्तु यह शरीर स्वरूप से भी अशुचि है और अशुचि मल आदि का उत्पादक होने से अशुचि है... निश्चय से अपने आप पवित्र होने से यह परम आत्मा ही शुचि या पवित्र है।.... 'ब्रह्मचारी सदा शुचि' इस वचन से आत्मा ही में चर्या करनेवाले ब्रह्मचारी मुनि के ही पवित्रता है। जो काम-क्रोधादि में लीन जीव हैं, उनके जलस्नान आदि करने पर भी पवित्रता नहीं है।... आत्मारूपी शुद्ध नदी में स्नान करना ही परम पवित्रता का कारण है, लौकिक गंगादि तीर्थ में स्नान करना नहीं।... इस प्रकार अशुचित्व-अनुप्रेक्षा का कथन हुआ।[६]

निर्मल अपनी आतमा, देह अपावन गेह।
जानि भव्य निज भाव को, या सो तजो सनेह॥[७]

जल में सेवाल काई है सो मल या मैल है, उस सेवाल की भाँति आस्रव मलरूप या मैलरूप अनुभव में आते हैं इसलिए वे अशुचि हैं-अपवित्र हैं और भगवान आत्मा तो सदा ही अतिनिर्मल चैतन्यमात्रस्वभावरूप से ज्ञायक है, इसलिए अत्यन्त शुचि ही है-पवित्र ही है-उज्ज्वल ही है।[८]

---

१. धम्मपद ५/३; २. भूधरदासजी कृत बारह भावना, छन्द ५; ३. छहढाला ५/६; ४. वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५, टीका
५. बारसाणुवेक्खा, गाथा ४६; ६. वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ टीका; ७. जयचन्दजी छाबड़ा कृत बारहभावना
८. समयसार, गाथा ७२ टीका;

यह देह दुर्गन्धमय है, डरावनी है, मलमूत्र से भरी हुई है, जड़ है, मूर्तिक है और क्षीण होनेवाली है तथा विनाशीक स्वभाववाली है; इस तरह निरन्तर इसका विचार करते रहना चाहिए।[१]

अर्थ और काम पुरुषार्थ तथा सर्व मनुष्यों का देह अशुभ है, अशुचि है। एक धर्म ही शुभ है और सर्व सौख्यों का दाता है। अर्थ पुरुषार्थ से इसलोक और परलोक के दु:ख मनुष्य को भोगने पड़ते हैं। अर्थ पुरुषार्थ के वश होकर पुरुष अन्याय करता है, चोरी करता है और राजा से दण्डित होता है और परलोक नरक आदि में नाना दु:खों का अनुभव करता है, इसलिए अर्थ माने धन अनर्थ का कारण है, महाभय का कारण है, मोक्ष-प्राप्ति के लिए यह अर्गला के समान प्रतिबन्ध करता है। काम पुरुषार्थ अपवित्र शरीर से उत्पन्न होता है, इससे आत्मा नीच होती है, इसकी सेवा से आत्मा दुर्गति में दु:ख पाता है, यह पुरुषार्थ अल्पकाल में ही उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है और प्राप्त होने में कठिन है।[२]

पल रूधिर राध मल थैली, कीकस वसादि तैं मैली।
नव द्वार बहैं घिनकारी, अस देह करै किम यारी॥[३]

जिसके शृङ्गारों में मेरा, यह महँगा जीवन घुल जाता।
अत्यन्त अशुचि जड़ काया से, इस चेतन का कैसा नाता॥[४]

७. आस्रवानुप्रेक्षा — आस्रवभाव अशुचि हैं, विपरीत हैं, अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दु:ख के कारण हैं, दु:खरूप हैं और दु:खरूप ही फलवाले हैं — ऐसा विचार करके शुभाशुभ आस्रवभावों से भिन्न भगवान आत्मा अत्यन्त शुचि है, अविपरीत स्वभाववाला है, ध्रुव है, नित्य है, परमशरणभूत है, सुख का कारण है, सुख स्वरूप है और सुखरूप ही फलवाला है — ऐसा चिन्तवन करना ही यथार्थ **आस्रवानुप्रेक्षा** है।

जो पाउ वि सो पाउ सुणि सव्व इ को वि मुणेइ।
जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवेइ॥

अर्थात् पाप को पाप तो सारा जगत जानता है; ज्ञानी तो वह है, जो पुण्य को भी पाप जाने। तात्पर्य यह है कि जो पापास्रव के समान पुण्यास्रव को भी हेय मानता है, वही ज्ञानी है।[५]

पुव्वत्तासवभेयो णिच्छयणयएण णत्थि जीवस्स।
उदयासवणिम्मूक्कं अप्पाणं चिंतए णिच्चं॥

अर्थात् पूर्वोक्त आस्रव मिथ्यात्व आदि भेद निश्चयनय से जीव के नहीं होते हैं, इसलिए निरन्तर ही आत्मा को द्रव्य और भावरूप दोनों प्रकार के आस्रवों से रहित चिन्तवन करना चाहिए।[६]

आतम केवल ज्ञानमय, निश्चय दृष्टि निहार।
सब विभाव परिणाम मय, आस्रव भाव विडार॥[७]

१. बारस अणुवेक्खा, ४४; २. भगवती आराधना, १८१३-१८१५; ३. छहढाला ५/८; ४. बाबू युगलजी कृत बारह भावना; ५. योगसार दोहा ७१; ६. बारसाणुवेक्खा, गाथा ६०; ७. जयचन्दजी छाबड़ा कृत बारह भावना;

कर्मों का आस्रव करनेवाली क्रिया से परम्परा से भी निर्वाण नहीं हो सकता है, इसलिए संसार में भटकानेवाले आस्रव को बुरा समझना चाहिए।[१]

आस्रवभाव इस लोक और परलोक में दु:खदायी हैं। महानदी के प्रवाह के वेग के समान तीक्ष्ण हैं तथा इन्द्रिय, कषाय और अव्रतरूप हैं। कषाय आदि भी इस लोक में, वध, बन्ध, अपयश और क्लेशादिक दु:खों को उत्पन्न करते हैं तथा परलोक में नाना प्रकार के दु:खों से प्रज्ज्वलित नाना गतियों में परिभ्रमण कराते हैं। इस प्रकार आस्रव के दोषों को चिन्तवन करना **आस्रवानुप्रेक्षा** है।[२]

आस्रवभाव और आस्रवभावना में मूलभूत अन्तर यह है कि आस्रवभाव तो दु:ख स्वरूप है, जबकि आस्रवभावना आस्रवभाव के विपरीत संवर स्वरूप है, संवर की कारण है, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में बारह भावनाओं को संवर की कारण कहा है, अत: आस्रवभावना भी संवर की कारण सिद्ध हुई। वास्तव में आस्रवभावना के अन्तर्गत आस्रव के स्वरूप का अच्छी तरह चिन्तन करके आस्रवभाव के त्याग की भावना भायी जाती है, न कि आस्रवभाव करने की; इसलिए आस्रवभाव और आस्रवभावना में परस्पर विपरीतता होने से छत्तीस का आँकड़ा है।

८. संवरानुप्रेक्षा — आस्रव का विरोध करना संवर है। यह संवर सुखस्वरूप है, सुख का कारण है, मोह-राग-द्वेष से विपरीत, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रमय है, रत्नत्रय स्वरूप है, मोक्ष का कारण है। निश्चय गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र सभी संवर के कारण हैं। इस संवर से नवीन कर्म आने से रुकते हैं। जबकि व्यवहार गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से मात्र पाप का संवर होने से पुण्यबन्ध भी होता है। अत: निश्चय से व्यवहार गुप्ति आदि से पुण्यबन्ध ही होता है। मात्र पाप का संवर होने से उन्हें व्यवहार से संवर कहा जा सकता है — इस प्रकार विचार करना **संवर भावना** है।[३]

जीवस्स ण संवरणं परमट्ठणएण सुद्धभावादो।
संवरभावविमुक्कं अप्पाणं चिंतये णिच्चं॥[४]

शुद्धनिश्चयनय से जीव के संवर ही नहीं है; इसलिए संवर के विकल्प से रहित आत्मा का निरन्तर चिन्तवन करना चाहिए।

जैसे समुद्र के जहाज में होनेवाले छेदों के बन्द हो जाने पर जल के न घुसने से निर्विघ्नतया समय पर किनारे को प्राप्त हो जाता है; उसी प्रकार जीवरूपी जहाज अपने शुद्ध आत्मज्ञान के बल से इन्द्रिय आदि आस्रव-छिद्रों के मुँह बन्द हो जाने पर कर्मरूपी जल के न घुसने से केवलज्ञानादि अनन्त गुणरत्नों से पूर्ण मुक्तिरूपी संसार के किनारे को निर्विघ्न प्राप्त हो जाता है — ऐसे संवर के गुणों के चिन्तवनरूप **संवरानुप्रेक्षा** जानना चाहिए।[५]

१. बारसाणुवेक्खा, गाथा ५९; २. सर्वार्थसिद्धि, ६/७/४१६; ३. छहढाला ५/१०; ४. बारसाणुवेक्खा, ६५
५. वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ टीका

संपद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलंभात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात् तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम्॥

अर्थात् यह साक्षात् संवर वास्तव में शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि से होता है और वह शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि भेदविज्ञान से ही होती है, इसलिए वह भेदविज्ञान अत्यन्त भाने योग्य है।[१]

निज स्वरूप में लीनता, निश्चय संवर जानि।
समिति गुप्ति संजम धरम, धरैं पाप की हानि॥[२]

जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिन ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके॥[३]

मन, वचन, काय की शुभ प्रवृत्तियों से अशुभोपयोग का संवर होता है और केवल आत्मा के ध्यानरूप शुद्धोपयोग से शुभयोग का संवर होता है तथा शुद्धोपयोग से जीव के धर्मध्यान और शुक्लध्यान होते हैं; इसलिए संवर का कारण ध्यान है — ऐसा निरन्तर विचारते रहना चाहिए।[४]

जिस प्रकार महार्णव में नाव के छिद्र के नहीं ढँके रहने पर, क्रम से झिरते हुए जल से उसके व्याप्त होने पर, उसके आश्रय से बैठे हुए मनुष्यों का विनाश अवश्यम्भावी है और छिद्र के ढँके रहने पर निरुपद्रवरूप से अभिलषित देशान्तर की प्राप्त होना अवश्यम्भावी है; उसी प्रकार कर्मागमद्वार के ढँके होने पर कल्याण का प्रतिबन्ध नहीं होता। इस प्रकार संवर के गुणों का चिन्तवन करना **संवरानुप्रेक्षा** है।[५]

समिति गुप्ति अनुपेहा धर्म, सहन परीषह संजम पर्म।
ये संवर कारन निर्दोष, संवर करे जीव को मोष॥[६]

९. निर्जरानुप्रेक्षा — निर्जरा के गुण-दोष का चिन्तन करना, **निर्जरानुप्रेक्षा** है।[७]

संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं॥[८]

अर्थात् शुभाशुभभाव के निरोधरूप संवर और शुद्धोपयोगरूप योग से युक्त जो जीव अनेक प्रकार के तप करता है; वह नियम से अनेक प्रकार के कर्मों की निर्जरा करता है।

जो समसोक्खणिलीणो वारं वारं सरेइ अप्पाणं।
इन्दियकसायविजई तस्स हवे णिज्जरा परमा॥

अर्थात् जो साम्यभावरूप सुख में लीन होकर बार-बार आत्मा का स्मरण करता है, ध्यान करता है तथा इन्द्रियों और कषायों को जीतता है; उसके उत्कृष्ट निर्जरा होती है।[९]

१. समयसार, कलश १२९; २. जयचन्दजी की कृत बारह भावना; ३. दौलतरामजी की कृत बारह भावना
४. बारसाणुवेक्खा, गाथा ६३, ६४; ५. सर्वार्थसिद्धि, ९/७/४१७; ६. भूधरदासजी कृत बारह भावना
७. सर्वार्थसिद्धि, ९/७; ८. पञ्चास्तिकायसंग्रह, गाथा १४४; ९. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ११४

निज परमात्मानुभूति के बल से निर्जरा करने के लिए दृष्ट, श्रुत व अनुभूत भोगों की आकांक्षादिरूप विभावपरिणाम के त्यागरूप, संवेग तथा वैराग्यरूप परिणामों के साथ रहना, वह **निर्जरानुप्रेक्षा** है।[१]

निर्जरा दो प्रकार की है — स्वकालपक्व और तप द्वारा होनेवाली। इनमें से पहली तो चारों गतिवाले जीवों के होती है और दूसरी केवल व्रतधारी श्रावक और मुनियों के होती हैं।[२]

अहङ्कार और निदान रहित ज्ञानी के बारह प्रकार के तप से तथा वैराग्यभावना से निर्जरा होती है।[३]

वेदनाविपाक का नाम निर्जरा है। वह दो प्रकार की हैं - अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला। नरकादि गतियों में कर्मफल के विपाक से जायमान जो **अबुद्धिपूर्वा** (सविपाक) निर्जरा होती है, वह अकुशलानुबन्धा है तथा परीषह के जीतने पर जो निर्जरा होती है, वह **कुशलमूला** (अविपाक) निर्जरा है, वह शुभानुबन्धा और निरनुबन्धा होती है। इस प्रकार निर्जरा के गुण दोषों का चिन्तवन करना निर्जरानुप्रेक्षा है।[४]

निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना।
तप करि जो कर्म खिपावै, सोई शिवसुख दरसावै॥[५]

१०. लोकानुप्रेक्षा — छह द्रव्यों के समुदायरूप इस लोक को न तो किसी ने बनाया है, न कोई इसे धारण किए है और न कोई इसका विनाश ही कर सकता है। इस लोक में यह आत्मा अनादिकाल से समताभाव बिना भ्रमण करता हुआ अनन्त दु:ख सह रहा है — ऐसा चिन्तन करना, **लोकानुप्रेक्षा** है।

यह जीव अशुभ भाव से नरक तथा तिर्यञ्च गति पाता है, शुभ उपयोग से देव तथा मनुष्य गति प्राप्त करता है और शुद्धभाव से मोक्ष प्राप्त करता है इस प्रकार लोक भावना का चिन्तन करना चाहिए।[६]

यद्यप्यनेकप्रकारो लोकस्तथापीह लोकशब्देन जीवद्रव्यं लोक एवोच्यते। कथं? सूत्रेण जीवधर्मप्रवृत्तिक्रमनिरूपणात्।

अर्थात् यद्यपि लोक अनेक प्रकार का है अर्थात् लोक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं; तथापि यहाँ लोक शब्द से जीवद्रव्य को ही लोक कहा जा रहा है; क्योंकि यहाँ जीव की धर्म प्रवृत्ति का प्रकरण चल रहा है।[७]

जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब झलकते हैं; उसी प्रकार आदि, मध्य और अन्त रहित, शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाववाले परमात्मा के सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान में शुद्धात्मा आदि सभी पदार्थ आलोकित होते हैं, दिखाई देते हैं, ज्ञात होते हैं — इस कारण वह आत्मा ही निश्चयलोक है अथवा उस निश्चयलोकरूप निजशुद्धात्मा में अवलोकन ही निश्चयलोक है तथा समस्त शुभाशुभ सङ्कल्प-विकल्पों के त्यागपूर्वक निजशुद्धात्म भावना से उत्पन्न परमसुखामृतरस के स्वाद के अनुभवरूप, आनन्दरूप जो भावना है; वही निश्चय से लोकभावना है, शेष सब व्यवहार है।[८]

१. वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ३५ टीका; २. बारसाणुवेक्खा, गाथा ६७; ३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा १०२
४. सर्वार्थसिद्धि, ९/७; ५. छहढाला ५/११; ६. बारसाणुवेक्खा, गाथा ४२;
७.भगवती आराधना, गाथा १७९२; ८. वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ टीका

इस लोक में जीव अपने कर्मों से उपार्जन किये सुख-दु:ख को भोगते हैं और इस भयङ्कर भवसागर में जन्म-मरण को बारम्बार अनुभव करते हैं। इस संसार में जो माता है, वह पुत्री हो जाती है, पुत्री माता हो जाती है। पुरुष स्त्री हो जाता है और स्त्री पुरुष और नपुंसक हो जाती है। तेज और प्रताप में अधिक बल-वीर्य से परिपूर्ण राजा भी कर्मवश अशुचि (मैले) स्थान में लट होता है; इसलिए ऐसे संसार में रहने को धिक्कार हो, लोक के स्वभाव को धिक्कार हो, जहाँ देवता और महान ऋद्धिवाले इन्द्र भी अनुपम सुख को भोगकर, पश्चात् दु:ख भोगनेवाले होते हैं। इस प्रकार संक्षेप में लोक को निस्सार (तुच्छ) जानकर तथा पञ्चपरावर्तनरूप संसार को अनन्त जानकर अनन्तसुख के स्थान मोक्ष का यत्नपूर्वक ध्यान करना चाहिए।[१]

एक देश से दूसरे देश को जानेवाले पुरुष के समान इस जीव को सारे जगत में बन्धुलाभ होता है, किसी जीव के साथ इसका पिता-पुत्र आदिरूप सम्बन्ध नहीं हुआ, ऐसा कोई नहीं है, अत: सर्व जीव इसके सम्बन्धी हैं। यह जगत् बिजली के समान चञ्चल है, समुद्र के फेन के समान दुर्बल है, व्याधि और मृत्यु से पीड़ित है। ज्ञानी पुरुष इसे दु:खों से भरा हुआ देखकर, इसमें कैसे प्रीति कर सकते हैं अर्थात् ज्ञानी इस लोक से प्रेम नहीं करते, इसके ऊपर माध्यस्थभाव रखते हैं।[२]

अनन्त अलोकाकाश के बहुमध्य देश में स्थित लोक के आकारादिक का वर्णन करके, उसके स्वभाव का अनुचिन्तन करना, **लोकानुप्रेक्षा** है।[३]

११. बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा — रत्नत्रयरूप बोधि की दुर्लभता एवं अदुर्लभता का विचार करके, उस उपाय के प्रति प्रवर्तित होना **बोधिदुर्लभ भावना** है।

उप्पज्जदि सण्णाणं जेण उवाएण तस्सुवायस्स।
चिंता हवेइ बोही अच्चंतं दुल्लहं होदि॥
कम्मुदयजपज्जाया हेयं खाओवसमियणाणं खु।
सगदव्वमुवादेयं णिच्छयदो होदि सण्णाणं॥[४]

जिस उपाय से सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति हो, उस उपाय की चिन्ता करने को अत्यन्तदुर्लभ बोधिभावना कहते हैं, क्योंकि बोधि अर्थात् सम्यग्ज्ञान का पाना अत्यन्त कठिन है। क्षायोपशमिक ज्ञान कर्मों के उदय से, उत्पन्न होता है, इसलिए हेय है अर्थात् त्यागने योग्य है और सम्यग्ज्ञान (बोधि) स्वद्रव्य अर्थात् निज आत्मा के स्वभाव से उत्पन्न होता है, इसलिए उपादेय है।

बोधि आपका भाव है, निश्चय दुर्लभ नाहिं।
भव में प्रापति कठिन है, यह व्यवहार कहाहिं।[५]

---

१. मूलाचार, गाथा ७१५-७११; २. भगवती आराधना, गाथा १७९८, १८१२; ३. सर्वार्थसिद्धि, ९/७
४. बारसाणुवेक्खा, गाथा ८३-८४; ५. बारहभावना: एक अनुशीलन, पृष्ठ १४७

अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप बोधि तो आत्मा का स्वभावभाव है; अत: निश्चय से दुर्लभ नहीं है। संसार में उसकी प्राप्ति कठिन है — यह तो मात्र व्यवहार से कहा जाता है।

अन्तिम ग्रीवक लौ की हद, पायो अनन्त बिरियाँ पद।
पर सम्यग्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ निज में मुनि साधौ॥[१]

एक निगोद शरीर में सिद्धों से अनन्तगुणे जीव हैं। इस प्रकार स्थावर जीवों से यह सम्पूर्ण लोक भरा हुआ है। जिस प्रकार बालू के समुद्र में गिरी हुई वज्रसिकता की कणिका का मिलना दुर्लभ है; उसी प्रकार स्थावर जीवों से भरे हुए इस भवसागर में त्रसपर्याय का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है।

त्रसपर्याय में विकलत्रयों (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रियों) की बहुलता है। जिस प्रकार गुणों के समूह में कृतज्ञता का मिलना अतिदुर्लभ है; उसी प्रकार त्रसपर्याय में पञ्चेन्द्रिय पर्याय का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। पञ्चेन्द्रिय पर्याय में भी पशु, मृग, पक्षी और सर्पादि तिर्यञ्चों की ही बहुलता है। अत: जिस प्रकार चौराहे पर पड़ी हुई रत्नराशि का प्राप्त होना कठिन है; उसी प्रकार मनुष्यपर्याय का प्राप्त होना अति कठिन है।

यदि एक बार मनुष्यपर्याय मिल भी गई तो फिर उसका दुबारा मिलना तो इतना कठिन है कि जितना जले हुए वृक्ष के परमाणुओं का पुन: उस वृक्ष पर्यायरूप होना कठिन होता है। कदाचित् इसकी प्राप्ति पुन: हो भी जावे तो भी उत्तम देश, उत्तम कुल, स्वस्थ इन्द्रियाँ और स्वस्थ शरीर की प्राप्ति उत्तरोत्तर अत्यन्त दुर्लभ समझना चाहिए। इन सबके मिल जाने पर भी यदि सच्चे धर्म की प्राप्ति न हुई तो जिस प्रकार दृष्टि के बिना मुख व्यर्थ है; उसी प्रकार सद्धर्म बिना मनुष्य जन्म का प्राप्त होना व्यर्थ है।

इस प्रकार अति कठिनता से प्राप्त धर्म को पाकर भी विषयसुख में रंजायमान होना भस्म के लिए चन्दन जला देने के समान निष्फल है। कदाचित् विषयसुख से विरक्त हुआ तो भी तप की भावना, धर्म की प्रभावना और सहज समाधि का, सुख से मरणरूप समाधि का प्राप्त होना अतिदुर्लभ है। इसके होने पर ही बोधिलाभ सफल है — ऐसा विचार करना ही **बोधिदुर्लभ भावना** है।[२]

यदि काकतालीयन्याय से इन मनुष्यगति, आर्यत्व, तत्त्वश्रवणादि सबकी प्राप्ति हो जाए तो भी इनके द्वारा प्राप्त करनेरूप जो ज्ञान है, उसके फलभूत जो शुद्धात्मा के ज्ञानस्वरूप निर्मल धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानरूप परम-समाधि है, वह दुर्लभ है।.... इसलिए उसकी ही निरन्तर भावना करनी चाहिए। पहले अप्राप्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का प्राप्त होना तो बोधि कहलाता है और उन्हीं सम्यग्दर्शनादिकों को निर्विघ्न अन्य भव में साथ ले जाना, सो **समाधि** है — ऐसा संक्षेप से बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा का कथन समाप्त हुआ।[३]

यहाँ प्रश्न सम्भव है कि बोधिदुर्लभ भावना में रत्नत्रयरूप बोधि को कहीं सुलभ तो कहीं दुर्लभ बताया गया है ? तो इसमें सत्यता क्या है ?

---

१. पण्डित दौलतरामजी कृत बारह भावना; २. सर्वार्थसिद्धि, ९/७; ३. वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ३५ टीका;

समाधान यह है कि भाई ! उक्त दोनों प्रकार के कथन परस्पर विरोधी नहीं, अपितु एक-दूसरे के पूरक ही हैं। लोकभावना और धर्मभावना के बीच में समागत बोधिदुर्लभभावना का मूल अभिप्रेत यह है कि यह आत्मा इस षट्द्रव्यमयी विस्तृत लोक से दृष्टि हटाकर ज्ञानानन्दस्वभावी निजलोक को जानकर-पहिचानकर, उसी में जम जाने, रम जानेरूप रत्नत्रयस्वरूप धर्मदशा को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त कर अनन्त सुखी हो।

अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम उपलब्ध मनुष्यपर्याय की दुर्लभता का भान कराया जाता है और फिर उसकी सार्थकता के लिए रत्नत्रय प्राप्त करने की प्रेरणा देने के लिए रत्नत्रय की दुर्लभता का भान कराया जाता है। तदर्थ भरपूर प्रेरणा भी दी जाती है। साथ ही संयोग अनेक बार उपलब्ध हो गये हैं — यह बताकर उनके प्रति विद्यमान आकर्षण को कम किया जाता है।

किन्तु जब यह जीव बोधिलाभ को अत्यन्त कठिन मानकर अनुत्साहित होकर पुरुषार्थहीन होने लगता है, तो उसके उत्साह को जागृत रखने के लिए उसकी सुलभता का ज्ञान भी कराया जाता है।

अत: बोधि की दुर्लभता और सुलभता — दोनों ही एक ही उद्देश्य की पूरक हैं और काल्पनिक भी नहीं, अपितु सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। बोधिलाभ स्वाधीन होने से सुलभ भी है और अनादिकालीन अनुपलब्धि एवं अनभ्यास के कारण दुर्लभ भी।

तात्पर्य यह है कि बोधिदुर्लभभावना में बोधि की दुर्लभता बताकर उनकी प्राप्ति के लिए सतर्क किया जाता है और सुलभता बताकर उसके प्रति अनुत्साह को निरुत्साहित किया जाता है।

इस प्रकार हम देखते है कि बोधिदुर्लभभावना के चिन्तन में दोनों पक्ष समानरूप से उपयोगी हैं, आवश्यक हैं, एक-दूसरे के पूरक हैं।[१]

१२. धर्मानुप्रेक्षा — निज भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का विचार/चिन्तन करके, बारम्बार धर्म भावना करना **धर्मानुप्रेक्षा** है।

णिच्छयणएण जीवो सागारणगारधम्मदो भिण्णो।
मज्झस्थभावणाए सुद्धप्पं चिंतये णिच्चं॥[२]

अर्थात् जीव निश्चयनय से सागार और अनगार अर्थात् श्रावक और मुनिधर्म से बिलकुल जुदा है, इसलिए राग-द्वेषरहित मध्यस्थ परिणामों से शुद्ध स्वरूप आत्मा का ही सदा ध्यान करना चाहिए।

समदा तह मज्झत्थं सुद्धो भावो य वीयरायत्तं।
तह चारित्तं धम्मो सहाव आराहणा भणिया॥

अर्थात् समता, माध्यस्थभाव, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र और स्वभाव की आराधना — इन सबको धर्म कहा जाता है।[३]

१. बारह भावना: एक अनुशीलन, पृष्ठ १४८-१४९ एवं १५०; २. बारसाणुवेक्खा, गाथा ८२

३. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा ३५७

उत्तम सुख में लीन जिनदेव ने कहा है कि श्रावकों और मुनियों का धर्म सम्यक्त्वसहित होता है तथा क्रम से ग्यारह प्रकार का और दश प्रकार का है। जो जीव श्रावकधर्म को छोड़कर मुनियों के धर्म का आचरण करता है, वह मोक्ष को नहीं छोड़ता है अर्थात् अवश्य ही मोक्ष को प्राप्त करता है; इस प्रकार धर्मभावना का नित्य ही चिन्तन करते रहना चाहिए।[१]

जिनेन्द्रदेव ने जो अहिंसालक्षण धर्म कहा है, सत्य उसका आधार है, विनय उसकी जड़ है, क्षमा उसका बल है, ब्रह्मचर्य से वह रक्षित है, उपशम की उसमें प्रधानता है, नियति उसका लक्षण है, परिग्रहरहितपना उसका आलम्बन है। इसकी प्राप्ति नहीं होने से दुष्कर्म-विपाक से जायमान दु:ख को अनुभव करते हुए जीव अनादि संसार में परिभ्रमण करते हैं, परन्तु इसका लाभ होने पर नाना प्रकार के अभ्युदयों की प्राप्तिपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति होना निश्चित है, ऐसा चिन्तन करना **धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा** है।[२]

याचे सुरतरु देय सुख, चिन्तन चिन्ता रैन।
बिन याचे बिन चिंतबे, धर्म सकल सुख दैन॥[३]

जप तप संयम शील पुनि, त्याग धर्म व्यवहार।
दीप रमण चिद्रूप निज, निश्चय वृष सुखकार॥[४]

अर्थात् हे आत्मन! जप, तप, शील, संयम और त्याग आदि तो व्यवहारधर्म हैं। सच्चा सुख देनेवाला निश्चयधर्म तो चैतन्यस्वरूप निजपरमात्मा में रमणता ही है।

संक्षिप्त में बारह भावनाओं की चिन्तन प्रक्रिया को समझाते हुए डॉ. भारिल्ल लिखते हैं —

अनित्य भावना में यह बताया जाता है कि जिन संयोगों में तू सदा रहना चाहता है; वे क्षणभङ्गुर हैं, अनित्य हैं। पुत्र-परिवार और कंचन-कामिनी तेरे साथ सदा रहनेवाले नहीं; या तो ये तुझे छोड़कर चल देंगे या फिर तू ही जब मरण को प्राप्त होगा, तब ये सब सहज ही छूट जावेंगे।

— इस बात को सुनकर यह रागी प्राणी इनकी सुरक्षा के अनेक उपाय करता है। जब यह अपने मरणादि को टालने के उपायों का विचार करता है, तब **अशरण भावना** में यह बताया जाता है कि वियोग होना संयोगों का सहज स्वभाव है, उन्हें रोकने का कोई उपाय नहीं है। कोई ऐसी दवा नहीं, मणि-मन्त्र-तन्त्र नहीं; जो तुझे या तेरे पुत्रादि को मरने से बचा लें।

तब यह सोच सकता है कि न सही ये संयोग, दूसरे संयोग तो मिलेंगे ही; तब इसे **संसार भावना** के माध्यम से समझाते हैं कि संयोगों में कहीं भी सुख नहीं है, सभी संयोग दु:खरूप ही हैं। तब यह सोच सकता है कि मिल-जुलकर सब भोग लेंगे, उसके उत्तर में **एकत्व भावना** में दृढ़ किया जाता है कि दु:ख मिल-बाँटकर नहीं भोगे जा सकते, अकेले ही भोगने होंगे। इसी बात को नास्ति से **अन्यत्व भावना** में दृढ़

१. बारसाणुवेक्खा, गाथा ६८-८१; २. सर्वार्थसिद्धि, ९/७/४१९; ३. भूधरदासजी कृत बारह भावना
४. पण्डित दीपचन्दजी कृत बारह भावना

किया जाता है कि कोई साथ नहीं दे सकता। जब यह शरीर ही साथ नहीं देता तो स्त्री-पुत्रादि परिवार तो क्या साथ देंगे ?

अशुचि भावना में कहते हैं कि जिस देह से तू राग करता है; वह देह अत्यन्त मलिन है, मल-मूत्र का घर है।

इस प्रकार आरम्भ की छह भावनाओं में संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न किया जाता है; जिससे यह आत्मा आत्महितकारी तत्त्वों को समझने के लिए तैयार होता है। इन भावनाओं में देहादि परपदार्थों से आत्मा की भिन्नता का ज्ञान कराके भेदविज्ञान की प्रथम सीढ़ी भी पार करा दी जाती है।

जब यह आत्मा शरीरादि परपदार्थों से विरक्त होकर गुण-पर्यायरूप निजद्रव्य की सीमा में आ जाता है, तब **आस्रव भावना** में आत्मा में उत्पन्न मिथ्यात्वादि कषायभावों का स्वरूप समझाते हैं। यह बताते हैं कि ये आस्रवभाव दु:खरूप हैं, दु:ख के कारण हैं, मलिन हैं और भगवान आत्मा सुखस्वरूप है, सुख का कारण है एवं अत्यन्त पवित्र है।

इस प्रकार आस्रवों से भी दृष्टि हटाकर **संवर-निर्जरा भावना** में अतीन्द्रिय आनन्दमय संवर-निर्जरा तत्त्वों का परिज्ञान कराते हैं, उन्हें प्राप्त करने की प्रेरणा देते हैं। फिर **लोक भावना** में लोक का स्वरूप बताकर **बोधिदुर्लभ भावना** में यह बताते हैं कि इस लोक में एक रत्नत्रय ही दुर्लभ है और सब संयोग तो अनन्तबार प्राप्त हुए, पर रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं हुई; यदि हुई होती तो संसार से पार हो गये होते। अन्त में **धर्म भावना** में यह बताते हैं कि अत्यन्त दुर्लभ रत्नत्रयरूप धर्म की आराधना ही इस मनुष्यभव का सार है। मनुष्यभव की सार्थकता एकमात्र त्रिकाली ध्रुव आत्मा के आश्रय से उत्पन्न सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयधर्म की प्राप्ति में ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बारह भावनाओं की यह चिन्तनप्रक्रिया अपने आप में अद्भुत है, आश्चर्यकारी है।[१]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अनुप्रेक्षा जिनागम का बहुचर्चित विषय है। इस कार्तिकेयानुप्रेक्षा के समान ही परम पूज्य दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द ने भी बारसाणुवेक्खा नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना इस विषय पर की है। इनके अतिरिक्त मूलाचार, भगवती आराधना, ज्ञानार्णव, मूलाचार प्रदीप, क्षत्रचूड़ामणि, गद्यचिन्तामणि, अनगार धर्मामृत इत्यादि ग्रन्थों में तथा लगभग सभी पुराण ग्रन्थों में इस विषय पर स्वतन्त्र अधिकार प्राप्त होते हैं। प्राचीन एवं वर्तमान कवियों ने भी इन वैराग्य अनुप्रक्षाओं को काव्यमय स्वर प्रदान किये हैं। यदि इन सबका सङ्कलन किया जाए तो सम्भवत: 200-300 प्रकार की अनुप्रेक्षाओं का सङ्कलन हो सकता है।

ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार —

प्रस्तुत ग्रन्थ कार्तिकेयानुप्रेक्षा बारह भावनाओं का वर्णन करनेवाला अत्यधिक प्राचीन ग्रन्थ है,

---

१. बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ ८-१०

इस ग्रन्थ में ४८९ गाथाएँ हैं। इनमें अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म — इन बारह अनुप्रेक्षाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। प्रसङ्गवश जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष — इन सात तत्त्वों का स्वरूप भी वर्णित है। जीव समास तथा मार्गणा के निरूपण के साथ, द्वादशव्रत, पात्रों के भेद, दाता के सात गुण, दान की श्रेष्ठता, माहात्म्य, सल्लेखना, दश धर्म, सम्यक्त्व के आठ अङ्ग, बारह प्रकार के तप एवं ध्यान के भेद-प्रभेदों का निरूपण किया गया है। आचार्य का स्वरूप एवं आत्मशुद्धि की प्रक्रिया इस ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक वर्णित है।

अध्रुवानुप्रेक्षा में ४-२२ गाथाएँ हैं। अशरणानुप्रेक्षा में २३-३१; संसारानुप्रेक्षा में ३२-७३; एकत्वानुप्रेक्षा में ७४-७९; अन्यत्वानुप्रेक्षा में ८०-८२; अशुचित्वानुप्रेक्षा में ८३-८७; आस्रवानुप्रेक्षा में ८८-९४; संवरानुप्रेक्षा में ९५-१०१; निर्जरानुप्रेक्षा में १०२-११४; लोकानुप्रेक्षा में ११५-२८३; बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा में २८४-३०१ एवं धर्मानुप्रेक्षा में ३०२-४३५ गाथाएँ है। ४३६ गाथा से अन्त तक द्वादशतपों का वर्णन आया है।

ग्रन्थ रचनाकार स्वामी कार्तिकेय विशेष प्रतिभा सम्पन्न बाल ब्रह्मचारी मुनि थे। ये अग्नि नामक राजा के पुत्र थे। इनकी बहिन का विवाह रोहेडनगर के राजा कोञ्च के साथ हुआ था और मुनिराज कार्तिकेय ने दारुण उपसर्ग सहन करते हुए स्वर्गलोक को प्राप्त किया था।[१]

इनके जीवन के सन्दर्भ में निश्चितरूप से कुछ ज्ञात नहीं है, पर इतना सत्य है कि ये आत्मसाधक, वैराग्यपरायण एवं तत्त्वदृष्टा सन्त थे। बारह भावनाओं के वर्णन में समागत कारण-कार्य व्यवस्था, द्रव्य-गुण-पर्याय इत्यादि की विशद् चर्चा इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

भाषा वचनिकाकार

इस ग्रन्थ के भाषा वचनिकाकार पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा का विद्वत् परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान है। आपका जन्म जयपुर से तीस मील दूर डिग्गी-मालपुरा रोड पर स्थित फागई (फागी) ग्राम में हुआ था। आपके पिता का नाम मोतीरामजी छाबड़ा था।

ग्यारह वर्ष की अल्पायु में आपकी रुचि तत्त्वज्ञान की तरफ हो गयी थी। कुछ समय बाद आप फागई से जयपुर आ गये, जहाँ आपको महापण्डित टोडरमलजी आदि का सत्समागम प्राप्त हुआ था। आपको आध्यात्मिक ज्ञान जयपुर की तेरापंथ सैली में प्राप्त हुआ था। इसका उन्होंने इस प्रकार उल्लेख किया है—

सैली तेरापंथ सुपंथ, तामें बड़े गुणी गुन-ग्रंथ।
तिनकी संगति में कछु बोध, पायो मैं अध्यातम सोध॥

१. तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग २/१३४

आपके सुपुत्र पण्डित नन्दलालजी भी महान् विद्वान थे। पण्डित जयचन्दजी ने स्वयं उनकी प्रशंसा लिखी है।

आपकी रचनायें प्राय: टीका ग्रन्थ हैं, जिन्हें वचनिका के नाम से कहा जाता है। वैसे आपकी कई मौलिक कृतियाँ भी हैं। आपके कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

१. तत्त्वार्थसूत्र वचनिका अथवा सर्वार्थसिद्धि वचनिका; २. प्रमेय रत्नमाला, भाषा टीका; ३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा वचनिका (प्रस्तुत ग्रन्थ); ४. द्रव्यसंग्रह वचनिका; ५. समयसार वचनिका; ६. देवागम स्तवन / आप्तमीमांसा वचनिका; ७. अष्टपाहुड़ वचनिका; ८. ज्ञानार्णव वचनिका; ९. भक्तामर स्तोत्र वचनिका; १०. पदसंग्रह (मौलिक पद संख्या २४६); ११. चन्द्रप्रभ चरित्र के न्याय विषयक द्वितीय सर्ग 'मत समुच्चय' की भाषा वचनिका; १२. सामायिक पाठ वचनिका; १३. पत्र परीक्षा वचनिका; १४. धन्यकुमार चरित वचनिका और १५. बारह भावना (द्रव्यरूप करि सर्वथिर)

आपकी साहित्यिक कृतियाँ हैं। जो आपकी गहन अध्ययन एवं श्रुत भक्ति का परिचय प्रदान करती हैं।

आपका समय संवत् १७९५ से १८८९ तक माना गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ वैराग्य, अध्यात्म एवं सिद्धान्त की त्रिवेणी संगम का प्रतीकस्वरूप ग्रन्थराज है जिसका अध्ययन हमारे जीवन की दिशा परिवर्तन करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है।

दिनाङ्क
१९ जनवरी २०१५

देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियां (राजस्थान)

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ प्राप्त सहयोग राशि

500/–	श्रीमती कीर्ति मोदी
500/–	श्रीमती शकुन्तला मानमल विनायका
500/–	श्रीमती नीता कैलाशचन्द जैन

गाथानुक्रम

गाथा संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
१	मंगलाचरण	०१
२ से ३	बारह अनुप्रेक्षाओं के नाम	०३
	अध्रुवानुप्रेक्षा	
४ से ७	अध्रुवानुप्रेक्षा का सामान्य स्वरूप	०५
८	बन्धुजनों का संयोग कैसा है ?	०७
९	देह के संयोग की अस्थिरता	०८
१० से ११	लक्ष्मी की अस्थिरता	०८
१२ से १८	प्राप्त हुई लक्ष्मी का क्या करना चाहिए ?	०९
१९ से २०	लक्ष्मी को धर्मकार्य में लगानेवाले की प्रशंसा	१३
२१ से २२	मोह का माहात्म्य	१४
	अशरणानुप्रेक्षा	
२३	संसार में कोई शरण नहीं है	१५
२४ से २६	अशरण होने का दृष्टान्त	१५
२७	शरण माननेवाला अज्ञानी है	१७
२८ से २९	मरण आयुकर्म का क्षय होने से होता है	१७
३० से ३१	निश्चय से शरण कौन है	१८
	संसारानुप्रेक्षा	
३२ से ३३	संसार का सामान्य स्वरूप	२०
३४ से ३९	नरकगति के दुःखों का वर्णन	२१
४० से ४४	तिर्यंचगति के दुःखों का वर्णन	२४
४५ से ५७	मनुष्यगति के दुःखों का वर्णन	२५
५८ से ६१	देवगति के दुःखों का वर्णन	३०
६२	चारों गतियों में कहीं भी सुख नहीं है	३२
६३	यह जीव पर्यायबुद्धि है, जिस योनि में उत्पन्न होता है, वहीं सुख मान लेता है	३२
६४ से ६५	इस प्राणी के एक ही भव में अनेक सम्बन्ध (अठारह नाते) होते हैं एक भव में अठारह नाते होने की कथा	३३

गाथा संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
६६	पाँच प्रकार के संसार के नाम	३६
६७	द्रव्य परिवर्तन	३६
६८	क्षेत्र परिवर्तन	३७
६९	काल परिवर्तन	३८
७०	भव परिवर्तन	३९
७१	भाव परिवर्तन	३९
७२	यह जीव संसार में क्यों भ्रमण करता है ?	४१
७३	संसार से छुटने का उपदेश	४१
७४ से ७९	**एकत्वानुप्रेक्षा**	**४२**
८० से ८२	**अन्यत्वानुप्रेक्षा**	**४६**
	अशुचित्वानुप्रेक्षा	
८३	देह का स्वरूप	४८
८४	देह अन्य सुगन्धित वस्तु को भी संयोग से दुर्गन्धित कर देता है	४८
८५ से ८६	अशुचि देह में अनुराग करना अज्ञान है	४९
८७	देह से विरक्त होनेवाले के अशुचि भावना सफल है	५०
	आस्रवानुप्रेक्षा	
८८	आस्रव का स्वरूप	५१
८९	मोह के उदय सहित आस्रव हैं	५१
९०	पुण्य-पाप के भेद से आस्रव दो प्रकार का है	५२
९१ से ९२	मन्द तीव्र कषाय के दृष्टान्त	५३
९३	किस जीव के आस्रव का चिन्तवन निष्फल है ?	५३
९४	आस्रवानुप्रेक्षा किसके होती है ?	५४
९५ से १०१	**संवरानुप्रेक्षा**	**५५**
	निर्जरानुप्रेक्षा	
१०२	निर्जरा किसके और कैसे होती है ?	५८
१०३	निर्जरा किसे कहते हैं ?	५९

गाथा संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
१०४	निर्जरा के दो भेद	५९
१०५	निर्जरा की वृद्धि किससे होती है ?	६०
१०६ से १०८	निर्जरा की वृद्धि के स्थान	६०
१०९ से ११४	बहुत निर्जरा किसके होती है ?	६१
	लोकानुप्रेक्षा	
११५	लोकाकाश का स्वरूप	७०
११६	लोक में क्या है ?	७१
११७	यदि द्रव्य नित्य हैं तो उत्पत्ति व नाश किसका होता है ?	७१
११८	लोक का विस्तार	७२
११९	दक्षिण उत्तर का विस्तार और ऊँचाई	७३
१२०	ऊँचाई के भेद	७३
१२१	लोक शब्द का अर्थ	७३
१२२	जीवद्रव्य	७४
१२३	वादर सूक्ष्मादि भेद	७५
१२४	वादर सूक्ष्म कौन-कौन हैं ?	७५
१२५	साधारण प्रत्येक के सूक्ष्मपना	७५
१२६	साधारण का स्वरूप	७६
१२७	सूक्ष्म बादर का स्वरूप	७७
१२८	प्रत्येक और त्रस का स्वरूप तथा भेद	७७
१२९ से १३०	पंचेन्द्रिय के भेद	७८
१३१	अठ्याणवे जीवसमास तथा तिर्यंच के पिच्यासी भेद	७९
१३२ से १३३	मनुष्यों के भेद	८०
१३४	पर्याप्ति का वर्णन	८१
१३५	शक्ति का कार्य	८१
१३६	पर्याप्त निर्वृत्यपर्याप्त का काल	८१
१३७	लब्ध्यपर्याप्त का स्वरूप	८३
१३८	एकेन्द्रियादि जीवों के पर्याप्तियों की संख्या	८३
१३९	प्राणों का स्वरूप और संख्या	८३
१४०	एकेन्द्रियादि जीवों के पर्याप्त अवस्था में प्राणों की संख्या	८४

गाथा संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
१४१	एकेन्द्रियादि जीवों के अपर्याप्त अवस्था में प्राणों की संख्या	८४
१४२	विकलत्रय जीवों के स्थान	८५
१४३	ढाई द्वीप के बाहर के तिर्यंचों की व्यवस्था हैमवत पर्वत के समान है	८५
१४४	जलचर जीवों के स्थान	८६
१४५	भवनवासी व्यन्तरों के स्थान	८६
१४६	ज्योतिषी, कल्पवासी व नारकियों के स्थान	८७
१४७	तेजवातकाय के जीवों की संख्या	८७
१४८ से १५१	पृथ्वी आदि की संख्या	८७
१५२	सान्तर निरन्तर कथन	८९
१५३ से १६०	जीवों का संख्या की अपेक्षा अल्प बहुत्व कथन	८९
१६१	एकेन्द्रियादि जीवों की आयु	९२
१६२	बादर जीवों की आयु	९२
१६३	द्वीन्द्रियादि जीवों की आयु	९३
१६४	सब ही तिर्यंच और मनुष्यों की जघन्य आयु	९३
१६५	देव, नारकियों की आयु	९३
१६६ से १६७	एकेन्द्रियादि जीवों के शरीर की उत्कृष्ट व जघन्य अवगाहना	९४
१६८	नारकियों की उत्कृष्ट अवगाहना	९५
१६९	देवों की अवगाहना	९५
१७० से १७१	स्वर्ग के देवों की अवगाहना	९६
१७२	भरत-ऐरावत क्षेत्र में काल की अपेक्षा से मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई	९६
१७३	एकेन्द्रिय जीवों का जघन्य देह	९७
१७४	द्वीन्द्रिय आदि की जघन्य अवगाहना	९७
१७५	जघन्य अवगाहना के धारक द्वीन्द्रिय आदि जीव कौन-कौन हैं ?	९८
१७६	जीव का लोकप्रमाण और देहप्रमाणपणा	९८

गाथा संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या	गाथा संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
१७७ से १७८	जीव को सर्वथा सर्वगत मानने		२१०	जीव भी जीव का उपकार करता है	११४
	का निषेध	९९	२११	पुद्गल के बड़ी शक्ति है	११५
१७९	जीव को सर्वथा भिन्न मानने में दोष	९९	२१२	धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य का	
१८०	गुण और गुणी के भेद बिना दो नाम			स्वरूप	११५
	होने का समाधान	१००	२१३	आकाशद्रव्य का स्वरूप	११६
१८१ से १८२	ज्ञान को पृथ्वी आदि का विकार		२१४, २१५	सब ही द्रव्यों में आकाश के समान	
	मानने का निषेध	१००		अवकाश देने की शक्ति है	११६
१८३	युक्ति द्वारा जीव का सद्भाव	१०१	२१६	कालद्रव्य का स्वरूप	११८
१८४	आत्मा का सद्भाव कैसे है ?	१०२	२१७	परिणमन करने की शक्ति स्वभावभूत	
१८५	जीव देह से मिला हुआ सब कार्यों			सब द्रव्यों में है	११८
	को करता है	१०२	२१८	सब द्रव्यों के परस्पर सहकारी कारण	
१८६	जीव को देह से भिन्न जानने का			भाव से उपकार है	११९
	कारण	१०३	२१९	द्रव्यों की स्वभावभूत नाना शक्तियों	
१८७	जीव और देह के एकत्व माननेवाला			का कौन निषेध कर सकता है ?	११९
	भेद को नहीं जानता है	१०३	२२०	व्यवहरिकाल का निरूपण	१२०
१८८ से १९१	जीव के कर्तृत्व आदि का वर्णन	१०४	२२१	अतीत, अनागत, वर्तमान पर्यायों की	
१९२	अन्य प्रकार से जीव के भेद	१०६		संख्या	१२१
१९३	बहिरात्मा कैसा होता है ?	१०७	२२२	द्रव्यों के कार्यकारणभाव का निरूपण	
१९४	अन्तरात्मा का स्वरूप	१०७			१२१
१९५	उत्कृष्ट अन्तरात्मा	१०८	२२३	वस्तु के तीनों काल में ही कार्यकारण	
१९६	मध्यम अन्तरात्मा	१०८		-भाव का निश्चय	१२२
१९७	जघन्य अन्तरात्मा	१०९	२२४	वस्तु अनन्त धर्मस्वरूप है	१२२
१९८	परमात्मा का स्वरूप	११०	२२५	अनेकान्तात्मक वस्तु अर्थ क्रियाकारी	
१९९	परा शब्द का अर्थ	११०		है	१२२
२००, २०१	जीव को सर्वथा शुद्ध मानने का		२२६	सर्वथा एकान्त वस्तु के कार्यकारीपणा	
	निषेध	१११		नहीं है	१२३
२०२	अशुद्धता-शुद्धता का कारण	१११	२२७	सर्वथा नित्य एकान्त में	
२०३	बन्ध का स्वरूप	११२		अर्थक्रियाकारीपणा का अभाव	१२३
२०४	सब द्रव्यों में जीवद्रव्य ही उत्तम		२२८	पुन: क्षणस्थायी के कार्य का अभाव	१२४
	परम तत्त्व है	११२	२२९	अनेकान्तवस्तु के कार्यकारणभाव	
२०५	जीव ही के उत्तम तत्त्वपणा कैसे है ?	११२		बनता है	१२४
२०६, २०७	पुद्गलद्रव्य का स्वरूप	११३	२३०	पूर्वोत्तरभाव के कारणकार्य्यभाव	
२०८, २०९	पुद्गलद्रव्य के जीव का उपकारीपणा	११४		को दृढ़ करते हैं	१२४

गाथा संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
२३१	जीवद्रव्य के भी वैसे ही अनादि -निधन कार्यकारण भाव सिद्ध करते हैं	१२५
२३२	जीवद्रव्य अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल -भाव में रहता हुआ ही नवीन पर्यायरूप कार्य को करता है	१२५
२३३	अन्यरूप होकर कार्य करने में दोष	१२६
२३४	सर्वथा एकस्वरूप मानने में दोष	१२६
२३५	अणुमात्र तत्त्व को मानने में दोष	१२७
२३६	द्रव्य के एकत्वपणे का निश्चय	१२७
२३७	द्रव्य के गुणपर्यायस्वभावपणा	१२८
२३८	द्रव्यों के व्यय उत्पाद क्या है ?	१२९
२३९	द्रव्य के ध्रुवपणा का निश्चय	१२९
२४०	द्रव्य-पर्याय का स्वरूप	१२९
२४१	गुण का स्वरूप	१३०
२४२	गुणाभास विशेषरूप से उत्पन्न वा नष्ट होता है गुणपर्यायों का एकपणा है वही द्रव्य है	१३०
२४३, २४४	द्रव्यों में पर्यायें विद्यमान उत्पन्न होती हैं या अविद्यमान ?	१३१
२४५	द्रव्य-पर्यायों के कथंचित् भेद कथंचित् अभेद	१३२
२४६	द्रव्य-पर्याय के सर्वथा भेद मानने में दोष	१३२
२४७ से २४९	विज्ञान को ही अद्वैत कहने और बाह्य पदार्थ न मानने में दोष	१३३
२५० से २५२	नास्तित्वादी महाझूठा है	१३४
२५३	सामान्य ज्ञान का स्वरूप	१३५
२५४	सर्व प्रत्यक्ष केवलज्ञान का स्वरूप	१३६
२५५	ज्ञान सर्वगत भी है	१३६
२५६	ज्ञान जीव के प्रदेशों में रहता हुआ ही सबको जानता है	१३७

गाथा संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
२५७	मन:पर्यय अवधिज्ञान और मति श्रुतज्ञान की सामर्थ्य	१३७
२५८	इन्द्रियज्ञान योग्य विषय को जानता है	१३८
२५९	इन्द्रियज्ञान के उपयोग की प्रवृत्ति अनुक्रम से है	१३८
२६०	इन्द्रियों का ज्ञान एक काल है या नहीं ?	१३९
२६१	वस्तु के अनेकात्मता है तो भी अपेक्षा से एकात्मता भी है।	१३९
२६२	श्रुतज्ञान परोक्षरूप से सबको प्रकाशित करता है	१४०
२६३	श्रुतज्ञान के भेदनय का स्वरूप	१४०
२६४	एक धर्म को नय कैसे ग्रहण करता है ?	१४१
२६५	वस्तु के धर्म को, उसके वाचक शब्द को और उसके ज्ञान को नय कहते हैं	१४२
२६६	वस्तु के एक धर्म ही को ग्रहण करने वाला एक नय मिथ्यात्व कैसे है ?	१४२
२६७	परोक्षज्ञान में अनुमान प्रमाण भी है उसका उदाहरणपूर्वक स्वरूप	१४३
२६८	नय के भेद	१४३
२६९	द्रव्यनय का स्वरूप	१४४
२७०	पर्यायार्थिकनय का स्वरूप	१४४
२७१	नैगमनय	१४५
२७२	संग्रहनय	१४५
२७३	व्यवहारनय	१४६
२७४	ऋजुसूत्रनय	१४७
२७५	शब्दनय	१४७
२७६	समभिरूढ़नय	१४८
२७७	एवंभूतनय	१४८

गाथा संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
२७८	नयों के कथन का संकोच	१४९
२७९	तत्त्वार्थ को सुनने, जानने, धारणा, भावना करनेवाले विरले हैं	१५०
२८०	जो तत्त्व को सुनकर निश्चल भाव सो भाये सो तत्त्व को जाने	१५०
२८१	तत्त्व की भावना नहीं करनेवाले स्त्री आदि के वश में कौन नहीं है ?	१५०
२८२	जो तत्त्वज्ञानी सब परिग्रह का त्यागी होता है वह स्त्री आदि के वश में नहीं होता है	१५१
२८३	लोकानुप्रेक्षा के चिन्तवन का माहात्म्य	१५१
	बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा	
२८४	निगोद से निकलकर स्थावर होना दुर्लभ है	१५३
२८५	स्थावर से निकलकर त्रस होना दुर्लभ है	१५३
२८६,२८७	त्रस में भी पंचेन्द्रिय होना दुर्लभ है	१५४
२८८	क्रूर परिणामी नरक में जाते हैं	१५५
२८९	नरक से निकलकर तिर्यंच हो दु:ख सहते हैं	१५५
२९०	मनुष्य होना दुर्लभ है सो भी मिथ्यात्वी होकर पाप करता है	१५५
२९१ से २९६	मनुष्य भी हो और आर्यखण्ड में भी उत्पन्न हो तो भी उत्तम कुलादि का पाना अति दुर्लभ है।	१५६
२९७	ऐसा मनुष्य दुर्लभ है जिससे रत्नत्रय की प्राप्ति हो	१५८
२९८	ऐसा मनुष्यत्व पाकर शुभ परिणामों से देव हो जाता है तो वहाँ चारित्र नहीं पाता है	१५८
२९९, ३००	मनुष्यगति में ही तपश्चरणादिक है ऐसा नियम है	१५९
३०१	मनुष्यगति में रत्नत्रय को पाकर बड़ा आदर करो	१६०
	धर्मानुप्रेक्षा	
३०२	धर्म का मूल सर्वज्ञदेव है	१६१
३०३, ३०४	सर्वज्ञ को न माननेवाले के प्रति उक्ति	१६२
३०५, ३०६	गृहस्थधर्म के बारहभेदों के नाम	१६२
३०७	सम्यक्त्व की उत्पत्ति की योग्यता का वर्णन	१६३
३०८	उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति कैसे है ?	१६४
३०९	क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कैसे होता है ?	१६५
३१०	औपशमिक क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन तथा देशव्रत इनका पाना और छूट जाना	१६५
३११, ३१२	तत्त्वार्थ श्रद्धान निरूपण	१६६
३१३ से ३१७	सम्यग्दृष्टि के परिणाम कैसे होते हैं ?	१७१
३१८	मिथ्यादृष्टि कैसा होता है ?	१७३
३१९, ३२०	व्यन्तर आदि देव लक्ष्मी देते हैं, उपकार करते हैं उनकी पूजा वन्दना करें या नहीं ?	१७४
३२१, ३२२	सम्यग्दृष्टि के विचार	१७५
३२३	सर्वज्ञ के आगम के प्रतिकूल मिथ्यादृष्टि है	१७६
३२४	जो विशेष तत्त्व को नहीं जानता है और जिनवचन में आज्ञा मात्र श्रद्धान करता है सो भी श्रद्धावान् है	१७६
३२५ से ३२७	सम्यक्त्व का माहात्म्य	१७७
३२८, ३२९	दार्शनिक श्रावक (पहली प्रतिमा)	१७८
३३०	व्रत प्रतिमा (दूसरी प्रतिमा)	१८०

गाथा संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
३३१, ३३२	पहला अणुव्रत (अहिंसा)	१८१
३३३, ३३४	दूसरा अणुव्रत (सत्य)	१८२
३३५, ३३६	तीसरा अणुव्रत (अचौर्य)	१८३
३३७, ३३८	चौथा अणुव्रत (ब्रह्मचर्य)	१८५
३३९, ३४०	पाँचवाँ अणुव्रत (परिग्रह परिमाण)	१८६
३४१, ३४२	पहला गुणव्रत (दिग्व्रत)	१८७
३४३	दूसरा गुणव्रत (अनर्थदण्ड)	१८८
३४४	पहला अनर्थदण्ड (अपध्यान)	१८८
३४५	दूसरा अनर्थदण्ड (पापोपदेश)	१८९
३४६	तीसरा अनर्थदण्ड (प्रमादचरित)	१८९
३४७	चौथा अनर्थदण्ड (हिंसादान)	१९०
३४८	पाँचवाँ अनर्थदण्ड (दु:श्रुति)	१९०
३४९	अनर्थदण्ड के कथन का संकोच	१९१
३५०, ३५१	तीसरा गुणव्रत (भोगोपभोग)	१९१
३५२, ३५३	पहला शिक्षाव्रत (सामायिक)	१९३
३५४	सामायिक का काल	१९३
३५५ से ३५७	सामायिक में आसन तथा लय और मन-वचन-काय की शुद्धता	१९४
३५८, ३५९	दूसरा शिक्षाव्रत (प्रोषधोपवास)	१९५
३६०, ३६१	तीसरा शिक्षाव्रत (अतिथिसंविभाग)	१९६
३६२	आहार आदि दान का माहात्म्य	१९७
३६३, ३६४	आहारदान प्रधान है	१९८
३६५, ३६६	दान का माहात्म्य	१९८
३६७, ३६८	चौथा शिक्षाव्रत (देशावकाशिक)	१९९
३६९	अन्त सल्लेखना	२००
३७०	निरतिचार एक भी व्रत पालनेवाला इन्द्र होता है	२०१
३७१, ३७२	तीसरी सामायिक प्रतिमा	२०२
३७३ से ३७६	प्रोषधाप्रतिमा का स्वरूप	२०३
३७७	प्रोषध का माहात्म्य	२०५
३७८	आरम्भ आदि के त्याग बिना उपवास करने से कर्मनिर्जरा नहीं होती हैं	२०५
३७९ से ३८१	सचित्तत्याग प्रतिमा	२०६
३८२, ३८३	रात्रिभोजनत्याग प्रतिमा	२०८
३८४	ब्रह्मचर्य प्रतिमा	२०९
३८५	आरम्भविरति प्रतिमा	२०९
३८६, ३८७	परिग्रहत्याग प्रतिमा	२१०
३८८, ३८९	अनुमोदनविरति प्रतिमा	२११
३९०	उद्दिष्टविरति प्रतिमा	२१२
३९१	अंतसमय में आराधना करने का फल	२१२
३९२	मुनिधर्म का व्याख्यान	२१५
३९३	दस प्रकार के धर्म का वर्णन	२१५
३९४	उत्तम क्षमा	२१६
३९५	उत्तम मार्दव	२१७
३९६	उत्तम आर्जव	२१८
३९७	उत्तम शौच	२१८
३९८	उत्तम सत्य	२१९
३९९	उत्तम संयम	२२१
४००	उत्तम तप	२२४
४०१	उत्तम त्याग	२२५
४०२	उत्तम आकिंचन्य	२२५
४०३	उत्तम ब्रह्मचर्य	२२६
४०४	दसलक्षणरूप धर्म है, हिंसा धर्म नहीं है	२२८
४०५, ४०६	सूक्ष्म भी हिंसा धर्म नहीं है	२२८
४०७	उत्तम धर्म का प्राप्त होना दुर्लभ है	२३०
४०८ से ४१२	उत्तम धर्म को पाकर के केवल पुण्य के ही आशय से सेवन करना उचित नहीं है	२३०
४१३, ४१४	नि:शंकित गुण	२३४
४१५	नि:कांक्षित गुण	२३५
४१६	निर्विचिकित्सा गुण	२३५
४१७	अमूढ़दृष्टि गुण	२३६
४१८	उपगूहन गुण	२३६
४१९	स्थितिकरण गुण	२३७

गाथा संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या	गाथा संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
४२०	वात्सल्य गुण	२३८	४५७, ४५८	वैयावृत्य तप	२५८
४२१,४२२	प्रभावना गुण	२३८	४५९ से ४६४	स्वाध्याय तप	२५९
४२३	नि:शंकित आदि गुण किस पुरुष के होते हैं ?	२३९	४६५ से ४६७	व्युत्सर्ग तप	२६१
४२४	ये आठ गुण जैसे धर्म में कहे वैसे देव-गुरु आदि में भी जानना	२४०	४६८	ध्यान तप	२६३
४२५	उत्तम धर्म को करनेवाला तथा जाननेवाला दुर्लभ है	२४०	४६९, ४७०	शुभ-अशुभ ध्यान के नाम व स्वरूप	२६३
४२६	धर्म के ग्रहण का दृष्टान्तपूर्वक माहात्म्य	२४१	४७१, ४७२	आर्त्तध्यान	२६४
४२७	धर्म के बिना लक्ष्मी नहीं आती है	२४१	४७३, ४७४	रौद्रध्यान	२६५
४२८, ४२९	धर्मात्मा जीव की प्रवृत्ति	२४२	४७५	धर्मध्यान	२६६
४३० से ४३२	धर्म का माहात्म्य	२४३	४७६	धर्म का स्वरूप	२६७
४३३, ४३४	धर्मरहित जीव की निन्दा	२४४	४७७ से ४८०	धर्मध्यान कैसे जीव के होता है ?	२६७
४३५	धर्म का आदर करो, पाप को छोड़ो	२४४	४८१	शुक्लध्यान	२७१
	द्वादश तप		४८२	पहला शुक्लध्यान (पृथक्त्ववितर्कवीचार)	२७१
४३६	बारह तप का विधान	२४६	४८३	दूसरा शुक्लध्यान (एकत्ववितर्कवीचार)	२७३
४३७ से ४४०	अनशन तप	२४६	४८४	तीसरा शुक्लध्यान (सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति)	२७३
४४१, ४४२	अवमोदर्य तप	२४८	४८५	चौथा शुक्लध्यान (व्युपरतक्रियानिवृत्ति)	२७४
४४३	वृत्तिपरिसंख्यान तप	२४९	४८६	तप का माहात्म्य	२७४
४४४	रसपरित्याग तप	२५०	४८७	ग्रन्थ रचने का प्रयोजन	२७५
४४५ से ४४७	विविक्तशय्यासन तप	२५१	४८८	अनुप्रेक्षा का फल	२७६
४४८	कायक्लेश तप	२५२	४८९	अन्त्य मंगल	२७६
४४९ से ४५३	प्रायश्चित्त तप	२५३			
४५४ से ४५६	विनय तप	२५६			

ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्रीमत् स्वामि कार्तिकेय प्रणीत

कार्तिकेयानुप्रेक्षा

(भाषानुवाद सहित)

भाषाकार का मङ्गलाचरण

दोहा

प्रथम ऋषभ जिन धर्मकर, सनमति चरम जिनेश।
विघनहरन मंगलकरन, भवतमदुरितदिनेश॥१॥
वानी जिनमुखतैं खिरी, परी गणाधिप कान।
अक्षरपदमय विस्तरी, करहि सकल कल्यान॥२॥
गुरु गणधर गुणधर सकल, प्रचुर परम्पर और।
व्रततपधर तनुनगनतर, बंदौं वृष शिरमौर॥३॥
स्वामिकार्त्तिकेय मुनी, बारह भावन भाय।
कियो कथन विस्तार करि, प्राकृतछंद बनाय॥४॥
ताकी टीका संस्कृत, करी सु-धर शुभचन्द्र।
सुगमदेशभाषामयी, करूँ नाम जयचन्द्र॥५॥
पढहु पढावहु भव्यजन, यथाज्ञान मनधारि।
करहु निर्जरा कर्म की, बार बार सुविचारि॥६॥

इस प्रकार देव-शास्त्र-गुरु को नमस्काररूप मङ्गलाचरण पूर्वक प्रतिज्ञा करके स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा नामक ग्रन्थ की देशभाषामय वचनिका की जाती है। सो संस्कृत

टीका के अनुसार मेरी बुद्धि माफिक गाथा का संक्षेप अर्थ लिखूँगा, उसमें कहीं भूल हो जाये तो विशेष बुद्धिमान ठीक कर लेवें*।

श्रीमत्स्वामिकार्तिकेय नामक आचार्य, अपने ज्ञान-वैराग्य की वृद्धि होना; नवीन श्रोताओं के ज्ञान-वैराग्य का उत्पन्न होना; विशुद्धता होने से पापकर्म की निर्जरा होना; पुण्य का उत्पन्न होना; शिष्टाचार का पालन; विघ्नरहित शास्त्र की समाप्ति होना इत्यादि अनेक अच्छे फलों को चाहते हुए अपने इष्टदेव को नमस्काररूप मङ्गलपूर्वक प्रतिज्ञा करते हुए गाथा कहते हैं —

तिहुवणतिलयं देवं, वंदित्ता तिहुवणिंदपरिपुज्जं।
वोच्छं अणुपेहाओ, भवियजणाणंदजणणीओ ॥१॥

त्रिभुवन तिलक शत-इन्द्र वन्दित, देव श्री अर्हन्त को।
कर नमन कहुँ अनुप्रेक्षाएँ, भव्य को सुखकर अहो ॥१॥

अन्वयार्थ : मैं अर्थात् स्वामी कार्तिकेय [**तिहुवणतिलयं**] तीन भुवन का तिलक [**तिहुवणिंदपरिपुज्जं**] तीन भुवन के इन्द्रों से पूज्य (ऐसे) [**देवं**] देव को [**वंदित्ता**] नमस्कार करके [**भवियजणाणंदजणणीओ**] भव्यजीवों को आनन्द उत्पन्न करनेवाली [**अणुपेहाओ**] अनुप्रेक्षाएँ [**वोच्छं**] कहूँगा।

भावार्थ : यहाँ 'देव' — ऐसी सामान्य संज्ञा है सो क्रीड़ा, रति, विजिगीषा, द्युति, स्तुति, प्रमोद, गति, कान्ति इत्यादि क्रियाएँ करे, उसको देव कहते हैं। सो सामान्यतया तो चार प्रकार के देव या कल्पितदेव भी गिने जाते हैं, उनसे भिन्नता दिखाने के लिए '**तिहुवणतिलयं (त्रिभुवनतिलकं)**' — ऐसा विशेषण दिया। इससे अन्य देव का व्यवच्छेद (निराकरण) हुआ परन्तु तीन भुवन के तिलक इन्द्र भी हैं। उनसे भिन्नता दिखाने के लिए '**तिहुवणिंदपरिपुज्जं (त्रिभुवनेन्द्रपरिपूज्यं)**'—ऐसा विशेषण दिया, जिससे तीन भुवन के इन्द्रों द्वारा भी पूज्य ऐसा जो देव है, उसको नमस्कार किया।

यहाँ इस प्रकार समझना कि ऊपर कहे अनुसार देवपना अरहन्त, सिद्ध, आचार्य,

* इस जगह भाषानुवादक स्वर्गीय पण्डित जयचन्द्रजी ने समस्त ग्रन्थ की पीठिका (कथन की संक्षिप्त विषय सूची) लिखी है सो हमने उसको यहाँ न रखकर आधुनिक प्रथानुसार प्रारम्भ में विस्तृत विषय सूची के रूप में लिख दी है।

उपाध्याय और सर्व साधु, इन पञ्च परमेष्ठियों में ही पाया जाता है क्योंकि परम स्वात्मजनित आनन्दसहित क्रीड़ा; कर्म कलङ्क को जीतनेरूप विजिगीषा; स्वात्मजनित प्रकाशरूप द्युति; स्वस्वरूप की स्तुति; स्वरूप में परम प्रमोद; लोकालोक व्याप्तरूप गति; शुद्धस्वरूप की प्रवृत्ति, कान्ति इत्यादि देवपने को उत्कृष्ट क्रियाएँ, सब एकदेश या सर्वदेशरूप इनमें ही पायी जाती हैं, इसलिए सर्वोत्कृष्ट देवपना इनमें ही पाया जाता है; अत: इनको मङ्गलरूप नमस्कार करना उचित है। (मं = पापं गालयति इति मंगलं अथवा मंग = सुखं लाति ददाति इति मंगलं) 'मं' अर्थात् पाप, उसको गालै (नाश करे) तथा 'मंग' अर्थात् सुख, उसको लाति ददाति अर्थात् दे, उसको मङ्गल कहते हैं, सो ऐसे देव को नमस्कार करने से शुभपरिणाम होते हैं, जिससे पापों का नाश होता है और शान्तस्वभावरूप सुख की प्राप्ति होती है।

अनुप्रेक्षा का सामान्य अर्थ बारम्बार चिन्तवन करना है। वह चिन्तवन अनेक प्रकार का है,उसके करनेवाले अनेक हैं। उनसे भिन्नता दिखाने के लिए '**भवियजणाणंद-जणणीओ**' (**भव्यजनानन्दजननी:**)—ऐसा विशेषण दिया है। इसलिए मैं (स्वामि-कार्तिकेय) जिन भव्यजीवों के मोक्ष होना निकट आया हो, उनको आनन्द उत्पन्न करनेवाली, ऐसी अनुप्रेक्षा कहूँगा।

यहाँ '**अणुपेहाओ (अनुप्रेक्षा:)**' — ऐसा बहुवचरूप पद है। अनुप्रेक्षा-सामान्य चिन्तवन एक प्रकार है तो भी अनेक प्रकार है। भव्य जीवों को सुनते ही मोक्षमार्ग में उत्साह उत्पन्न हो, ऐसे चिन्तवन के संक्षेप से बारह प्रकार हैं। उनके नाम तथा भावना की प्रेरणा दो गाथाओं में कहते हैं —

अद्धुव असरण भणिया, संसारामेगमण्णमसुइत्तं।
आसव संवरणामा, णिज्जरलोयाणुपेहाओ ॥२॥
इय जाणिऊण भावह, दुल्लह-धम्माणुभावणाणिच्चं।
मन-वयण-कायसुद्धी, एदा दस दोय भणिया हु ॥३॥

भावना बारह अध्रुव, अशरण तथा संसार हैं।
एकत्व अरु अन्यत्व अशुचि, आस्त्रव संवर कहें ॥२॥

निर्जरा अरु लोक दुर्लभबोधि, धर्म सुजानिये।
कर शुद्ध मन वच काय ये, सब भावनाएँ भाइये ॥३ ॥

अन्वयार्थ : [**एदा**] ये [**अद्धुवं**] अध्रुव (अनित्य), [**असरण**] अशरण, [**संसारामेगमण्णमसुइत्तं**] संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, [**आसव**] आस्रव [**संवरणामा**] संवर [**णिज्जरलोयाणुपेहाओ**] निर्जरा, लोक अनुप्रेक्षाएँ, [**दुल्लह**] बोधिदुर्लभ, [**धम्माणुभावणा**] धर्मभावना—ये [**दस दोय**] बारह भावना [**भणिया**] कही गयी हैं। [**इय जाणिऊण**] इन्हें जानकर [**मनवयणकायसुद्धी**] मन-वचन-काय शुद्धकर [**णिच्चं**] निरन्तर [**भावह**] भाओ।

भावार्थ : ये बारह भावनाओं के नाम कहे गये हैं। इनका विशेष अर्थरूप कथन तो यथास्थान होगा ही, परन्तु ये नाम भी सार्थक हैं। इनका अर्थ किस प्रकार है ? — अध्रुव तो अनित्य को कहते हैं। जहाँ कोई शरण नहीं, सो अशरण। भ्रमण को संसार। जहाँ कोई दूसरा नहीं, सो एकत्व। जहाँ सबसे भिन्नता, सो अन्यत्व। मलिनता को अशुचित्व। कर्म के आने को आस्रव। कर्म को आने को रोके, सो संवर। कर्म का झरना, सो निर्जरा। जिसमें छह द्रव्य पाये जाएँ, सो लोक। अतिकठिनता से प्राप्त होय, सो दुर्लभ। संसार से उद्धार करे, सो वस्तुस्वरूपादिक धर्म। इस प्रकार इनका अर्थ है।

अध्रुव-अनुप्रेक्षा

पहले, अध्रुव अनुप्रेक्षा का सामान्यस्वरूप कहते हैं :—

जं किंचिवि उप्पण्णं, तस्स विणासो हवेइ णियमेण।
परिणामसरूवेण वि, ण य किंचिवि सासयं अत्थि॥४॥

जो भी हुआ उत्पन्न है, वह नष्ट होता नियम से।
पर्यायदृष्टि से जगत में, नहीं कुछ भी नित्य है॥४॥

अन्वयार्थ : [**जं किंचिवि उप्पण्णं**] जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है, [**तस्स विणासो हवेइ णियमेण**] उसका नियम से नाश होता है; [**परिणामसरूवेण वि**] परिणामस्वरूप से तो [**किंचिवि सासयं णय अत्थि**] कुछ भी नित्य नहीं है।

भावार्थ : सब वस्तुएँ सामान्य-विशेषस्वरूप हैं। सामान्य तो द्रव्य को और विशेष गुण-पर्याय को कहते हैं, सो द्रव्यरूप से तो वस्तु नित्य ही है तथा गुण भी नित्य ही है और पर्याय है, वह अनित्य है, इसको परिणाम भी कहते हैं। यह प्राणी पर्यायबुद्धि है, सो पर्याय उत्पन्न होते व नष्ट होते देखकर हर्ष-विषाद करता है तथा उसको नित्य रखना चाहता है; इस प्रकार के अज्ञान से दु:खी होता है। उसको इस भावना का चिन्तवन इस प्रकार करना योग्य है कि —

मैं द्रव्यरूप से नित्य जीवद्रव्य हूँ। जो उत्पन्न होती है तथा नाश होती है, यह पर्याय का स्वभाव है, इसमें हर्ष-विषाद कैसा? यह शरीर, जीव-पुद्गल की संयोगजनित पर्याय है। धन धन्यादिक, पुद्गलपरमाणुओं की स्कन्ध पर्याय है। इनके संयोग और वियोग नियम से अवश्य है, इसमें स्थिरता की बुद्धि करता है, सो मोहजनित भाव है; इसलिए वस्तुस्वरूप को समझकर हर्ष-विषादादिकरूप नहीं होना चाहिए।

आगे, इस ही को विशेषरूप से कहते हैं :—

जम्मं मरणेण समं, संपज्जइ जोव्वणं जरासहियं।
लच्छी विणास सहिया, इयं सव्वं भंगुरं मुणह ॥५॥

जन्म मृत्यु सहित है, यौवन जरा के साथ है।
लक्ष्मी विनाश सहित अहो!, इस तरह क्षण भङ्गुर सभी ॥५॥

अन्वयार्थ : [**जम्मं मरणेण समं**] यह जन्म है, सो मरणसहित है; [**जोव्वणं जरासहियं संपज्जइ**] यौवन है, सो जरासहित उत्पन्न होता है; [**लच्छी विणास सहिया**] लक्ष्मी है, सो विनाशसहित उत्पन्न होती है; [**इयं सव्वं भंगुरं मुणह**] इस प्रकार सब वस्तुओं को क्षणभङ्गुर जानो।

भावार्थ : जितनी अवस्थाएँ संसार में हैं, वे सब ही विरोधीभाव को लिए हुए हैं। यह प्राणी, जन्म होता है तब उसको स्थिर मानकर हर्ष करता है; मरण होने पर नाश मानकर शोक करता है। इसी प्रकार इष्ट की प्राप्ति में हर्ष, अप्राप्ति में विषाद तथा अनिष्ट की प्राप्ति में विषाद, अप्राप्ति में हर्ष करता है, सो यह मोह का माहात्म्य है। (नित्य पूर्ण ज्ञायकभाव के आलम्बन के बल द्वारा) ज्ञानियों को समभाव से रहना चाहिए।

अब, दृष्टान्तपूर्वक अनित्यता को समझाते हैं —

अथिरं परिणय-सयणं, पुत्त-कलत्तं सुमित्त-लावण्णं।
गिह-गोहणाइ सव्वं, णव-घण-विंदेण सारिच्छं ॥६॥

परिवार बन्धुवर्ग सुत, नारी तथा रमणीय तन।
घरबार गोधन आदि सब हैं, अथिर ज्यों नव मेघ घन ॥६॥

अन्वयार्थ : [**परिणयसयणं**] परिवार, बन्धुवर्ग, [**पुत्तकलत्तं**] पुत्र, स्त्री, [**सुमित्त**] अच्छे मित्र, [**लावण्णं**] शरीर की सुन्दरता, [**गिह-गोहणाइ सव्वं**] गृह, गोधन इत्यादि समस्त वस्तुएँ [**णवघणविंदेण**] नवीन मेघ के समूह के समान [**अथिरं**] अस्थिर हैं।

भावार्थ : ये सब ही वस्तुएँ नाशवान जानकर (नित्य ज्ञानस्वभाव में ही एकत्व द्वारा) हर्ष-विषाद नहीं करना चाहिए।

अब, इन्द्रिय विषयों की क्षणिकता बतलाते हैं —

सुरधणु-तडि व्व चवला, इंदिय-विसया सुभिच्च-वग्गा य।
दिट्ठ-पणट्ठा सव्वे, तुरय-गया रहवरादी य ॥७॥

इन्द्रिय-विषय सेवक सभी, गजरथ तुरंगादिक अहो।
सुर-धनु तथा बिजली समान, दिखाई देकर नष्ट हों ॥७॥

अन्वयार्थ : [**इंदियविसया**] इन्द्रियों के विषय, [**सुभिच्चवग्गा**] अच्छे सेवकों का समूह [**य**] और [**तुरयगया रहवरादी य**] घोड़े-हाथी, रथ आदिक [**सव्वे**] ये सब ही [**सुरधणुतडि व्व चवला**] इन्द्रधनुष तथा बिजली के समान चञ्चल हैं; [**दिट्ठपणट्ठां**] दिखाई देकर नष्ट हो जानेवाले हैं।

भावार्थ : यह प्राणी, श्रेष्ठ इन्द्रियों के विषय, अच्छे नौकर, घोड़े, हाथी, रथादिक की प्राप्ति से सुख मानता है, सो ये सब क्षण विनश्वर हैं; इसलिए (निज आत्मा से ही उत्पन्न अतीन्द्रिय) अविनाशी सुख को प्राप्त करने का उपाय करना ही योग्य है।

अब, बन्धुजनों का संयोग कैसा है ? सो दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं —

पंथे पहिय-जणाणं, जह संजोओ हवेइ खणमित्तं।
बंधुजणाणं च तहा, संजोओ अद्धुओ होइ ॥८॥

ज्यों मार्ग में मिलते पथिकजन, मात्र क्षणभर को अहो।
त्यों बन्धुजन का मिलन भी, अस्थिर सदा यह जान लो ॥८॥

अन्वयार्थ : [**जह**] जैसे [**पंथे**] मार्ग में [**पहियजणाणं**] पथिकजनों का [**संजोओ**] संयोग [**खणमित्तं**] क्षणमात्र [**हवेइ**] होता है, [**तहा**] वैसा ही (संसार में) [**बंधुजणाणं**] बन्धुजनों का [**संजोओ**] संयोग [**अद्धुओ**] अस्थिर [**होइ**] होता है।

भावार्थ : यह प्राणी बहुत कुटुम्ब परिवार पाता है, तब अभिमान करके सुख मानता है, उस मद से अपने स्वरूप को भूल जाता है। यह बन्धुवर्ग का संयोग, मार्ग के पथिकजनों के समान है, जिसका शीघ्र ही वियोग होता है। इसमें सन्तुष्ट होकर अपने असली स्वरूप को नहीं भूलना चाहिए।

अब, देहसंयोग को अस्थिर दिखाते हैं —

अइलालिओ वि देहो, ण्हाण सुयंधेहिं विविह भक्खेहिं।
खणमित्तेण वि विहडइ, जल-भरिओ आम घडओ व्व॥९॥

यह तन सजाया स्नान कर, अरु विधि गन्धित द्रव्य से।
आहार से पोषित किया, कच्चे घड़े वत् नष्ट हो॥९॥

अन्वयार्थ : [**देहो**] यह देह [**ण्हाण सुयंधेहिं**] स्नान तथा सुगन्धित पदार्थों से सजाया हुआ भी, (तथा) [**विविह भक्खेहिं**] अनेक प्रकार के भोजनादि भक्ष्य पदार्थों से [**अइलालिओ वि**] अत्यन्त लालन-पालन किया हुआ भी [**जलभरिओ**] जल से भरे हुए [**आम घडओ व्व**] कच्चे घड़े की तरह [**खणमित्तेण वि**] क्षणमात्र में ही [**विहडइ**] नष्ट हो जाता है।

भावार्थ : ऐसे शरीर में स्थिर बुद्धि करना बड़ी भूल है।

अब, लक्ष्मी की अस्थिरता दिखाते हैं —

जा सासया ण लच्छी, चक्कहराणं पि पुण्णवंताणं।
सा किं बधेइ रइं, इयर-जणाणं अपुण्णाणं॥१०॥

पुण्यशाली चक्रवर्ती, के निकट नहिं नित्य जो।
वह लक्ष्मी कैसे करेगी, प्रीति पुण्य विहीन से॥१०॥

अन्वयार्थ : [**जा लच्छी**] जो लक्ष्मी (सम्पदा) [**पुण्णवंताणं चक्कहराणं पि**] पुण्यउदयसहित चक्रवर्तियों के भी [**सासया ण**] नित्य नहीं है, [**सा**] वह (लक्ष्मी) [**अपुण्णाणं इयरजणाणं**] पुण्यहीन अथवा अल्प पुण्यवाले अन्य लोगों से [**किं रइं बधेइं**] कैसे प्रेम करे ? अर्थात् नहीं करे।

भावार्थ : (अपने त्रैकालिक पूर्ण ज्ञानानन्दमय आत्मलक्ष्मी को भूल जाना ही बड़ा दुःख है; अतः) इस लक्ष्मी पर अभिमान कर यह प्राणी प्रेम करता है, सो वृथा है।

आगे, इसी अर्थ को विशेषरूप से कहते हैं —

कत्थ वि ण रमइ लच्छी, कुलीण-धीरे वि पंडिए सूरे।
पुज्जे धम्मिट्ठे वि य, सुवत्त सुयणे महासत्ते॥११॥

कुल-रूप-धैर्य-महापराक्रमवन्त हों अथवा सुजन।
धर्मात्मा से भी नहीं, लक्ष्मी कभी करती रमण॥११॥

अन्वयार्थ : [**लच्छी**] यह लक्ष्मी [**कुलीणधीरे वि पंडिए सूरे**] कुलवान्, धैर्यवान्, पण्डित, सुभट [**पुज्जे धम्मिट्ठे वि य**] पूज्य, धर्मात्मा, [**सुवत्त सुयणे महासत्ते**] रूपवान्, सुजन, महापराक्रमी इत्यादि [**कत्थवि ण रमइ**] किसी भी पुरुष से प्रेम नहीं करती।

भावार्थ : कोई समझे कि मैं बड़ा कुलवान् हूँ, मेरे बड़ों की सम्पत्ति है, वह कहाँ जाती है ? तथा मैं धैर्यवान् हूँ, कैसे गमाऊँगा ? तथा पण्डित हूँ, विद्वान हूँ, मेरी कौन लेगा ? उलटा मुझको तो देगा ही तथा मैं सुभट हूँ, कैसे किसी को लेने दूँगा ? तथा मैं पूजनीक हूँ, मेरी कौन लेवे है ? तथा मैं धर्मात्मा हूँ, धर्म से तो आती है, आई हुई कहाँ जाती है ? तथा मैं बड़ा रूपवान् हूँ, मेरा रूप देखकर ही जगत प्रसन्न है, लक्ष्मी कहाँ जाती है ? तथा मैं सज्जन हूँ, परोपकारी हूँ, कहाँ जाएगी ? तथा मैं बड़ा पराक्रमी हूँ, लक्ष्मी को बढ़ाऊँगा, जाने कहाँ दूँगा ? ये सब विचार मिथ्या हैं। यह लक्ष्मी देखते-देखते नष्ट हो जाती है; किसी के रक्षा करने से नहीं रहती है।

अब, कहते हैं कि जो लक्ष्मी मिली है, उसका क्या करना चाहिए ? सो बतलाते हैं —

ता भुंजिज्जउ लच्छी, दिज्जउ दाणे दया-पहाणेण।
जा जल-तरंगचवला, दो तिण्णि दिणाणि चिट्ठेइ॥१२॥

यह लक्ष्मी है जल-तरङ्ग समान, अति चञ्चल अहो।
मात्र दो दिन रहे इसको भोग लो, या दान दो॥१२॥

अन्वयार्थ : [**जा लच्छी**] जो लक्ष्मी [**जल-तरंगचवला**] पानी की लहर के समान चञ्चल है। [**दो तिण्णि दिणाणि चिट्ठेइ**] दो तीन दिन तक चेष्टा करती है अर्थात् विद्यमान है, तब तक [**ता भुंजिज्जउ**] उसको भोगो (अथवा) [**दया-पहाणेण दाणे दिज्जउ**] दया प्रधान होकर दान दो।

भावार्थ : कोई कृपणबुद्धि इस लक्ष्मी को इकट्ठी करके स्थिर रखना चाहता हो, उसको उपदेश है कि यह लक्ष्मी चञ्चल है, रहनेवाली नहीं है, जो थोड़े दिन विद्यमान

है तो भगवान की भक्ति निमित्त तथा परोपकार निमित्त दान में खरचो और विवेकसहित भोगो।

यहाँ प्रश्न - भोगने में तो पाप होता है फिर भोगने का उपदेश क्यों दिया?

उसका समाधान - इकट्ठी करके रखने में पहिले तो ममत्व बहुत होता है तथा किसी कारण से नाश हो जाए, तब बड़ा ही दुःख होता है। आसक्तपने से कषाय तीव्र तथा परिणाम सदा मलिन रहते हैं। भोगने से परिणाम उदार रहते हैं, मलिन नहीं रहते। उदारता से भोग सामग्री में खर्च करे, तो संसार में यश फैलता है और मन भी उज्ज्वल/प्रसन्न रहता है। यदि किसी अन्य कारण से नाश भी हो जाए तो बहुत दुःख नहीं होता है — इत्यादि भोगने में भी गुण होते हैं। कृपण के तो कुछ भी गुण नहीं होता; केवल मन की मलिनता का ही कारण है। यदि कोई सर्वथा त्याग ही करे तो उसको भोगने का उपदेश नहीं है।

यहाँ, लक्ष्मी की अनित्यता का वर्णन चल रहा है —

जो पुण लच्छिं संचदि, ण य भुञ्जदि णेय देदि पत्तेसु।
सो अप्पाणं वंचदि, मणुयत्तं णिप्फलं तस्स॥१३॥

संचय करे जो लक्ष्मी, नहिं भोगता ना दान दे।
निज आत्म को ठगता सदा, नर जन्म उसका व्यर्थ है॥१३॥

अन्वयार्थ : [**पुण**] और [**जो लच्छिं संचदि**] जो लक्ष्मी को इकट्ठी करता है, [**ण य भुञ्जदि**] न तो भोगता है [**पत्तेसु णेय देदि**] और न पात्रों के निमित्त दान करता है, [**सो अप्पाणं वंचदि**] वह अपनी आत्मा को ठगता है; [**तस्स मणुयत्तं णिप्फलं**] उसका मनुष्यपना निष्फल है।

भावार्थ : जिस पुरुष ने लक्ष्मी को पा करके सञ्चय ही किया, दान तथा भोग में खर्च नहीं की, उसने मनुष्यभव पा करके क्या किया? निष्फल ही खोया, केवल अपनी आत्मा को ठगा।

लक्ष्मी को जमीन में गाड़नेवाला, उसे पत्थर के समान करता है - ऐसा अब कहते हैं —

जो संचिऊण लच्छिं, धरणियले संठवेदि अइदूरे।
सो पुरिसो तं लच्छिं, पाहाण-समाणियं कुणइ॥१४॥

संचय करे जो लक्ष्मी को, भूमितल में गाड़ता।
वह पुरुष लक्ष्मी को करे, पाषाणवत् यह जानना ॥१४॥

अन्वयार्थ : [**जो लच्छिं संचिऊण**] जो पुरुष, लक्ष्मी को सञ्चय करके [**अइदूरे धरणियले संठवेदि**] बहुत नीचे जमीन में गाड़ता है, [**सो पुरिसो तं लच्छिं**] वह पुरुष उस लक्ष्मी को [**पाहाण-समाणियं कुणइ**] पत्थर के समान करता है।

भावार्थ : जैसे मकान की नींव में पत्थर रखा जाता है, वैसे ही इसने लक्ष्मी को गाड़ी, तब वह पत्थर के समान हुई।

ऐसी लक्ष्मी को परलक्ष्मी के समान कहा है —

अणवरयं जो संचदि, लच्छिं ण य देदि णेय भुञ्जेदि।
अप्पणिया विय लच्छी, पर-लच्छिसचाणिया तस्स ॥१५॥

संचय करे जो लक्ष्मी, नहिं भोगता ना दान दे।
उसके लिए निज लक्ष्मी, पर लक्ष्मीवत् ही जानिए ॥१५॥

अन्वयार्थ : [**जो**] पुरुष [**लच्छिं**] लक्ष्मी को [**अणवरयं**] निरन्तर [**संचदि**] सञ्चित करता है; [**ण य देदि**] न दान करता है, [**णेय भुञ्जेदि**] न भोगता है, [**तस्स अप्पणिया विय लच्छी**] उसके अपनी लक्ष्मी भी [**पर लच्छिसमाणिया**] पर की लक्ष्मी के समान है।

भावार्थ : जो लक्ष्मी को पाकर दान-भोग नहीं करता है, उसके वह लक्ष्मी, दूसरे की है; आप तो रखवाला (चौकीदार) है, लक्ष्मी को कोई दूसरा ही भोगेगा।

और भी लक्ष्मी के प्रति मोहित जीव की दशा बतलाते हैं —

लच्छी-संसत्तमणो, जो अप्पाणं धरेदि कट्ठेण।
सो राइ-दाइयाणं, कज्जं साहे हि मूढप्पा ॥१६॥

आसक्त चित हो लक्ष्मी में, आत्मा को कष्ट दे।
वह मूढ़ नृप अरु परिजनों के, कार्य ही साधन करे ॥१६॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो पुरुष [**लच्छीसंसत्तमणो**] लक्ष्मी में आसक्त चित्त होकर

[**अप्पाणं कट्ठेण धरेदि**] अपनी आत्मा को कष्टसहित रखता है, [**सो मूढप्पा**] वह मूढ़ात्मा [**राइदाइयाणं**] राजा तथा कुटुम्बियों का [**कज्जं साहेहि**] कार्य सिद्ध करता है।

भावार्थ : लक्ष्मी में आसक्त चित्त होकर, इसको पैदा करने के लिए तथा रक्षा करने के लिए अनेक कष्ट सहता है, सो उस पुरुष को तो केवल कष्ट ही फल होता है। लक्ष्मी को तो कुटुम्ब भोगेगा या राजा लेवेगा।

— ऐसा जीव लक्ष्मी का दास है —

जो वड्ढारदि लच्छिं, बहु-विह-बुद्धीहिं णेय तिप्पेदि।
सव्वारंभं कुव्वदि, रत्ति-दिणं तं पि चिंतेइ॥१७॥
ण य भुंजदि वेलाए, चिंतावत्थो ण सुवदि रयणीए।
सो दासत्तं कुव्वदि, विमोहिदो लच्छि-तरूणीए॥१८॥

बहु भाँति बुद्धि से बढ़ाये, लक्ष्मी नहिं तृप्त हो।
आरम्भ सब ही करे इसका, रात दिन चिन्तन करे॥१७॥
भोजन करे नहिं समय पर, चिन्तिन रहे सोये नहीं।
श्री कामिनी में मुग्ध होकर, दास वह उसका बने॥१८॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो पुरुष [**बहुविहबुद्धीहिं**] अनेक प्रकार की कला चतुराई और बुद्धि के द्वारा [**लच्छिं वड्ढारदि**] लक्ष्मी को बढ़ाता है, [**णेय तिप्पेदि**] तृप्त नहीं होता है, [**सव्वारंभं कुव्वदि**] इसके लिए असि, मसि, कृषि आदिक सब आरम्भ करता है, [**रत्तिदिणं तं पि चिंतेइ**] रात-दिन उसी के आरम्भ का चिन्तवन करता है, [**वेलाए ण स भुंजदि**] समय पर भोजन नहीं करता है, [**चिंतावत्थो रयणीए ण सुवदि**] चिन्तित होता हुआ रात में सोता भी नहीं है, [**सो**] वह पुरुष [**लच्छि-तरूणीए विमोहिदो**] लक्ष्मीरुपी युवती से मोहित होकर [**दासत्तं कुव्वदि**] उसका किङ्करपना करता है।

भावार्थ : जैसे, जो स्त्री का किङ्कर होता है, उसको संसार में 'मोहल्या' ऐसे निंद्यनाम से पुकारते हैं। इसी प्रकार जो पुरुष निरन्तर लक्ष्मी के निमित्त ही प्रयास करता है, वह लक्ष्मीरूपी स्त्री का मोहल्या है।

अब, जो लक्ष्मी को धर्मकार्य में लगाता है, उसकी प्रशंसा करते हैं :—

जो वड्ढमाण लच्छिं, अणवरयं देदि धम्मकज्जेसु।
सो पंडिएहिं थुव्वदि, तस्स वि सहला हवे लच्छी॥१९॥

जो वृद्धिगत लक्ष्मी सदा, देता धरम के कार्य में।
पण्डित जनों से स्तुत्य, उसकी लक्ष्मी ही सफल है॥१९॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो पुरुष (पुण्य के उदय से) [**वड्ढमाण लच्छिं**] बढ़ती हुई लक्ष्मी को [**अणवरयं**] निरन्तर [**धम्मकज्जेसु देदि**] धर्म के कार्यों में देता है, [**सो पंडिएहिं थुव्वदि**] वह पुरुष पण्डितों द्वारा स्तुति करने योग्य है [**वि तस्स सहला हवे लच्छी**] और उसी की लक्ष्मी सफल है।

भावार्थ : पूजा, प्रतिष्ठा, यात्रा, पात्रदान, परोपकार इत्यादि धर्मकार्यों में खर्च की गयी लक्ष्मी ही सफल है, पण्डित लोग भी उसकी प्रशंसा करते हैं।

सत्कार्यों में लक्ष्मी खर्च करनेवाले का जन्म सफल है —

एवं जो जाणित्ता, विहलिय-लोयाण धम्म-जुत्ताणं।
णिरवेक्खो तं देदि, हु तस्स हवे जीवियं सहलं॥२०॥

यह जानकर धर्मात्मा, निर्धन जनों के लिए जो।
निरपेक्ष होकर दान दे, नर-जन्म उसका सफल है॥२०॥

अन्वयार्थ : [**जो एवं जाणित्ता**] जो पुरुष ऐसा जानकर [**धम्मजुत्ताणं विहलिय-लोयाण**] बढ़ती हुई लक्ष्मी को, धर्मयुक्त—ऐसे निर्धन लोगों के लिए [**णिरवेक्खो**] प्रत्युपकार की इच्छा से रहित होकर, [**तं देदि**] देता है, [**हु तस्स जीवियं सहलं हवे**] निश्चय से उसी का जन्म सफल होता है।

भावार्थ : अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए तो दान देनेवाले संसार में बहुत हैं। जो प्रत्युपकार की इच्छा से रहित होकर, धर्मात्मा तथा दुःखी दरिद्री पुरुषों को धन देते हैं, ऐसे विरले हैं; उनका जीवन सफल है।

अब, मोह का माहात्म्य दिखाते हैं —

जल बुब्बुय-सारिच्छं, धणजोव्वण जीवियं पि पेच्छंता।
मण्णंति तो वि णिच्चं, अइ-बलिओ मोह-माहप्पो ॥२१॥

जल बुदबुदे सम देखकर, जीतव्य यौवन लक्ष्मी।
पर नित्य माने जो उन्हें, यह मोह महिमा है बली ॥२१॥

अन्वयार्थ : (यह प्राणी) [**धणजोव्वणजीवियं**] धन, यौवन, जीवन को [**जलबुब्बुय-सारिच्छं**] जल के बुदबुदे के समान (तुरन्त नष्ट होते) [**पेच्छंता पि**] देखते हुए भी, [**णिच्चं मण्णंति तो वि**] नित्य मानता है, यह बड़े ही आश्चर्य की बात है ! सत्य ही है [**मोह-माहप्पो अइबलिओ**] मोह का माहात्म्य बड़ा बलवान है।

भावार्थ : वस्तुस्वरूप का अन्यथा ज्ञान कराने में मदिरा पीना, ज्वरादिक रोग, नेत्र विकार, अन्धकार इत्यादि अनेक कारण हैं परन्तु यह मोहभाव सबसे बलवान है; वस्तु को प्रत्यक्ष विनाशीक देखता है तो भी नित्य ही मान्य कराता है तथा मिथ्यात्व, काम, क्रोध, शोक इत्यादिक हैं, वे सब मोह ही के भेद हैं, ये सब ही वस्तुस्वरूप में अन्यथा बुद्धि कराते हैं।

अब, इस कथन का सङ्कोच / उपसंहार करते हैं —

चइऊण महामोहं, विसए मुणिऊण भंगुरे सव्वे।
णिव्विसयं कुणह मणं, जेण सुहं उत्तमं लहइ ॥२२॥

हे भव्य! त्यागो मोह जानो, विषय सुख नश्वर सदा।
मन को करो विरहित विषय से, पाओ उत्तम सुख सदा ॥२२॥

अन्वयार्थ : (हे भव्य जीवों!) [**सव्वे विसए भंगुरे मुणिऊण**] समस्त विषयों को विनाशीक जानकर [**महामोहं चइऊण**] महामोह को छोड़कर, [**मणं णिव्विसयं कुणह**] अपने मन को विषयों से रहित करो। [**जेण उत्तम सुहं लहइ**] जिससे उत्तम सुख को प्राप्त करो।

भावार्थ : पूर्वोक्त प्रकार से संसार, देह, भोग, लक्ष्मी इत्यादि को अस्थिररूप दिखाये, उनको सुनकर जो अपने मन को विषयों से छुड़ाकर (अपने को नित्य ज्ञानानन्दमय और) उनको अस्थिररूप भावेगा, वह भव्यजीव सिद्धपद के सुख को पावेगा।

इति अध्रुवानुप्रेक्षा समाप्ता ॥१॥

अशरण-अनुप्रेक्षा

अब, अशरण अनुप्रेक्षा का वर्णन करते हुए आचार्यदेव कहते हैं —

तत्थ भवे किं सरणं, जत्थ सुरिंदाण दीसदे विलओ।
हरिहरबंभादीया, कालेण य कवलिया जत्थ॥२३॥

हरि हर तथा ब्रह्मादि को भी, काल ग्रसित करे अहो।
देवेन्द्र भी हों नष्ट फिर, जग में शरण किसकी कहो॥२३॥

अन्वयार्थ : [**जत्थ सुरिंदाण विलओ दीसदे**] जिस संसार में देवों के इन्द्र का नाश देखा जाता है, [**जत्थ हरिहरबंभादीया कालेण य कवलिया**] जहाँ हरि अर्थात् नारायण, हर अर्थात् रुद्र, ब्रह्मा अर्थात् विधाता आदि शब्द से बड़े-बड़े पदवीधारक सब ही काल द्वारा ग्रसे गये, [**तत्थे किं सरणं भवे**] उस संसार में कौन शरण होवे ? अर्थात् कोई भी नहीं होवे।

भावार्थ : शरण उसको कहते हैं, जहाँ अपनी रक्षा हो; सो संसार में जिनका शरण विचारा जाता है, वे ही काल-पाकर नष्ट हो जाते हैं, वहाँ कैसा शरण ?

अब, इसका दृष्टान्त कहते हैं —

सिंहस्स कमे पडिदं, सारंगं जह ण रक्खदे को वि।
तह मिच्चुणा य गहिदं, जीवं पि ण रक्खदे को वि॥२४॥

ज्यों सिंह पग में फँसे मृग का, कोई नहिं रक्षक अहो!।
त्यों मृत्यु-मुख में पड़े जन का, कौन है रक्षक कहो ?॥२४॥

अन्वयार्थ : [**जह सिंहस्स कमे पडिदं**] जैसे (वन में) सिंह के पैर नीचे पड़े हुए [**सारंगं को वि ण रक्खदे**] हिरण की कोई भी रक्षा करनेवाला नहीं है; [**तह मिच्चुणा**

य गहिदं जीवं पि] वैसे ही (संसार में) मृत्यु के द्वारा ग्रहण किए हुए जीव की **[को वि ण रक्खदे]** कोई भी रक्षा नहीं कर सकता है।

भावार्थ : वन में सिंह, मृग को पैर के नीचे दाब ले, तब उसकी (मृग की) कौन रक्षा करे ? वैसे ही यहाँ काल का दृष्टान्त जानना चाहिए।

आगे, इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं —

जइ देवो वि य रक्खदि, मंतो तंतो य खेत्तपालो य।
मियमाणं पि मणुस्सं, तो मणुया अक्खया होंति॥२५॥

यदि देव कोई मन्त्र तन्त्र, क्षेत्रपालादिक अरे।
मरते हुए को बचावें तो, मनुज कोई नहीं मरे॥२५॥

अन्वयार्थ : [जइ मियमाणं पि मणुस्सं] यदि मरते हुए मनुष्य को **[देवो वि य मंतो तंतो य खेत्तपालो य रक्खदि]** कोई देव, मन्त्र, तन्त्र, क्षेत्रपाल और उपलक्षण से संसार जिनको रक्षक मानता है, वे सब ही रक्षा करने में समर्थ हों **[तो मणुया अक्खया होंति]** तो मनुष्य अक्षय होवें; कोई भी मरे नहीं।

भावार्थ : (नित्य निर्मोही पूर्ण ज्ञानानन्द स्व को भूलकर) लोग जीवित रहने के निमित्त (मोहवश होकर) देवपूजा, मन्त्र-तन्त्र, औषधि आदि अनेक उपाय करते हैं परन्तु निश्चय से विचार करें तो कोई जीवित दीखता नहीं है; लोग वृथा ही मोह से विकल्प पैदा करते हैं।

आगे, इसी अर्थ को और दृढ़ करते हैं —

अइ-बलिओ वि रउद्दो मरण-विहीणो ण दीसए को वि।
रक्खिजंतो वि सया रक्ख-पयारेहिं विविहेहिं॥२६॥

यदि कोई नर हो अति बली, अथवा भयङ्कर रुद्र हो।
बहु भाँति रक्षित जीव भी, नहिं मरणहीन कभी अहो!॥२६॥

अन्वयार्थ : (इस संसार में) **[अइबलिओ वि रउद्दो]** अत्यन्त बलवान् तथा अत्यन्त रौद्र (भयानक) **[विविहेहिं रक्खपयारेहि रक्खिजंतो वि सया]** और अनेक

रक्षा के प्रकार, उनसे निरन्तर रक्षा किया हुआ भी [**मरणविहीणो को वि ण दीसए**] मरणरहित कोई भी नहीं दीखता है।

भावार्थ : (अपने को तो भूलते ही हैं और पर में इष्ट-अनिष्ट मानकर) अनेक रक्षा के प्रकार — गढ़, कोट, सुभट, शस्त्रादिक को शरण मानकर, कोटि उपाय करते हैं परन्तु मरण से कोई बचता नहीं; सब उपाय विफल जाते हैं।

अब, शरण की कल्पना करे, उसको अज्ञान बताते हैं —

एवं पेच्छंतो वि हु, गह-भूय-पिसाय-जोइणी-जक्खं।
सरणं मण्णइ मूढो, सुगाढ-मिच्छत्त-भावादो ॥२७॥

यह जानकर भी शरण माने, मूढ़ मिथ्याभाव से।
ग्रह भूत व्यन्तर यक्ष और, पिशाच योगिनि आदि में ॥२७॥

अन्वयार्थ : [**एवं पेच्छंतो वि हु**] ऐसे (पूर्वोक्त प्रकार अशरण) प्रत्यक्ष देखता हुआ भी [**मूढो**] मूढ़ प्राणी [**सुगाढ-मिच्छत्त-भावादो**] तीव्र मिथ्यात्वभाव से [**गह - भूय-पिसाय-जोइणी-जक्खं**] सूर्यादि ग्रह, भूत, व्यन्तर, पिशाच, योगिनी, चण्डिकादिक, यक्ष, मणिभद्रादिक को [**सरणं मण्णइ**] शरण मानता है।

भावार्थ : यह प्राणी प्रत्यक्ष जानता है कि मरण से बचानेवाला कोई भी नहीं है तो भी ग्रहादिक को शरण मानता है, सो यह तीव्र मिथ्यात्व का माहात्म्य है।

अब, मरण आयु क्षय से होता है, यह कहते हैं —

आयु-क्खयेण मरणं, आउं दाऊण सक्कदे को वि।
तह्मा देविंदो वि य, मरणाउ ण रक्खदे को वि॥२८॥

आयु क्षय से मरण हो, पर आयु दे सकता नहीं।
कोई किसी को अतः सुर भी, बचा सकते हैं नहीं ॥२८॥

अन्वयार्थ : [**आयु-क्खयेण मरणं**] आयुकर्म के क्षय से मरण होता है [**आउं दाऊ ण सक्कदे को वि**] और आयुकर्म कोई किसी को देने में समर्थ नहीं है; [**तह्मा देविंदो वि य**] इसलिए देवों का इन्द्र भी [**मरणाउ को वि ण रक्खदे**] मरने से किसी की रक्षा नहीं कर सकता।

भावार्थ : मरण, आयु पूर्ण होने से होता है और आयु कोई किसी को देने में समर्थ नहीं है, तब रक्षा करनेवाला कौन ? इसका विचार करो!

आगे, इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं —

अप्पाणं पि चवंतं, जइ सक्कदि रक्खिदुं सुरिंदो वि।
तो किं छंडदि सग्गं, सव्वुत्तम-भोय-संजुत्तं॥२९॥

देवेन्द्र भी यदि मरण से, निज को बचा सकते कभी।
तो भोगमय सुरधाम को, क्यों छोड़ते वे इन्द्र भी॥२९॥

अन्वयार्थ : [**जइ सुरिंदो वि**] यदि देवों का इन्द्र भी [**अप्पाणं पि चवंतं**] अपने को चयते (मरते) हुए [**रक्खिदुं सक्कदि**] रोकने में समर्थ होता [**तो सव्वुत्तम-भोय-संजुत्तं**] तो सर्वोत्तम भोगों से संयुक्त [**सग्गं किं छंडदि**] स्वर्ग को क्यों छोड़ता ?

भावार्थ : सर्व भोगों का निवास स्थान अपना वश चलते कौन छोड़े ?

अब, परमार्थ शरण दिखाते हैं —

दंसण-णाण-चरित्तं, सरणं सेवेहि परम-सद्धाए।
अण्णं किं पि ण सरणं, संसारे संसरंताणं॥३०॥

दृग-ज्ञान-चारित्र शरण हैं, सेवन करो श्रद्धान से।
संसार में भ्रमते हुए को, अन्य कुछ नहिं शरण है॥३०॥

अन्वयार्थ : (हे भव्य!) [**परम-सद्धाए**] परम श्रद्धा से [**दंसणणाणचरित्तं**] दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप [**सरणं सेवेहि**] शरण का सेवन कर। [**संसारे संसरंताण**] इस संसार में भ्रमण करते हुए जीवों को [**अण्णं किं पि ण सरणं**] अन्य कुछ भी शरण नहीं है।

भावार्थ : सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अपना स्वरूप है, सो यह ही परमार्थरूप (वास्तव में) शरण है; अन्य सब अशरण हैं। (सम्यग्दर्शन का विषय अपना त्रैकालिक निश्चय परमात्मा है, ऐसी) निश्चयश्रद्धापूर्वक यह ही शरण ग्रहण करो, ऐसा उपदेश है।

आगे, इसी को दृढ़ करते हैं —

अप्पाणं पि य सरणं, खमादि-भावेहिं परिणदं होदि।
तिव्व-कषायाविट्ठो, अप्पाणं हणदि अप्पेण ॥३१॥

जो क्षमादिक भावमय, परिणमित हो, वह शरण है।
जो युक्त तीव्रकषाय है वह, आप से आपहि हने ॥३१॥

अन्वयार्थ : [**य अप्पाणं खमादिभावेहिं परिणदं होदि सरणं**] जो अपने को क्षमादि दश लक्षणरूप परिणत करता है, सो शरण है [**तिव्वकषायाविट्ठो अप्पेण अप्पाणं हणदि**] और जो तीव्रकषायुक्त होता है, सो अपने ही द्वारा अपने को ही हनता है।

भावार्थ : परमार्थ से विचार करें तो (स्वयं अपना गुरु-शिष्य, उपास्य-उपासक, भक्त-भगवान और स्वयं ही शत्रु व मित्र है)। आप ही अपनी रक्षा करनेवाला है तथा आप ही आपको घातनेवाला है। (ज्ञातास्वभाव की अरुचि ही क्रोध है और रागादि करनेयोग्य हैं – मेरे हैं, वह रागादि की रुचि है; उसी का नाम निश्चय से क्रोध है)। क्रोधादिरूप परिणाम करता है, तब शुद्धचैतन्य का घात होता है और क्षमादि परिणाम करता है, तब अपनी रक्षा होती है। इन ही भावों से जन्म-मरण से रहित होकर अविनाशी पद प्राप्त होता है।

दोहा

वस्तुस्वभावविचारतैं, शरण आपकूं आप।
व्यवहारे पंच परमगुरु, अवर सकल संताप ॥२॥

इति अशरणानुप्रेक्षा समाप्ता ॥२॥

संसार-अनुप्रेक्षा

पहले दो गाथाओं में संसार का सामान्य स्वरूप कहते हैं —

एक्कं चयदि शरीरं, अण्णं गिण्हेदि णवणवं जीवो।
पुणु पुणु अण्णं अण्णं, गिण्हदि मुंचेदि बहुवारं॥३२॥
एक्कं जं संसरणं, णाणदेहेसु हवदि जीवस्स।
जो संसारो भण्णदि, मिच्छकसाएहिं जुत्तस्य॥३३॥

एक तन को छोड़ चेतन, अन्य तन धारण करे।
बार-बार नवीन तन, ग्रहना यही संसार है॥३२॥
मिथ्यात्व और कषाय से, होता विविध तन का ग्रहण।
नए तन को ग्रहण करना — छोड़ना संसार है॥३३॥

अन्वयार्थ : [**मिच्छकसाएहिं जुत्तस्स जीवस्स**] मिथ्यात्व अर्थात् सर्वथा एकान्तरूप वस्तु को श्रद्धा में लाना और कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ — इनसे युक्त इस जीव का [**जं णाणदेहेसु संसरणं हवेदि**] जो अनेक शरीरों में संसरण अर्थात् भ्रमण होता है, [**जो संसारो भण्णदि**] वह संसार कहलाता है। वह किस तरह ? सो ही कहते हैं। [**जीवो एक्कं शरीरं चयदि**] यह जीव, एक शरीर को छोड़ता है [**पुणु णवणवं गिण्हेदि**] फिर नवीन (शरीर) को ग्रहण करता है; [**पुणु अण्णं अण्णं बहुवारं गिण्हदि मुंचेदि**] फिर अन्य-अन्य शरीर को कई बार धारण करता है और छोड़ता है। [**सो संसारो भण्णदि**] वह ही संसार कहलाता है।

भावार्थ : (निश्चय अपने को भूल जानेरूप मिथ्यात्व ही संसार है और व्यवहार से) एक शरीर से अन्य शरीर की प्राप्ति होते रहना ही संसार है।

अब, ऐसे संसार में संक्षेप से चार गतियाँ हैं तथा अनेक प्रकार के दु:ख हैं। सो प्रथम ही नरकगति में दु:ख है, यह छह गाथाओं में कहते हैं–

पावोदयेण णरए, जायदि जीवो सहेदि बहुदुक्खं।
पंच-पयारं विविहं, अणोवमं अण्ण-दुक्खेहिं ॥३४॥

पाप कर्मों के उदय से, नरक में उत्पन्न हो।
पञ्च विध उपमारहित, बहुभाँति दु:ख सहन करे ॥३४॥

अन्वयार्थ : [**जीवो पावोदयेण णरए जायदि**] यह जीव, पाप के उदय से नरक में उत्पन्न होता है, [**विविहं अण्णदुक्खेहिं पंचपयारं अणोवमं बहुदुक्खं सहेदि**] वहाँ कई तरह के पञ्च प्रकार से उपमारहित, ऐसे बहुत से दु:ख सहता है।

भावार्थ : जो जीवों की हिंसा करता है, झूठ बोलता है, परधन हरता है, परस्त्री तकता[१] है, बहुत आरम्भ करता है, परिग्रह में आसक्त होता है, बहुत क्रोधी, प्रचुर मानी, अति कपटी, अति कठोर भाषी, पापी, चुगल, कृपण, देव-शास्त्र-गुरु का निन्दक, अधम, दुर्बुद्धि, कृतघ्नी और बहुत शोक/दु:ख करने ही की जिसकी प्रकृति हो — ऐसा जो जीव होता है, वह मरकर नरक में उत्पन्न होता है; अनेक प्रकार के दु:ख को सहता है।*

अब, पाँच प्रकार के दु:खों को कहते हैं —

असुरोदीरिय-दुक्खं, सारीरं माणसं तहा विविहं।
खित्तुब्भवं च तिव्वं, अण्णोण्ण-कयं च पंचविहं ॥३५॥

असुर देवों ने दिया, बहुभाँति तन, मन से हुआ।
क्षेत्र से उत्पन्न, आपस में परस्पर दु:ख दिया ॥३५॥

अन्वयार्थ : नरक में [**असुरोदीरियदुक्खं**] (१) असुरकुमार देवों द्वारा उत्पन्न किया हुआ दु:ख, [**सारीरं माणसं**] (२) शरीर से उत्पन्न हुआ और (३) मन से हुआ, [**तहा विविहं खित्तुब्भवं**] (४) अनेक प्रकार क्षेत्र से उत्पन्न हुआ, [**च अण्णोण्णकयं पंचविहं**] और (५) परस्पर में किया हुआ — ऐसे पाँच प्रकार के दु:ख हैं।

---

१. तकता है=कामयुक्त दृष्टि से देखता है।

* [संयोग का दु:ख नहीं है किन्तु देहादि में जितना ममत्व है उतना ही दु:ख समझना चाहिए।]

भावार्थ : तीसरे नरक तक तो (१) असुरकुमारदेव कुतूहलमात्र जाते हैं, वे नारकियों को देखकर आपस में लड़ाते हैं, अनेक प्रकार से दु:खी करते हैं; (२) नारकियों का शरीर ही पाप के उदय से स्वयमेव अनेक रोगोंसहित, बुरा, घिनावना, दु:खमयी होता है; (३) उनका चित्त भी महाक्रूर दु:खरूप ही होता है; (४) नरक का क्षेत्र महाशीत, उष्ण, दुर्गन्ध और अनेक उपद्रवसहित होता है; (५) नारकी जीव आपस में बैर के संस्कार से छेदन, भेदन, मारन, ताड़न और कुम्भीपाक आदि करते हैं। वहाँ का दु:ख उपमारहित होता है।

आगे इसी दु:ख को विशेषरूप से कहते हैं —

छिज्जइ तिलतिलमित्तं, भिंदिज्जइ तिल तिलंतरं सयलं।
वज्जग्गिए कढिज्जइ, णिहिप्पए पूयकुंडम्हि ॥३६॥

तिल मात्र छेदन करें तन, पुन: छेदें खण्ड को।
वज्राग्नि में उसको पकाकर, फेंक देते कुण्ड में ॥३६॥

अन्वयार्थ : (नरक में) [**तिलतिलमित्तं छिज्जइ**] तिलतिलमात्र छेद देते हैं, [**सयलं तिलतिल भिंदिज्जइ**] शकल अर्थात् खण्ड को भी तिलतिलमात्र भेद देते हैं, [**वज्जग्गिए कढिज्जइ**] वज्राग्नि में पकाते हैं [**पूयकुंडम्हि णिहिप्पए**] राध के कुण्ड में फेंक देते हैं।

नरक के दु:ख वर्णनातीत हैं —

इच्चेवमाइ-दुक्खं, जं णरए सहदि एयसमयम्हि।
तं सयलं वण्णेदुं, ण सक्कदे सहस-जीहो वि ॥३७॥

इत्यादि पूर्व कथित दु:खों को, सहे वह इक समय में।
इक सहस रसना से नहीं, वर्णन दु:खों का हो सके ॥३७॥

अन्वयार्थ : [**इच्चेवमाइ जं दुक्खं**] इति अर्थात् ऐसे एवमादि अर्थात् पूर्व गाथा में कहे गये, उनको आदि लेकर जो दु:ख, उनको [**णरए एयसमयम्हि सहदि**] नरक में एक समय में जीव सहता है, [**तं सयलं वण्णेदुं**] उन सबका वर्णन करने के लिए [**सहसजीहो वि ण सक्कदे**] हजार जीभवाला भी समर्थ नहीं होता है।

भावार्थ : इस गाथा में नरक के दु:ख, वचन द्वारा अवर्णनीय हैं — ऐसा कहा है।

अब, कहते हैं कि नरक का क्षेत्र और नारकियों के परिणाम दु:खमयी ही हैं —

सव्वं पि होदि णरये, खित्तसहावेण दुक्खदं असुहं।
कुविदा वि सव्वकालं, अण्णोण्णं होंति णेरइया ॥३८॥

है नरक क्षेत्र स्वभाव सब, कारण दु:खद अरु अशुभ हैं।
सब नारकी रहते सदा क्रोधित परस्पर दु:ख सहें ॥३८॥

अन्वयार्थ : [णरये खित्तसहावेण सव्वं पि दुक्खदं असुहं होदि] नरक में क्षेत्र स्वभाव से ही सब कारण दु:खदायक तथा अशुभ हैं। **[णेरइया सव्वकालं अण्णोण्णं कुविदा होंति]** नारकी जीव सदा काल परस्पर में क्रोधित होते रहते हैं।

भावार्थ : क्षेत्र तो [उपचार के] स्वभाव से दु:खरूप है [किन्तु तीव्र क्रोधादिवश नारकी जीव ही] आपस में क्रोधित होते हुए, वह उसको मारता है, वह उसको मारता है — इस तरह निरन्तर दु:खी ही रहते हैं।

नारकी जीव दीर्घकाल तक नरक में दु:ख सहता है —

अण्ण-भवे जो सुयणो, सो वि य णरये हणेइ अइ-कुविदो।
एवं तिव्व-विवागं, बहु-कालं विसहदे दु:खं ॥३९॥

पूर्व भव का सुजन भी, हो नारकी क्रोधित हुआ।
घात करता इस तरह, चिरकाल तक बहु दु:ख सहे ॥३९॥

अन्वयार्थ : [अण्णभवे जो सुयणो] पूर्वभव में जो सज्जन कुटुम्ब का था, **[सो वि य णरये अइ-कुविदो हणेइ]** वह भी नरक में क्रोधित होकर घात करता है; **[एवं तिव्वविवागं दु:खं बहुकालं विसहदे]** इस प्रकार तीव्र है विपाक जिसका, ऐसा दु:ख बहुत काल तक नारकी सहता है।

भावार्थ : *ऐसे दु:ख कई सागरों तक सहता है, आयु पूरी हुए बिना वहाँ से निकलना नहीं होता है।

---

* यहाँ एक समय की भूल के फलरूप महान दु:ख दण्ड को।

अब, तिर्यञ्चगति सम्बन्धी दु:खों को साढ़े चार गाथाओं में कहते हैं —

तत्तो णीसरिदूणं, जायदि तिरएसु बहुवियप्पेसु।
तत्थ वि पावदि दु:खं, गब्भे वि य छेयणादीयं ॥४०॥

निकले वहाँ से विविध भाँति, तिर्यञ्च में उत्पन्न हो।
सम्मूर्च्छन गर्मज हुआ, बहु छेदनादिक दु:ख सहे ॥४०॥

अन्वयार्थ : यह जीव [**तत्तो णीसरिदूणं**] उस नरक से निकलकर [**बहुवियप्पेसु तिरएसु जायदि**] अनेक भेदवाले तिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है, [**तत्थ वि गब्भे दु:खं पावदि**] वहाँ भी गर्भ में दु:ख पाता है। [**वि ये छेयणादीयं**] अपि शब्द से सम्मूर्च्छन होकर छेदनादि का दु:ख पाता है।

तिरिएहिंखज्जमाणो, दुट्ठमणुस्सेहिं हण्णमाणो वि।
सव्वत्थ वि संतट्ठो, भय-दुक्खं विसहदे भीमं ॥४१॥

व्याघ्रादि से खाया गया, मारा गया नर क्रूर से।
सन्तप्त होता सब जगह, भयभीत हो अति दु:ख सहे ॥४१॥

अन्वयार्थ : (उस तिर्यञ्चगति में यह जीव) [**तिरिएहिंखज्जमाणो**] सिंह-व्याघ्रादिक से खाये जाने का [**वि दुट्ठमणुस्सेहिं हण्णमाणो**] तथा दुष्ट मनुष्य, म्लेच्छ, व्याघ्र, धीवरादिक से मारा जाता है। [**सव्वत्थ वि संतट्ठो**] सब जगह दु:खी होता हुआ [**भीमं भयदुक्खं विसहदे**] रौद्र भयानक दु:ख को विशेषरूप से सहता है।

ऐसी दशा में कौन रक्षा करे ? —

अण्णोण्णं खज्जंता, तिरियां पावंति दारुणं दुक्खं।
माया वि जत्थ भक्खदि, अण्णो को तत्थ रक्खेदि ॥४२॥

भक्षण करें वे परस्पर, अति तीव्र दारूण दु:ख लहें।
जननी करे भक्षण जहाँ, फिर अन्य क्या रक्षा करे ॥४२॥

अन्वयार्थ : (जिस तिर्यञ्चगति में) [**तिरियां अण्णोण्णं खज्जंता**] यह तिर्यञ्च (जीव) परस्पर में खाये जाने का [**दारुणं दुक्खं पावंति**] उत्कृष्ट दु:ख पाता है। [**जत्थ**

माया वि भक्खदि] जहाँ जिसके गर्भ में उत्पन्न हुआ — वही माता भी भक्षण कर जाती है, **[तत्थ अण्णो को रक्खेदि]** वहाँ दूसरा कौन रक्षा करे ?

तिव्व-तिसाए तिसिदो, तिव्व-विभुक्खाइ भुक्खिदो संतो।
तिव्वं पावदि दुक्खं, उयर-हुयासेण डज्झंतो ॥४३॥

अति प्यास से प्यासा तथा, अति भूख से भूखा रहे।
उदराग्नि से जलता हुआ, अति तीव्र दारूण दुःख सहे ॥४३॥

अन्वयार्थ : (उस तिर्यञ्चगति में यह जीव) **[तिव्वतिसाए तिसिदो]** तीव्र प्यास से प्यासा, **[तिव्वविभुक्खाइ भुक्खिदो संतो]** तीव्र भूख से भूखा होता हुआ **[उयर-हुयासेण डज्झंतो]** उदराग्नि से जलता हुआ **[तिव्वं दुक्खं पावदि]** तीव्र दुःख पाता है।

अब, तिर्यञ्चगति के दुःखों के कथन का सङ्कोच/उपसंहार करते हैं —

एवं बहुप्पयारं, दुक्खं विसहेदि तिरियजोणीसु।
तत्तो णीसरदूणं, लद्धि-अपुण्णो णरो होदि ॥४४॥

पूर्वोक्त विविध प्रकार के, दुःख सहे तिर्यक् योनि में।
उस योनि को तज कर हुआ, लब्धि अपर्याप्तक मनुज ॥४४॥

अन्वयार्थ : [एवं] ऐसे (पूर्वोक्त प्रकार), **[तिरियजोणीसु]** तिर्यञ्च योनि में (जीव) **[बहुप्पयारं दुक्खं विसहेदि]** अनेक प्रकार के दुःख सहता है। **[तत्तो णीसरदूणं]** उस तिर्यञ्चगति से निकलकर **[लद्धिअपुण्णो णरो होदि]** लब्धि -अपर्याप्त (जहाँ पर्याप्ति पूरी ही नहीं होती) मनुष्य होता है।

अब, मनुष्यगति के दुःख बारह गाथाओं में कहते हैं। उनमें प्रथम ही गर्भ में उत्पन्न होने की अवस्था बतलाते हैं।

अह गब्भे वि य जायदि, तत्थ वि णिवड़ीकयंगपच्चंगो।
विसहदि तिव्वं दुक्खं, णिग्गममाणो वि जोणीदो ॥४५॥

गर्भ मे सिकुड़े हुए सब, अङ्ग और प्रत्यङ्ग हैं।
बाहर योनि से निकलते, समय अतिशय दुःख सहे ॥४५॥

अन्वयार्थ : [अह गब्भे वि य जायदि] अथवा गर्भ में भी उत्पन्न होता है तो **[तित्थ वि णिवड़ीकयंगपच्चंगो]** वहाँ भी सिकुड़ रहे हैं हाथ, पैर आदि अङ्ग तथा उँगली आदि प्रत्यङ्ग जिसके, ऐसा होता हुआ तथा **[जोणिदो णिग्गममाणो वि]** योनि से निकलते समय भी **[तिव्वं दुक्खं विसहदि]** तीव्र दुःख को सहता है।

फिर कैसा होता है ?, सो कहते हैं —

बालोपि पियरचत्तो, परउच्छिट्ठेण बड्ढदे दुहिदो।
एवं जायण-सीलो, गमेदि कालं महादुक्खं ॥४६॥

बालपन में ही मरे, माता-पिता तो दुःख सहे।
भीख माँगे और जूठन, से उदर पूर्ति करे ॥४६॥

अन्वयार्थ : [बालोपि पियरचत्तो, परउच्छिट्ठेण बड्ढदे दुहिदो] (गर्भ से निकलने के बाद में) बाल अवस्था में ही माता-पिता मर जाएँ, तब दूसरों की झूठन से बड़ा हुआ, **[एवं जायण-सीलो, महादुक्खं कालं गमेदि]** इस तरह भीख माँग-माँगकर उदरपूर्ति करके महा-दुःखी होता हुआ काल बिताता है।

अब, कहते हैं कि यह पाप का फल है —

पावेण जणो एसो, दुक्कम्म-वसेन जायदे सव्वो।
पुणरवि करेदि पावं, ण य पुण्णं को वि अज्जेदि ॥४७॥

पाप के ही उदय से, दुष्कर्म वश ये दुःख सहे।
पुनः पापहि करे, नहिं शुभ करे, यह अज्ञान है ॥४७॥

अन्वयार्थ : [एसो सव्वो जणो पावेण दुक्कम्म-वसेन जायदे] यह लौकिकजन सब ही पाप के उदय से असातावेदनीय, नीचगोत्र, अशुभनाम, आयु आदि दुष्कर्म के वश से ऐसे दुःख सहता है **[पुणरवि पावं करेदि]** तो भी फिर पाप ही करता है; **[ण य पुण्णं को वि अज्जेदि]** पूजा, दान, व्रत, तप, ध्यानादि लक्षण पुण्य को पैदा नहीं करता है, यह बड़ा अज्ञान है।

(इस प्रकार इस गाथा में साधारण पुण्य की चर्चा की है। अब, आगामी गाथा में धर्मी के पुण्य की चर्चा करते हैं।)

विरलो अज्जदि पुण्णं, सम्मादिट्ठी वएहिं संजुत्तो।
उवसमभावे सहियो, णिंदणगरहाहि संजुत्तो ॥४८॥

कोई विरला शुभ करे, सम्यक्त्व एवं व्रत सहित।
दोष की निन्दा तथा, गर्हा करे उपशम सहित ॥४८॥

अन्वयार्थ : [सम्मादिट्ठी वएहिं संजुत्तो] सम्यग्दृष्टि अर्थात् यथार्थ श्रद्धावान् और मुनि-श्रावक के व्रतों से संयुक्त; **[उवसमभावे सहियो]** उपशमभाव अर्थात् मन्द कषायरूप परिणामसहित, **[णिंदणगरहाहि संजुत्तो]** निन्दन अर्थात् अपने दोष याद कर पश्चाताप करना; गर्हण अर्थात् अपने दोष गुरु के पास जाकर प्रकट करना — इन दोनों से युक्त **[विरलो पुण्णं अज्जदि]** विरला ही ऐसा जीव है, जो पुण्य प्रकृतियों का (स्वभाव के भानपूर्वक) बन्ध करता है।

अब, कहते हैं कि पुण्यवान के भी इष्ट वियोगादि देखे जाते हैं —

पुण्णजुदस्स वि दीसइ, इट्ठविओयं अणिट्ठसंजोयं।
भरहो वि साहिमाणो, परिज्जिओ लहुय-भायेण ॥४९॥

इष्ट से बिछुड़े अनिष्ट, संयोग हो शुभवन्त हो।
अभिमान युत चक्री भरत भी, पराजित हुआ अनुज से ॥४९॥

अन्वयार्थ : [पुण्णजुदस्स वि इट्ठविओयं अणिट्ठसंजोयं दीसइ] पुण्य उदय सहित पुरुष के भी इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग देखा जाता है। **[साहिमाणो भरहो वि लहुयभायेण परिज्जिओ]** अभिमानसहित भरत चक्रवर्ती भी, छोटे भाई बाहुबली से पराजित हुआ।

भावार्थ : कोई समझता होगा कि जिनके बड़ा पुण्य का उदय है, उनके तो सुख है; सो संसार में तो सुख किसी के भी नहीं है। भरत चक्रवर्ती जैसे भी अपमानादि से दुःखी ही हुए तो औरों की क्या बात ?

आगे, इसी अर्थ से दृढ़ करते हैं —

सयलट्ठ विसह-जोओ, बहुपुण्णस्स वि ण सव्वहा होदि।
तं पुण्णं पि ण कस्स वि, सव्वं जे णिच्छिदं लहदि ॥५०॥

बहु पुण्यशाली भी नहीं, पाते समस्त विषय अहो।
सभी मनवाञ्छित लहे, यह पुण्य है किसको कहो?॥५०॥

अन्वयार्थ : (इस संसार में) [**सयलट्ठ विसहजोओ**] समस्त जो पदार्थ, वे ही हुए विषय अर्थात् भोग्य वस्तु, उनका योग [**बहुपुण्णस्स वि ण सव्वहा होदि**] बड़े पुण्यवानों को भी पूर्णरूप से नहीं मिलता है। [**तं पुण्णं पि ण कस्स वि**] ऐसा पुण्य किसी के भी नहीं है, [**जे सव्वं णिच्छिदं लहदि**] जिससे सब ही मनवाञ्छित मिल जाए।

भावार्थ : बड़े पुण्यवान् के भी वाञ्छित वस्तु में कुछ कमी रह ही जाती है, सब मनोरथ तो किसी के भी पूरे नहीं होते हैं, तब सर्वसुखी कैसे होवे?

कस्स वि णत्थि कलत्तं, अहव कलत्तं ण पुत्त-संपत्ती।
अह तेसिं संपत्ती, तह वि सरोओ हवे देहो॥५१॥

कोई नर नारी रहित, यदि नार हो तो सुत नहीं।
सुत प्राप्ति हो यदि भाग्य से, तो देह रोग रहित नहीं॥५१॥

अन्वयार्थ : [**कस्स वि कलत्तं णत्थि**] किसी मनुष्य के तो स्त्री नहीं है, [**अहव कलत्तं पुत्त-संपत्ती ण**] किसी के स्त्री है तो पुत्र की प्राप्ति नहीं है, [**अह तेसिं संपत्ती**] किसी के पुत्र की प्राप्ति है [**तह वि सरोओ हवे देहो**] तो शरीर रोगसहित है।

अह णीरोओ देहो, तो धण-धण्णाण णेय सम्पत्ति।
अह धण-धण्णं होदि हु, तो मरणं झत्ति ढुक्केइ॥५२॥

यदि हो निरोग शरीर तो, धन-धान्य की प्राप्ति नहीं।
धन-धान्य की भी प्राप्ति हो तो, मरण हो अल्पायु में॥५२॥

अन्वयार्थ : [**अह णीरोओ देहो**] यदि किसी के नीरोग शरीर भी हो [**तो धण-धण्णाण णेय सम्पत्ति**] तो धन्य-धान्य की प्राप्ति नहीं है, [**अह धण-धण्णं होदि हु**] यदि धन-धान्य की भी प्राप्ति हो जाए [**तो मरणं झत्ति ढुक्केइ**] तो शीघ्र मरण हो जाता है।

कस्स वि दुट्ठ-कलत्तं, कस्स वि दुव्वसण-वसणिओ पुत्तो।
कस्स वि अरिसमबंधू, कस्स वि दुहिदा वि दुच्चरिया॥५३॥

किसी की स्त्री दुराचारिणि, तथा दुर्व्यसन रत रहे।
सुत, भ्रात अरि-सम और पुत्री भी दुराचारिणि रहे॥५३॥

अन्वयार्थ : (इस मनुष्यभव में) **[कस्स वि दुट्ठकलत्तं]** किसी के तो स्त्री दुराचारिणी है, **[कस्स वि दुव्वसणवसणिओ पुत्तो]** किसी का पुत्र जुआ आदि दुर्व्यसनों में रत है, **[कस्स वि अरिसमबंधू]** किसी के शत्रु के समान कलही* (कलह/झगड़ा करनेवाला) भाई है, और **[कस्स वि दुहिदा वि दुच्चरिया]** किसी की पुत्री दुराचारिणी है।

कस्स वि मरदि सुपुत्तो, कस्स वि महिला विणस्सदे इट्ठा।
कस्स वि अग्गिपलित्तं, गिहं कुडंबं च डज्झेइ॥५४॥

मरता किसी का पुत्र प्यारा, और प्रिय नारी मरे।
किसी का घर और सब, परिवार अग्नि में जले॥५४॥

अन्वयार्थ : [कस्स वि सुपुत्तो मरदि] किसी का सुपुत्र मर जाता है, **[कस्स वि इट्ठा महिला विणस्सदे]** किसी के इष्ट (प्यारी) स्त्री मर जाती है, **[कस्स वि अग्गिपलित्तं, गिहं कुडंबं च डज्झेइ]** किसी के घर और कुटुम्ब सब ही अग्नि से जल जाते हैं।

एवं मणुयगदीए, णाणा दुक्खाइं विसहमाणो वि।
ण वि धम्मे कुणदि मइं, आरंभं णेय परिचयइ॥५५॥

इस तरह नरगति में अनेक, प्रकार बहु दु:ख सहे पर।
धर्माचरण बुद्धि करे नहिं, पाप कार्य तजे न नर॥५५॥

अन्वयार्थ : [एवं मणुयगदीए] इस तरह (यह जीव), मनुष्यगति में **[णाणा दुक्खाइं]** अनेक प्रकार के दु:खों को **[विसहमाणो वि]** सहता हुआ भी **[धम्मे मइं ण वि कुणदि]** धर्माचरण में बुद्धि नहीं करता है **[आरंभं णेय परिचयइ]** (और) पापारम्भ नहीं छोड़ता है।

सधणो वि होदि णिधणो, धण-हीणो तह य ईसरो होदि।
राया वि होदि भिच्चो, भिच्चो वि य होदि णर णाहो॥५६॥

* कलही=कलह (लड़ाई) करनेवाला।

धनवान हो निर्धन तथा, निर्धन मनुज धनवान हो।
नृप भी लहे दासत्व को, नौकर कभी नर नाथ हो ॥५६॥

अन्वयार्थ : [**सधणो वि होदि णिधणो**] धनसहित तो निर्धन हो जाता है, [**तह य धणहीणो ईसरो होदि**] वैसे ही जो धनरहित होता है, सो ईश्वर (धनी) हो जाता है [**राया वि भिच्चो होदि**] राजा भी किंकर (नौकर) हो जाता है [**य भिच्चो वि णरणाहो होदि**] और जो किंकर होता है, सो राजा हो जाता है।

सत्तू वि होदि मित्तो, मित्तो वि य जायदे तहा सत्तू।
कम्म-विवाय-वसादो, एसो संसार-सब्भावो ॥५७॥

शत्रु होते मित्र अथवा, मित्र भी शत्रु बनें।
पूर्व कर्म विपाक वश, यह ही जगत की रीति है ॥५७॥

अन्वयार्थ : [**कम्म-विवाय-वसादो**] कर्म विपाक के वश से [**सत्तू वि मित्तो होदि**] शत्रु भी मित्र हो जाता है [**तहा मित्तो वि य सत्तू जायदे**] और मित्र भी शत्रु हो जाता है, [**एसो संसार-सब्भावो**] ऐसा संसार का स्वभाव है।

भावार्थ : पुण्यकर्म के उदय से शत्रु भी मित्र हो जाता है और पापकर्म के उदय से मित्र भी शत्रु हो जाता है।

अब, देवगति का स्वरूप कहते हैं —

अह कहवि हवदि देवो, तस्स य जायेदि माणसं दुक्खं।
दट्ठूण महद्धीणं, देवाणं रिद्धिसंपत्ती ॥५८॥

पुण्य फल से देव हो, बहु ऋद्धि धारक देव की।
ऋद्धियों को देखकर, यह मानसिक अति दुःख लहे ॥५८॥

अन्वयार्थ : [**अह कहवि देवो हवदि**] अथवा बड़े कष्ट से देव भी होता है तो [**तस्स**] उसके [**महद्धीणं देवाणं**] बड़े ऋद्धिधारक देवों की [**रिद्धिसंपत्ती दट्ठूण**] ऋद्धि/सम्पत्ति को देखकर [**माणसं दुक्खं जायेदि**] मानसिक दुःख उत्पन्न होता है।

इट्ठविओगं दुक्खं, होदि महद्धीण विसय-तण्हादो।
विसयवसादो सुक्खं, जेसिं तेसिं कुतो तित्ती ॥५९॥

विषय तृष्णा महर्द्धिक देव इष्ट वियोग का।
दुःख सहें, विषयाधीन सुख में, तृप्ति कैसे हो कहो ॥५९॥

अन्वयार्थ : [**विसयतण्हादो**] विषयों की तृष्णा से [**महद्धीण**] महर्द्धिक देवों को भी [**इट्ठविओगं दुक्खं होदि**] इष्ट (ऋद्धि, देवाङ्गना आदि) वियोग का दुःख होता है [**जेसिं विसयवसादो सुक्खं**] जिनके विषयों के आधीन सुख है, [**तेसिं कुतो तित्ती**] उनके कैसे तृप्ति होवे ? तृष्णा बढ़ती रहती है।

अब, शारीरिक दुःख से मानसिक दुःख बड़ा है – ऐसा कहते हैं —

सारीरियदुक्खादो, माणसदुक्खं हवेइ अइपउरं।
माणसदुक्खजुदस्स हि, विसया वि दुहावहा हुंति ॥६०॥

देह दुःख से भी प्रचुर अति, मानसिक दुःख है अहो।
मानसिक दुःख युक्त देखें, दुःखद स्वरूप पदार्थ को ॥६०॥

अन्वयार्थ : (कोई समझता होगा कि शरीरसम्बन्धी दुःख बड़ा है; मानसिक दुःख तुच्छ है, उसको समझाते हैं) [**सारीरियदुक्खादो**] शारीरिक दुःख से [**माणसदुक्खं**] मानसिक दुःख [**अइपउरं हवेइ**] अति प्रचुर है अर्थात् कई गुना अधिक है। [**माणस-दुक्खजुदस्स हि**] (देखो!) मानसिक दुःखसहित पुरुष के [**विसया वि दुहावहा हुंति**] अन्य विषय बहुत भी होवें तो भी वे उसको दुःखदायी ही दिखते हैं।

भावार्थ : जब मानसिक चिन्ता होती है, तब सब ही सामग्री दुःखरूप दिखाई देती है।

देवाणं पि य सुक्खं, मणहरविसएहिं कीरदे जदि ही।
विषयवसं जं सुक्खं, दुक्खस्स वि कारणं तं पि ॥६१॥

मनहर विषय से सुखी मानें, देव को पर सुख न हो।
विषय के आधीन सुख भी, दुःख का कारण अहो ॥६१॥

अन्वयार्थ : [**जदि ही देवाणं पि य मणहरविसएहिं सुक्खं कीरदे**] यदि देवों के मनोहर विषयों से सुख समझा जावे तो सुख नहीं है। [**जं विषयवसं सुक्खं**] जो विषयों

के आधीन सुख है, [**तं पि दुक्खस्स वि कारणं**] वह दु:ख ही का कारण है।

भावार्थ : अन्य निमित्त से सुख मानते हैं, सो भ्रम है। जिस वस्तु को सुख का कारण मानते हैं, वही वस्तु कालान्तर में दु:ख का कारण हो जाती है।

अब कहते हैं कि इस तरह विचार करने पर कहीं भी सुख नहीं है —

एवं सुट्ठु-असारे, संसारे दुक्खसायरे घोरे।
किं कत्थ वि अत्थि सुहं, वियारमाणं सुणिच्चयदो॥६२॥

घोर दु:ख संसार सागर, सार बिन सब विधि अहो।
परमार्थ से सोचो जरा, इसमें कहाँ क्या सुख कहो॥६२॥

अन्वयार्थ : [**एवं सुट्ठु-असारे**] इस तरह सब प्रकार से असार [**दुक्खसायरे घोरे संसारे**] दु:ख के सागर भयानक संसार में [**सुणिच्चयदो वियारमाणं**] निश्चय से विचार किया जाए तो [**किं कत्थ वि सुहं अत्थि**] क्या कहीं भी कुछ सुख है? अर्थात् नहीं है।

भावार्थ : चार गतिरूप संसार है और चारों ही गतियाँ दुखरूप हैं, तब सुख कहाँ?

अब कहते हैं कि यह जीव पर्यायबुद्धि है; जिस योनि में उत्पन्न होता है, वहीं सुख मान लेता है —

दुक्कियकम्मवसादो, राया वि य असुइकीडओ होदि।
तत्थेव य कुणइ रइं, पेक्खह मोहस्स माहप्पं॥६३॥

दुष्कर्म वश नृप भी मरे, मल - कीट बन उत्पन्न हो।
किन्तु उसमें ही करे रति, मोह की महिमा अहो॥६३॥

अन्वयार्थ : [**मोहस्स माहप्पं पेक्खह**] (हे प्राणियों! तुम) मोह के माहात्म्य को देखो कि [**दुक्कियकम्मवसादो**] पापकर्म के वश से [**राया वि य असुइकीडओ होदि**] राजा भी (मरकर) विष्ठा का कीड़ा हो जाता है [**य तत्थेव रइं कुणइ**] और वहीं पर रति (प्रेम) मानता है, क्रीड़ा करता है।

अब कहते हैं कि इस प्राणी के एक ही भव में अनेक सम्बन्ध हो जाते हैं —

पुत्तो वि भाओ जाओ, सो वि य भाओ वि देवरो होदि।
माया होइ सवत्ती, जणणो वि य होइ भत्तारो ॥६४॥
एयम्मि भवे एदे, सम्बन्धा होंति एय जीवस्स।
अण्णभवे किं भण्णइ, जीवाणं धम्मरहिदाणं ॥६५॥

पुत्र ही भ्राता हुआ, अरु भ्रात देवर भी हुआ।
मात हो गई सौत एवं, तात भी पति हो गया ॥६४॥
एक भव में जीव के, सम्बन्ध इतने हो गए।
फिर अन्य भव में धर्म विरहित, जीव की क्या बात है ॥६५॥

अन्वयार्थ : [**एयजीवस्स**] एक जीव के [**एयम्मि भवे**] एक भव में [**एदे सम्बन्धा होंति**] इतने सम्बन्धी होते हैं तो [**धम्मरहिदाणं जीवाणं**] धर्मरहित जीवों के [**अण्णभवे किं भण्णइ**] अन्य भव में क्या कहना? (वे सम्बन्धी कौन-कौन? सो कहते हैं) [**पुत्तो वि भाओ जाओ**] पुत्र तो भाई हुआ [**य सो वि भाओ देवरो होदि**] और जो भाई था, वह ही देवर हुआ। [**माया होइ सवत्ती**] माता थी, वह सौत हुई [**य जणणो वि भत्तारो होइ**] और पिता था, सो पति हुआ।

ये सब सम्बन्ध वसन्ततिलका का वेश्या, धनदेव, कमला और वरुण के हुए। इनकी कथा दूसरे ग्रन्थ से लिखी जाती है :—

एक भव में अठारह नाते की कथा

मालवदेश की उज्जयिनीनगरी में राजा विश्वसेन राज्य करता था। वहाँ सुदत्त नाम का सेठ रहता था। वह सोलह करोड़ द्रव्य का स्वामी था। वह सेठ वसन्ततिलका नाम की वैश्या में आसक्त हो गया और उसने उसको अपने घर में रख ली। जब वह गर्भवती हुई, तब उसका शरीर रोगसहित हो गया; इसलिए सेठ ने उस वैश्या को अपने घर से निकाल दिया। वसन्ततिलका ने अपने घर में ही पुत्र-पुत्री के युगल को जन्म दिया। उसने खेद-खिन्न होकर उन दोनों बालकों को अलग-अलग रत्नकम्बल में लपेटकर पुत्री को तो दक्षिण दरवाजे पर छोड़ दी; वहाँ से उस कन्या को प्रयाग निवासी बिणजारे ने लेकर अपनी स्त्री को सौंप दी और उसका नाम कमला रखा।

पुत्र को उत्तर दिशा के दरवाजे पर छोड़ दिया। वहाँ से उसको साकेतपुर के एक सुभद्र नाम के बिणजारे ने उठाकर अपनी सुव्रता को सौंप दिया और उसका नाम धनदेव रखा। पूर्वोपार्जित कर्म के वश से धनदेव का कमला के साथ विवाह हुआ, वे दोनों पति-पत्नी हुए। बाद में धनदेव व्यापार के लिए उज्जयनीनगरी में गया। वह वहाँ वसन्ततिलका वैश्या पर मोहित हो गया। उसके संयोग से वसन्ततिलका के पुत्र हुआ, जिसका नाम 'वरुण' रखा गया। फिर एक दिन कमला ने सम्बन्ध पूछे। मुनिराज ने इनके सब सम्बन्ध बतलाए।

इनके पूर्वभव का वर्णन

इसी उज्जयनीनगरी में सोमशर्मा नाम का ब्राह्मण रहता था। उसके काश्यपी नाम की स्त्री थी। उनके अग्निभूत और सोमभूत नाम के दो पुत्र हुए। वे दोनों कहीं से पढ़कर आते थे। उन्होंने मार्ग में जिनदत्त मुनि से उनकी माता को जो जिनमती नाम की आर्यिका थी, उनका शरीर समाधान (कुशलता) पूछते हुए देखी और जिनभद्र नामक मुनि को सुभद्रा नामक आर्यिका जो उनकी पुत्रवधू थी, से शरीर समाधान पूछती देखी। वहाँ उन दोनों भाइयों ने हँसी की कि तरुण के तो वृद्धा स्त्री और वृद्ध के तरुणी स्त्री है, परमेश्वर ने विपरीत योग मिलाया। इस प्रकार की हँसी के पाप से सोमशर्मा तो वसन्ततिलका हुई और अग्निभूत सोमभूत। दोनों भाई मरकर वसन्ततिलका के पुत्र-पुत्री युगल हुए। उनके कमला और धनदेव नाम रखे गए। काश्यपी ब्राह्मणी, वसन्ततिलका के धनदेव क संयोग से वरुण नाम का पुत्र हुआ। इस तरह सब सम्बन्धों को सुनने से कमला को जातिस्मरण हो गया। तब वह उज्जयिनीनगरी में बसन्ततिलका के घर गयी। वहाँ वरुण पालने (झूले)में झूल रहा था। उसे देखकर कमला कहने लगी कि हे बालक! तेरे साथ मेरे छह नाते हैं, सो सुन —

१- मेरा पति धनदेव, उसके संयोग से तू हुआ; इसलिए तू मेरा भी (सौतेला) पुत्र है।

२- धनदेव मेरा सगा भाई है, उसका तू पुत्र है; इसलिए मेरा भतीजा भी है।

३- तेरी माता वसन्ततिलका, वह ही मेरी माता है; इसलिए तू मेरा भाई भी है।

४- तू मेरे पति धनदेव का छोटा भाई है; इसलिए मेरा देवर भी है।

५- धनदेव, मेरी माता वसन्ततिलका का पति है, इसलिए धनदेव मेरा पिता हुआ, उसका तू छोटा भाई है; इसलिए तू मेरा काका (चाचा) भी है।

६- मैं वसन्ततिलका की सौत हूँ; इसलिए धनदेव मेरा (सौतेला) पुत्र हुआ, उसका तू पुत्र है; इसलिए तू मेरा पोता भी है।

इस प्रकार वह वरुण के साथ छह नाते कह रही थी कि वहाँ वसन्ततिलका आ गयी और कमला से बोली कि तू कौन है जो मेरे पुत्र को इस तरह छह नाते सुनाती है? तब कमला बोली कि तेरे साथ भी मेरे छह नाते हैं, सो सुन —

१- पहले तो तू मेरी माता है क्योंकि धनदेव के साथ तेरे ही उदर से उत्पन्न हुई हूँ।

२- धनदेव मेरा भाई है, तू उसकी स्त्री है; इसलिए मेरी भावज (भौजाई) है।

३- तू मेरी माता है, तेरा पति धनदेव मेरा पिता हुआ। उसकी तू माता है; इसलिए मेरी दादी है।

४- मेरा पति धनदेव है, तू उसकी स्त्री है; इसलिए मेरी सौत है।

५- धनदेव तेरा पुत्र, सो मेरा भी (सौतेला) पुत्र हुआ। तू उसकी स्त्री है; इसलिए तू मेरी पुत्रवधू भी है।

६- मैं धनदेव की स्त्री हूँ, तू धनदेव की माता है; इसलिए तू मेरी सास भी है।

इस प्रकार वैश्या छह नाते सुनकर चिन्ता में विचार कर रही थी कि वहाँ धनदेव आ गया। उसको देखकर कमला बोली कि तुम्हारे साथ भी हमारे छह नाते हैं, सो सुनिए :-

१- पहले तो तू और मैं इसी वैश्या के उदर से साथ-साथ उत्पन्न हुए, सो तू मेरा भाई है।

२- बाद में तेरा मेरा विवाह हो गया, सो तू मेरा पति है।

३- वसन्ततिलका मेरी माता है, उसका तू पति है; इसलिए मेरा पिता भी है।

४- वरुण तेरा छोटा भाई, सो मेरा काका हुआ। उसका तू पिता है; इसलिए काका का पिता होने से मेरा तू दादा भी हुआ।

५- मैं वसन्ततिलका की सौत और तू मेरी सौत का पुत्र, इसलिए मेरा भी तू पुत्र है।

६– तू मेरा पति है; इसलिए तेरी माता वैश्या मेरी सास हुई। तुम सास के पति हो; इसलिए मेरे ससुर हुए।

* इस तरह एक ही भव में एक ही प्राणी के अठारह नाते हुए, उसका उदाहरण कहा गया है। यह संसार की विचित्र विडम्बना है; इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

अब, पाँच प्रकार के संसार के नाम कहते हैं —

संसारो पंचविहो, दव्वे खत्ते तहेव काले य।
भवभमणो य चउत्थो, पंचमओ भावसंसारो ॥६६ ॥

द्रव्य क्षेत्र रु काल एवं, भाव भवमय जानिये।
इस तरह पाँच प्रकार का, परिभ्रमण जिय का मानिये ॥६६ ॥

अन्वयार्थ : [**संसारो पंचविहो**] संसार (परिभ्रमण) पाँच प्रकार का है — [**दव्वे**] १. द्रव्य (पुद्गलद्रव्य में ग्रहण-त्यजनरूप परिभ्रमण); [**खत्ते**] २. क्षेत्र (आकाश के प्रदेशों में स्पर्श करनेरूप परिभ्रमण); [**य तहेव काले**] ३. काल (काल के समयों में उत्पन्न होने-नष्ट होनेरूप परिभ्रमण); [**भवभमणो य चउत्थो**] ४. भव (नारकादिभव का ग्रहण-त्यजनरूप परिभ्रमण), और [**पंचमओ भावसंसारो**] ५. भाव (अपने कषाययोगों के स्थानकरूप जो भेद, उनका पलटनेरूप परिभ्रमण) — इस तरह पाँच प्रकार का संसार जानना चाहिए।

अब, इनका स्वरूप कहते हैं, पहिले द्रव्यपरावर्तन को बतलाते हैं —

बंधदि मुंचदि जीवो, पडिसमयं कम्मपुग्गाला विविहा।
णोकम्मपुग्गला वि य, मिच्छत्तकषायसंजुत्तो ॥६७॥

* यह अठारहनाते की कथा ग्रन्थान्तर से लिखी गयी यथा—

बालय हि सुणि सुवयणं, तुज्झ सरिसा हि अट्ठ दहणत्ता।
पुत्तु भतिज्जउ भायउ, देवरु पत्तिय हु पीतज्ज ॥१ ॥
तुहु पियरो मुहुपियरो, पियामहो तहय हवइ भत्तारो।
भायउ तहावि पुत्तो, ससुरो हवइ बालयो मज्झ ॥२ ॥
तुहु जणणी हुइ भज्जा, पियामही तह य मायरी सबई।
हवइ बहू तह सासू, ए कहिया अट्ठदहणत्ता ॥३ ॥

मिथ्यात्व और कषाय से, यह जीव पुद्गल कर्म को।
नौकर्म पुद्गल को समय प्रति, बाँधता अरु छोड़ता ॥६७॥

अन्वयार्थ : [**जीवो**] यह जीव [**विविहा कम्मपुग्गला णोकम्मपुग्गला वि य**] (इस लोक में भरे हुए) अनेक प्रकार के पुद्गल जो ज्ञानावरणादि कर्मरूप तथा औदारिकादि शरीर नोकर्मरूप हैं, उनको [**पडिसमयं**] समय-समय प्रति [**मिच्छत्तकसायसंजुत्तो**] मिथ्यात्व-कषायसहित होता हुआ [**बंधदि मुंचदि**] बाँधता है और छोड़ता है।

भावार्थ : मिथ्यात्व कषाय के वश से, ज्ञानावरणादि कर्मों का समयप्रबद्ध अर्थात् अभव्यराशि से अनन्त गुणा, सिद्धराशि के अनन्तवें भाग, पुद्गल परमाणुओं का स्कन्धरूप कार्मणवर्गणा को समय-समय प्रति ग्रहण करता है। जो पहिले ग्रहण किये थे, वे सत्ता में हैं, उनमें से इतने ही समय-समय नष्ट होते हैं। वैसे ही औदारिकादि शरीरों का समयप्रबद्ध[१], शरीर ग्रहण के समय से लगाकर आयु की स्थितिपर्यन्त ग्रहण करता है व छोड़ता है। इस तरह अनादि काल से लेकर अनन्त बार ग्रहण करना और छोड़ना होता है। वहाँ एक परावर्तन के प्रारम्भ में प्रथम समय के समय प्रबद्ध में जितने-जितने पुद्गल परमाणु, जैसे स्निग्धरूक्षवर्ण गन्धरूप रस तीव्र मन्द मध्यम भाव से ग्रहण किये हों, उतने ही वैसे ही कोई समय में फिर से ग्रहण करने में आवें, तब एक कर्म परावर्तन तथा नोकर्म परावर्तन होता है। मध्य में अनन्त बार और भाँति के परमाणु ग्रहण होते हैं, वे नहीं गिने जाते हैं। वैसे के वैसे फिर से ग्रहण करने को अनन्त काल बीत जाए, उसको एक द्रव्यपरावर्तन कहते हैं। इस तरह के इस जीव ने इस लोक में अनन्त परावर्तन किए हैं।

अब, क्षेत्रपरावर्तन को कहते हैं —

सो को वि णत्थि देसो, लोयायासस्स णिरवसेसस्स।
जत्थ ण सव्वो जीवो, जादो मरिदो य बहुवारं ॥६८॥

सम्पूर्ण लोकाकाश में, कोई प्रदेश नहीं अहो।
बहु बार जिसमें जीव ने, जन्म रु मरण किये न हो ॥६८॥

अन्वयार्थ : [**णिरवसेसस्स लोयायासस्स**] समस्त लोकाकाश के प्रदेशों में

१. समयप्रबद्ध=एक समय में जितने कर्म परमाणु और नोकर्म परमाणु बँधें, उन सबको समयप्रबद्ध कहते हैं।

[**साको वि देसो णत्थि**] ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है, [**जत्थ सव्वो जीवो**] जिसमें ये सब ही संसारी जीव [**बहुवारं जादो य मरिदो ण**] कई बार उत्पन्न न हुए हों तथा मरे न हों।

भावार्थ : समस्त लोकाकाश के प्रदेशों में यह जीव अनन्त बार तो उत्पन्न हुआ और अनन्त बार ही मरण को प्राप्त हुआ। ऐसा प्रदेश रहा ही नहीं, जिसमें उत्पन्न नहीं हुआ हो और मरा भी न हो।

लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं। उसके मध्य के आठ प्रदेशों को बीच में देकर, सूक्ष्म निगोदलब्धि अपर्याप्तक जघन्य अवगाहना का धारी वहाँ उत्पन्न होता है। उसकी अवगाहना भी असंख्यात प्रदेश है, इस तरह जितने प्रदेश उतनी बार तो वह ही अवगाहना वहाँ ही पाता है। मध्य में और जगह अन्य अवगाहना से उत्पन्न होता है, उसकी तो गिनती ही नहीं है। बाद में एक-एक प्रदेश क्रम से बढ़ती हुई अवगाहना पाता है, सो गिनती में है; इस तरह महामच्छ तक की उत्कृष्ट अवगाहना को पूरी करता है। वैसे ही क्रम से लोकाकाश के प्रदेशों का स्पर्श करता है, तब एक क्षेत्रपरावर्तन होता है।

अब, कालपरावर्तन को कहते हैं —

उवसप्पिणिअवसप्पिणि, पढमसमयादिचरमसमयंतं।
जीवो कमेण जम्मदि, मरदि य सव्वेसु कालेसु॥६९॥

उत्सर्पिणी अवसर्पिणी, के प्रथम से अन्तिम समय।
पर्यन्त अनुक्रम से सदा, उत्पन्न हो एवं मरे॥६९॥

अन्वयार्थ : [**उवसप्पिणिअवसप्पिणि**] उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीकाल के [**पढम -समयादिचरमसमयंतं**] पहले समय से लगाकर, अन्त के समय तक [**जीवो कमेण**] यह जीव अनुक्रम से [**सव्वेसु कालेसु**] सब ही कालों में [**जम्मदि य मरदि**] उत्पन्न होता है तथा मरता है।

भावार्थ : कोई जीव, दश कोड़ाकोड़ी सागर के उत्सर्पिणीकाल के पहले समय में जन्म पावे, बाद में दूसरे उत्सर्पिणी के दूसरे समय में जन्म पावे, इसी तरह तीसरे के तीसरे समय में जन्म पावे, ऐसे ही अनुक्रम से अन्त के समय तक जन्म पाता रहे, बीच-बीच में अन्य समयों में बिना अनुक्रम के जन्म पावे, सो गिनती में नहीं हैं। इसी तरह अवसर्पिणी

के दश कोड़ाकोड़ी सागर के समय पूरे करे तथा ऐसे ही मरे। इस तरह यह अनन्त काल होता है, उसको एक कालपरावर्तन कहते हैं।

अब, भवपरावर्तन को कहते हैं —

णेरइयादिगदीणं, अवर-ट्ठिदो वरट्ठिदी जाव।
सव्वट्ठिदिसु वि जम्मदि, जीवो गेवेज्जपज्जंतं॥७०॥

नरक आदि चतुर्गति में, जघन से उत्कृष्ट तक।
जन्म ले क्रम से अहो, सब समय में ग्रैवेक तक॥७०॥

अन्वयार्थ : [**जीवो**] संसारी जीव, [**णेरइयादिगदीणं**] नरकादि चार गतियों की [**अवरट्ठिदो**] जघन्य स्थिति से लगाकर [**वरट्ठिदी जाव**] उत्कृष्ट स्थितिपर्यन्त (तक) [**सव्वट्ठिदिसु**] सब अवस्थाओं में [**गेवेज्जपज्जंतं**] ग्रैवेयकपर्यन्त [**जम्मदि**] जन्म पाता है।

भावार्थ : नरकगति की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष की है। इसके जितने समय हैं, उतनी बार तो जघन्य स्थिति की आयु लेकर जन्म पावे, बाद में एक समय अधिक आयु लेकर जन्म पावे, बाद में दो समय अधिक आयु लेकर जन्म पावे। ऐसे ही अनुक्रम से तैतीस सागर पर्यन्त आयु पूर्ण करे; बीच-बीच में घट बढ़कर आयु लेकर जन्म पावे, वह गिनती में नहीं है। इसी तरह तिर्यञ्चगति की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त, उसके जितने समय हैं, उतनी बार जघन्य आयु का धारक होवे, बाद में एक समय अधिक क्रम से तीन पल्य पूर्ण करे; बीच में घट बढ़कर आयु लेकर जन्म पावे वह गिनती में नहीं है। इसी तरह मनुष्य की जघन्य से लगाकर उत्कृष्ट तीन पल्य पूर्ण करे। इसी तरह देवगति की जघन्य दश हजार वर्ष से लगाकर ग्रैवेयक के उत्कृष्ट इकतीस सागर तक समय-अधिक-क्रम से पूर्ण करे। ग्रैवेयक के आगे उत्पन्न होनेवाला एक दो भव लेकर मोक्ष ही जावे; इसलिए उसको गिनती में नहीं लाए। इस तरह इस भवपरावर्तन का अनन्त काल है।

अब, भावपरावर्तन को कहते हैं —

परिणमदि सण्णिजीवो, विविहकसाएहि ट्ठिदिणिमित्तेहिं।
अणुभागणिमित्तेहिं य, वट्टंतो भावसंसारे॥७१॥

बहुभाँति स्थिति बन्ध अरु, अनुभाग में कारण अहो।
परिणमन करता जीव संज्ञी, वर्तता जग-भाव में ॥७१॥

अन्वयार्थ : [**भावसंसारे वट्टंतो**] भावसंसार में वर्तता हुआ जीव [**ट्ठिदिणि -मित्तेहिं**] अनेक प्रकार कर्म की स्थितिबन्ध को कारण [**य अणुभागणिमित्तेहिं**] और अनुभागबन्ध को कारण [**विविहकसाएहिं**] अनेक प्रकार के कषायों से [**सण्णिजीवो**] सैनी पञ्चेन्द्रिय जीव [**परिणमदि**] परिणमता है।

भावार्थ : कर्म की एक स्थितिबन्ध को कारण कषायों के स्थान असंख्यात लोकप्रमाण हैं, उसमें एक स्थितिबन्धस्थान में अनुभागबन्ध को कारण कषायों के स्थान असंख्यात लोकप्रमाण है। जो योग्य स्थान हैं, वे जगत् श्रेणी के असंख्यातवें भाग हैं। यह जीव उनका परिवर्तन करता है। सो किस तरह ? कोई सैनी मिथ्यादृष्टि पर्याप्तकजीव, स्वयोग्य सर्व जघन्य ज्ञानावरण प्रकृति की स्थिति अन्त: कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण बाँधता है। उसके कषायों के स्थान असंख्यात लोकमात्र हैं। उसमें सब जघन्य स्थान एकरूप परिणमते हैं, उसमें उस एक स्थान में अनुभागबन्ध के कारण स्थान, ऐसे असंख्यात लोकप्रमाण हैं। उनमें से एक सर्वजघन्यरूप परिणमता है, वहाँ उस योग्य सर्वजघन्य ही योगस्थानरूप परिणमते हैं, तब जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भाग योगस्थान अनुक्रम से पूर्ण करता है। वीच में अन्य योगस्थानरूप परिणमता है, वह गिनती में नहीं है। इस तरह योगस्थान पूर्ण होने पर अनुभाग का स्थान दूसरा रूप परिणमता है, वहाँ भी वैसे ही योगस्थान सब पूर्ण करता है।

तीसरा अनुभागस्थान होता है, वहाँ भी उतने ही योगस्थान भोगे। इस तरह असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागस्थान अनुक्रम से पूर्ण करे, तब दूसरा कषायस्थान लेना चाहिए। वहाँ भी वैसे ही क्रम से असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागस्थान तथा जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भाग योगस्थान पूवोक्त क्रम से भोगे, तब तीसरा कषायस्थान लेना चाहिए। इस तरह से ही चतुर्थादि असंख्यात लोकप्रमाण कषायस्थान पूर्वाक्त क्रम से पूर्ण करे, तब एक समय अधिक जघन्यस्थिति स्थान लेना चाहिए; उसमें भी कषायस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान पूर्वोक्त क्रम से भोगे। इस तरह दो समय अधिक जघन्यस्थिति से लगाकर तीस कोड़ाकोड़ी -सागर पर्यन्त ज्ञानावरणकर्म की स्थिति पूर्ण करे। इस तरह से ही सब मूलकर्मप्रकृति तथा

उत्तरकर्मप्रकृतियों का क्रम जानना चाहिए। इस तरह परिणमन करते हुए अनन्त काल व्यतीत हो जाता है, उस सबको इकट्ठा करने पर एक भावपरिवर्तन होता है। इस तरह के अनन्त परावर्तन यह जीव* भोगता आया है।

अब, पञ्च परावर्तन के कथन का सङ्कोच करते हैं —

एवं अणाइकाले, पंचपयारे भमेइ संसारे।
णाणादुक्खणिहाणो, जीवो मिच्छत्त-दोसेण ॥७२॥

इस तरह पाँच प्रकार के, संसार में मिथ्यात्व से।
बहु भाँति दुःख निधान सहता, जीव काल अनादि से॥७२॥

अन्वयार्थ : [**एवं**] इस तरह [**णाणादुक्खणिहाणो**] अनेक प्रकार के दुःखों के निधान [**पंचपयारे**] पाँच प्रकार [**संसारे**] संसार में [**जीवो**] यह जीव [**अणाइकालं**] अनादिकाल से [**मिच्छत्तदोसेण**] मिथ्यात्व के दोष से [**भमेइ**] भ्रमण करता है।

अब, संसार से छूटने का उपदेश करते हैं —

इय संसारं जाणिय मोहं सव्वायरेण चइऊण।
तं झायह स-सरूवं, संसरणं जेण णासेइ॥७३॥

संसार ऐसा जानकर, पुरुषार्थ से तज मोह को।
ध्याओ भविक वह आत्मा, संसार जिससे नष्ट हो॥७३॥

अन्वयार्थ : [**इय संसारं जाणिय**] इस तरह (पहले कहे अनुसार) संसार को जानकर, [**सव्वायरेण**] सब तरह के प्रयत्नपूर्वक [**मोहं**] मोह को [**चइऊण**] छोड़कर (हे भव्यों!) [**तं ससरूवं झायह**] उस आत्मस्वरूप का ध्यान करो, [**जेण**] जिससे [**संसरणं**] संसारपरिभ्रमण [**णासेइ**] नष्ट हो जावे।

दोहा

पंचपरावर्तनमयी, दुःखरूप संसार।
मिथ्याकर्म उदै वशे, भरमै जीव अपार॥३॥

इति संसारानुप्रेक्षा समाप्ता॥३॥

* अपनी मूर्खता को।

एकत्वानुप्रेक्षा

अब, एकत्व अनुप्रेक्षा का स्वरूप चिन्तवन करते हैं —

इक्को जीवो जायदि, इक्को गब्भम्मि गिह्णदे देहं।
इक्को बाल जुवाणो, इक्को वुड्ढो जरागहिओ॥७४॥

उत्पन्न होता है अकेला, गर्भ में तन को गहे।
बालक युवा भी हो अकेला, अरु अकेला वृद्ध हो॥७४॥

अन्वयार्थ : [**जीवो**] जीव, [**इक्को**] एक ही [**जायदि**] उत्पन्न होता है, [**इक्को**] वह ही एक [**गब्भम्मि**] गर्भ में [**देहं**] देह को [**गिह्णदे**] ग्रहण करता है, [**इक्को बाल जुवाणो**] वह ही एक बालक होता है, वह ही एक जवान होता है, [**इक्को जरागहिओ बुड्ढो**] वह ही एक जरा से – बुढ़ापे से गृहीत वृद्ध होता है।

भावार्थ : (निज एकत्व निश्चयस्वपद को भूलकर) * एक ही जीव, इन नाना पर्यायों को धारण करता है।

इक्को रोई सोई, इक्को तप्पेइ माणसे दुक्खे।
इक्को मरदि वराओ, णरयदुहं सहदि इक्को वि॥७५॥

जीव रोगी हो अकेला, शोकमय हो एक ही।
मानस दुःखों से तप्त हो, हो दीन नरकों में दुःखी॥७५॥

अन्वयार्थ : [**इक्को रोई सोई**] एक ही जीव, रोगी होता है, वह ही एक जीव शोकसहित होता है, [**इक्को**] वह ही एक जीव [**माणसे दुक्खे**] मानसिक दुःख से [**तप्पेइ**] तप्तायमान होता है, [**इक्को मरदि**] वह ही एक जीव मरता है, [**इक्को वि**]

* निज एकत्व निश्चयस्वपद को भूलकर ही।

वह ही एक जीव [**वराओ णरयदुहं सहदि**] दीन होकर नरक के दुःख सहता है।

भावार्थ : जीव[१], अकेला ही अनेक-अनेक (खोटी) अवस्थाओं को धारण करता है।

इक्को संचदि पुण्णं, इक्को भुञ्जेदि विविहसुरसोक्खं।
इक्को खवेदि कम्मं, इक्को वि य पावए मोक्खं॥७६॥

पुण्य संचय करे एकहि, विविध सुर सुख भोगता।
कर्मक्षय करके अकेला, मोक्ष सुख भोगे अहा॥७६॥

अन्वयार्थ : [**इक्को**] एक ही जीव [**पुण्णं**] पुण्य को [**संचदि**] सञ्चित करता है, [**इक्को**] वह ही एक जीव [**विविहसुरसोक्खं**] नाना प्रकार के देवगति के सुख [**भुञ्जेदि**] भोगता है, [**इक्को**] वह ही एक जीव [**कम्मं**] कर्म को [**खवेदि**] नष्ट करता है, [**इक्को वि य**] वह ही एक जीव [**मोक्खं**] मोक्ष को [**पावए**] पाता है।

भावार्थ : वह ही जीव, पुण्य करके स्वर्ग जाता है; वह ही जीव, कर्मों का नाश करके मोक्ष जाता है।

सुयणो पिच्छंतो वि हु, ण दुक्खलेसंपि सक्कदे गहिदुं।
एवं जाणंतो वि हु, तो वि ममत्तं ण छंडेइ॥७७॥

दुःखी देखें स्वजन पर, दुःख लेश भी नहिं ले सकें।
प्रत्यक्ष ऐसा जानकर भी, स्वजन से रति नहिं तजे॥७७॥

अन्वयार्थ : [**सुयणो**] स्वजन (कुटुम्बी) भी (जब यह जीव दुःख में फँस जाता है, तब उसको) [**पिच्छंतो वि हु**] देखता हुआ भी [**दुक्खलेसंपि**] दुःख का लेश भी [**गहिदुं**] ग्रहण करने को [**ण सक्कदे**] समर्थ नहीं होता है; [**एवं जाणंतो वि हु**] इस तरह प्रत्यक्षरूप से जानता हुआ भी [**ममत्तं ण छंडेइ**] कुटुम्ब से ममत्व नहीं छोड़ता है।

१. निर्मल विज्ञानघनस्वरूप को भूलकर। २. स्व को समझता ही नहीं और।

भावार्थ : अपना दुःख आप ही भोगता है, कोई बँटा नहीं सकता है। यह जीव ऐसा अज्ञानी है कि दुःख सहता हुआ भी[२] पर के ममत्व को नहीं छोड़ता है।

अब, कहते हैं कि इस जीव के निश्चय से धर्म ही स्वजन है —

जीवस्स णिच्चयादो, धम्मो दहलक्खणो हवे सुयणो।
सो णेइ देवलोए, सो चिय दुक्खक्खयं कुणइ॥७८॥

उत्तम क्षमादिक धर्म दशलक्षण, करें हित जीव का।
स्वर्ग पहुँचाये यही चिर, दुःख क्षय करता अहा॥७८॥

अन्वयार्थ : [**जीवस्स**] इस जीव के [**सुयणो**] अपना हितकारक [**णिच्चयादो**] निश्चय से [**दहलक्खणो**] एक उत्तम क्षमादि दशलक्षण [**धम्मो**] धर्म ही [**हवे**] है [**सो**] क्योंकि वह धर्म ही [**देवलोए**] देवलोक (स्वर्ग) में [**णेइ**] ले जाता है, [**सो चिय**] वह धर्म ही [**दुक्खक्खयं कुणइ**] दुःखों का क्षय अर्थात् मोक्ष करता है।

भावार्थ : धर्म के सिवाय और कोई भी हितकारी नहीं है।

अब, कहते हैं कि इस तरह से अकेले जीव को शरीर से भिन्न जानना चाहिए —

सव्वायरेण जाणह, इक्कं जीवं सरीरदो भिण्णं।
जम्हि दु मुणिदे जीवो, होदि असेसं खणे हेयं॥७९॥

सब यत्न से तन से पृथक, यह एक चेतन जानिये।
जिससे सभी परद्रव्य क्षण में, हेय हैं पहचानिए॥७९॥

अन्वयार्थ : हे भव्य जीवों! [**इक्कं जीवं सरीरदो भिण्णं**] अकेले जीव को शरीर से भिन्न (अलग) [**सव्वायरेण जाणह**] सब प्रकार के प्रयत्न करके जानो। [**जम्हि दु जीवो मुणिदे**] जिस जीव के जान लेने पर, [**असेसं खणे हेयं होदि**] अवशेष सब परद्रव्य क्षणमात्र में त्यागने योग्य होते हैं।

भावार्थ : जब जीव, अपने *स्वरूप को जानता है, तब परद्रव्य हेय ही भासते हैं; इसलिए अपने स्वरूप ही के जानने का महान् उपदेश है।

---

* नित्य ज्ञायक।

दोहा

एक जीव परजाय बहु, धारै स्वपर निदान।
पर तजि आपा जानिकै, करौ भव्य कल्यान॥४॥

इति एकत्वानुप्रेक्षा* समाप्ता॥४॥

---

* सभी तीर्थङ्कर अपने दीक्षा कल्याणक के समय यह पावन-बारह भावना भाते हैं, वह कैसी होगी? श्री समयसारजी शास्त्र में गाथा ३ द्वारा 'एकत्व निश्चय गत समय, सर्वत्र सुन्दर लोक में' पश्चात् गाथा ४ में उस एकत्व की असुलभता दिखाकर गाथा ५ में कहते हैं कि उससे ही जीवों को यह भिन्न आत्मा का एकत्व हम दिखाते हैं। उनमें आगम का सेवन, युक्ति का अवलम्बन, परापर गुरु का उपदेश और स्वसंवेदन - यह चार प्रमाण के द्वारा उत्पन्न अपने ज्ञान का विभव से—स्व से एकत्व और पर से विभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप दिखाते हैं। (वहाँ से मनन कर लेना) बारह सम्यक्भावना द्वारा अपनी निश्चय आत्मा में ही एकत्व-निश्चय की भावना-एकाग्रता-कर्तव्य है। (जैसा आलम्बन वैसा अनुभव) ज्ञानी-आत्मकल्याणेच्छुक को तो बाह्य में रस नहीं है, यदि बाह्य में भूमिकानुसार उपयोग लग जाय तो भारी लज्जा-शर्म होती है। अत: अन्तरंग में भी कोई विकल्प-गुण भेद के व्यवहार या निश्चय के विकल्प आदि सभी-किसी भी विकल्प जाल में रहना नहीं चाहते, निरन्तर स्वाश्रय के बल द्वारा नि:शंक दृढ़ता के अस्तित्व में सभी विषमताओं का नकार-निषेध भी है और अपना नित्य एकत्व भूतार्थ स्वभाव सन्मुख रहना ही उत्तम समझते हैं - यदि यह बात है तो अन्य को गौण-सहचर हेतु व्यवहार-साधन आदि कहा जाता है।

अन्यत्वानुप्रेक्षा

अण्णं देहं गिह्णदि, जणणी अण्णा य होदि कम्मादो।
अण्णं होदि कलत्तं, अण्णो वि य जायदे पुत्तो॥८०॥

यह देह भी है अन्य, जननी और भार्या अन्य है।
पुत्र भी है अन्य ये, संयोग जिन कर्मज कहें॥८०॥

अन्वयार्थ : यह जीव, संसार में [**देहं गिह्णदि**] देह को ग्रहण करता है [**अण्णं**] सो अपने से अन्य (भिन्न) है [**य**] और [**जणणी अण्णा**] माता भी अन्य है, [**कलत्तं अण्णं होदि**] स्त्री भी अन्य होती है, [**पुत्तो वि य अण्णो जायदे**] पुत्र भी अन्य उत्पन्न होता है [**कम्मादो होदि**] ये सब कर्म-संयोग से होते हैं।

एवं वाहिरदव्वं जाणदि रूवादु* अप्पणो भिण्णं।
जाणंतो वि हु जीवो, तत्थेव य रच्चदे मूढो॥८१॥

इन बाह्य द्रव्यों को पृथक, जाने स्वयं से भिन्न यह।
तो भी अहो उनमें सदा ही, राग करता मूढ़ यह॥८१॥

अन्वयार्थ : [**एवं**] इस तरह पहिले कहे अनुसार [**वाहिरदव्वं**] सब बाह्य वस्तुओं को [**अप्पणो**] अपने [**रूवादु**] आत्मस्वरूप से [**भिण्णं**] भिन्न [**जाणदि**] जानता है [**जाणंतो वि हु**] तो भी प्रत्यक्षरूप से जानता हुआ भी [**मूढो**] यह मूढ़ (मोही) [**जीवो**] जीव [**तत्थेव य रच्चदे**] उन परद्रव्यों में ही राग करता है, सो यह बड़ी मूर्खता है।

जो जाणिऊण देहं, जीवसरूवादु तच्चदो भिण्णं।
अप्पाणं पि य सेवदि, कज्जकरं तस्स अण्णत्तं॥८२॥

---

* रूवादु इत्यादि पाठः।

परमार्थ से इस देह को, निज से पृथक जो जानता।
यह भावना उसकी सफल, जो आत्मा को ध्यावता ॥८२॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो जीव, [**जीवसरूवादु**] अपने स्वरूप से [**देहं**] देह को [**तच्चदो भिण्णं**] परमार्थ से भिन्न [**जाणिऊण**] जानकर [**अप्पाणं पि य सेवदि**] आत्मस्वरूप को सेता है अर्थात् ध्यान करता है, [**तस्स अण्णत्तं कज्जकरं**] उसके अन्यत्वभावना कार्यकारिणी है।

भावार्थ : जो देहादिक परद्रव्यों को भिन्न जानकर, अपने नित्य ज्ञानानन्दस्वरूप का सेवन करता है, उसके अन्यत्वभावना कार्यकारिणी है।

दोहा

निज आतमतैं भिन्न पर, जानै ते नर दक्ष।
निज में रमैं वमैं अपर, ते शिव लखैं प्रत्यक्ष ॥५॥

इति अन्यत्वानुप्रेक्षा समाप्ता ॥५॥

अशुचित्वानुप्रेक्षा

अब, अशुचि अनुप्रेक्षा का वर्णन करते हैं —

सयलकुहियाण पिंडं, किमिकुलकलियं अउव्वदुग्गंधं।
मलमुत्ताणं य गेहं, देहं जाणेहि असुइमयं॥८३॥

सब निन्दनीय पदार्थ की है, पिण्ड कृमिकुल से भरी।
दुर्गन्धमय मलमूत्र गृह, यह देह है अशुचिमयी॥८३॥

अन्वयार्थ : हे भव्य! तू [**देहं**] इस देह को [**असुइमयं**] अपवित्रमयी [**जाणेहि**] जान। कैसा है देह? [**सयलकुहियाण पिंडं**] १. सकल (सब) कुत्सित निन्दनीय पदार्थों का पिण्ड (समूह) है, [**किमिकुलकलियं**] २. कृमि (पेट में रहनेवाले लट आदि) तथा अनेक प्रकार के निगोदादिक जीवों से भरा है, [**अउव्वदुग्गंधं**] ३. अत्यन्त दुर्गन्धमय है, [**मलमुत्ताणं य गेहं**] ४. जो मल-मूत्र का घर है।

भावार्थ : इस शरीर को सब अपवित्र वस्तुओं का समूह जानना चाहिए।*

अब कहते हैं कि यह देह, अन्य सुगन्धित वस्तुओं को भी अपने संयोग से दुर्गन्धित करता है —

सुट्ठु पवित्तं दव्वं, सरस-सुगंधं मणोहरं जं पि।
देह-णिहित्तं जायदि, घिणावणं सुट्ठु-दुग्गंधं॥८४॥

अत्यन्त शुचि एवं सुगन्धित, सरस मनहर द्रव्य भी।
इस देह के संयोग से हों, घृणित दुर्गन्धित सभी॥८४॥

अन्वयार्थ : [**देहणिहित्तं**] इस शरीर में लगाये गये [**सुट्ठु पवित्तं**] अत्यन्त

* मिथ्यात्वादि तथा शुभाशुभ भाव भी अचेतन-अनात्मा होने से अपवित्र और चेतनस्वरूप से सदा भिन्न ही जानो।

पवित्र [**सरससुगंधं**] सरस और सुगन्धित [**मणोहरं जं पि**] मन को हरनेवाले [**दव्वं**] द्रव्य भी [**घिणावणं**] घिनावने [**सुट्ठुदुग्गंधं**] तथा अत्यन्त दुर्गन्धित [**जायदि**] हो जाते हैं।

भावार्थ : इस शरीर के चन्दन, कपूर आदि (सुगन्धित पदार्थ) लगाने से दुर्गन्धित हो जाते हैं। रससहित उत्तम मिष्ठान्नादि खिलाने से मलादिकरूप परिणम जाते हैं। अन्य भी वस्तुएँ इस शरीर के स्पर्श से अस्पृश्य हो जाती हैं।

इस शरीर की अशुचितता को और विस्तार से दिखाते हैं —

मणुयाणं असुइमयं, विहिणा देहं विणिम्मियं जाण।
तेसिं विरमण-कज्जे, ते पुण तत्थेव अणुरत्ता॥८५॥

वैराग्य होने के लिए यह, देह अशुचिमयी रची।
विधि ने परन्तु मनुज यह, उसमें रहे अनुरक्त ही॥८५॥

अन्वयार्थ : हे भव्य! [**मणुयाणं**] यह मनुष्यों का [**देहं**] देह [**विहिणा**] कर्म के द्वारा [**असुइमयं**] अशुचि [**विणिम्मियं जाण**] रचा गया जान। यहाँ ऐसी उत्प्रेक्षा (सम्भावना) करते हैं कि [**तेसि विरमणकज्जे**] यह देह, इन मनुष्यों को वैराग्य उत्पन्न होने के लिए ही ऐसा बनाया है [**ते पुण तत्थेव अणुरत्ता**] परन्तु ये मनुष्य उसमें भी अनुरागी होते हैं, सो यह अज्ञान है।

इसी अर्थ को और दृढ़ करते हैं —

एवं विहं पि देहं, पिच्छंता वि य कुणंति अणुरायं।
सेवंति आयरेण य, अलद्धपुव्वं त्ति मण्णंता॥८६॥

प्रत्यक्ष देखे इस तरह, अशुचिमयी इस देह को।
पहले न पाई मानकर, आदर सहित सेवा करे॥८६॥

अन्वयार्थ : [**एवं विहं पि देहं**] इस तरह पहले कहे अनुसार अशुचि शरीर को [**पिच्छंता वि य**] प्रत्यक्ष देखता हुआ भी यह मनुष्य उसमें [**अणुरायं**] अनुराग [**कुणंति**] करता है, [**अलद्धपुव्वं त्ति मण्णंता**] जैसे ऐसा शरीर कभी पहिले न पाया

हो — ऐसा मानता हुआ [**आयरेण य सेवंति**] आदरपूर्वक इसकी सेवा करता है, सो यह बड़ा अज्ञान है।

अब, कहते हैं कि इस शरीर से विरक्त होनेवाले के अशुचिभावना सफल है —

जो परदेहविरत्तो, णियदेहे ण य करेदि अणुरायं।
अप्पसरूव सुरत्तो, असुइत्ते भावणा तस्स॥८७॥

पर देह में आसक्त नहिं, अनुरक्त नहिं निज देह में।
सफल उसकी भावना जो, रक्त आत्मस्वरूप में॥८७॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो भव्य, [**परदेहविरत्तो**] परदेह (स्त्री आदिक की देह) से विरक्त होकर [**णियदेहे**] अपने शरीर में [**अणुरायं**] अनुराग [**ण य करेदि**] नहीं करता है; [**अप्पसरूव सुरत्तो**] अपने आत्मस्वरूप में अनुरक्त रहता है, [**तस्स**] उसके [**असुइत्ते भावणा**] अशुचिभावना सफल है।

भावार्थ : [१](देहादि के) केवल विचार ही से जिसको वैराग्य प्रगट होता हो तो उसके यह भावना सत्यार्थ कहलाती हैं।

दोहा

स्वपर देहकूँ अशुचि लखि, तजै तास अनुराग।
ताकै सांची भावना, सो कहिये बड़भाग॥६॥

इति अशुचित्वानुप्रेक्षा समाप्ता॥३॥

१. भेदविज्ञान सहित अक्षय अविनाशी निजात्मा के आश्रय करने द्वारा।

आस्रवानुप्रेक्षा

मणवयणकायजोया, जीवपयेसाणफंदणविसेसा।
मोहोदएण जुत्ता, विजुदा वि य आसवा होंति॥८८॥

मन वचन तन का योग आस्रव, प्रदेश कम्पन योग है।
मिथ्यात्व और कषाय युत, अथवा रहित भी जानिए॥८८॥

अन्वयार्थ : [**मणवयणकायजोया**] मन-वचन-काय योग हैं, [**आसवा होंति**] वे ही आस्रव हैं। कैसे हैं ? [**जीवपयेसाणफंदणविसेसा**] १. जीव के प्रदेशों का स्पन्दन अर्थात् चलायमान होना/काँपना विशेष है, वह ही योग है, [**मोहोदएण जुत्ता विजुदा वि य**] २. मोह के उदय (*मिथ्यात्व कषाय) सहित है और ३. मोह के उदयरहित भी है।

भावार्थ : मन-वचन-काय का निमित्त पाकर जीव के प्रदेशों का चलाचल होना, सो योग है, उसी को आस्रव कहते हैं। वे गुणस्थान की परिपाटी में सूक्ष्मसाम्पराय दसवें गुणस्थान तक तो मोह के उदयरूप यथासम्भव मिथ्यात्व कषायसहित होते हैं, उसको साम्परायिक-आस्रव कहते हैं और ऊपर तेरहवें गुणस्थान तक मोह उदय से रहित होते हैं, उसको ईर्यापथ-आस्रव कहते हैं। जो पुद्गलवर्गणा कर्मरूप परिणमती हैं, उनको द्रव्यास्रव कहते हैं और जीव के प्रदेश चञ्चल होते हैं, उनको भावास्रव कहते हैं।

अब, मोह के उदयसहित आस्रव हैं, ऐसा विशेषरूप से कहते हैं —

मोहविवागवसादो, जे परिणामा हवंति जीवस्स।
ते आसवा मुणिज्जसु मिच्छत्ताई अणेय-विहा॥८९॥

---

* प्रथम तो मिथ्यात्व ही आस्रव है।

इस जीव के परिणाम जो, होते उदयवश मोह के।
हे भव्य! जानो आस्रव, मिथ्यात्व आदि अनेक विध॥८९॥

अन्वयार्थ : [**मोहविवागवसादो**] मोह के उदय से [**जे परिणामा**] जो परिणाम [**जीवस्स**] इस जीव के [**हवंति**] होते हैं, [**ते आसवा**] वे ही आस्रव हैं, [**मुणिज्जसु**] हे भव्य ! तू प्रत्यक्षरूप से ऐसा जान। [**मिच्छत्ताई अणेयविहा**] वे परिणाम मिथ्यात्व को आदि लेकर अनेक प्रकार के हैं।

भावार्थ : कर्मबन्ध के कारण आस्रव हैं। वे मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग के भेद से पाँच प्रकार के हैं। उनमें स्थिति-अनुभागरूप बन्ध के कारण मिथ्यात्वादिक चार ही हैं, सो ये मोह के उदय से होते हैं और जो योग हैं, वे समयमात्र बन्ध को करते हैं; कुछ भी स्थिति-अनुभाग को नहीं करते हैं, इसलिए बन्ध के कारण में प्रधान नहीं हैं।

अब, पुण्य-पाप के भेद से आस्रव को दो प्रकार का कहते हैं —

कम्मं पुण्णं पावं, हेउं तेसिं च होंति सच्छिदरा।
मंदकसाया सच्छा, तिव्वकसाया असच्छा हु॥९०॥

कर्म हैं पुण्य-पाप उनके, हेतु हैं सत् अरु असत्।
सत् कहें मन्द कषाय को, अरु तीव्र को जानो असत्॥९०॥

अन्वयार्थ : [**कम्मं पुण्णं पावं**] कर्म, पुण्य-पाप के भेद से दो प्रकार का है [**च तेसि हेउं सच्छिदरा होंति**] और उनके कारण भी सत् (प्रशस्त), इत्तर (अप्रशस्त) दो ही होते हैं, [**मंदकसाया सच्छा**] उनमें मन्दकषायपरिणाम तो प्रशस्त (शुभ) हैं [**तिव्वकसाया असच्छा हु**] और तीव्र कषाय परिणाम अप्रशस्त (अशुभ) हैं।

भावार्थ : सातावेदनीय, शुभआयु, उच्चगोत्र, और शुभनाम — ये चार प्रकृतियाँ तो पुण्यरूप हैं, बाकी चार घातियाकर्म तथा असातावेदनीय, नरकायु, नीचगोत्र और अशुभनाम — ये चार अघातिया कर्मप्रकृतियाँ पापरूप हैं। उनके कारण आस्रव भी दो प्रकार के हैं। मन्दकषायरूप परिणाम तो पुण्यास्रव हैं और तीव्र कषायरूप परिणाम पापास्रव हैं।

अब, मन्द-तीव्र कषाय को प्रगट दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं —

सव्वत्थ वि पियवयणं, दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरणं।
सव्वेसिं गुणगहणं, मंदकसायाण दिट्ठंता ॥९१॥

सर्वत्र हित-मित-प्रिव्य वचन हो, क्षमा सुनकर दुर्वचन।
सब के गुणों का ग्रहण, मन्द कषाय के दृष्टान्त हैं ॥९१॥

अन्वयार्थ : [सव्वत्थ वि पियवयणं] १. सब जगह शत्रु तथा मित्र आदि में तो प्रिय हितरूप वचन, **[दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरणं]** २. दुर्वचन सुनकर दुर्जन में भी क्षमा करना, **[सव्वेसिं गुणगहणं]** ३. सब जीवों के गुण ही ग्रहण करना **[मंदकसायाण दिट्ठंता]** — ये मन्दकषाय के दृष्टान्त हैं।

अप्पपसंसणकरणं पुज्जेसु वि दोसगहणसीलत्तं।
वेरधरणं च सुइरं, तिव्वकसायाण लिंगाणि ॥९२॥

अपनी प्रशंसा करे, देखें दोष सज्जन पुरुष के।
चिरकाल तक हो बैर, तीव्र कषाय के ये चिह्न हैं ॥९२॥

अन्वयार्थ : [अप्पपसंसण करणं] १. अपनी प्रशंसा करना, **[पुज्जेसु वि दोसगहणसीलत्तं]** २. पूज्य पुरुषों में भी दोष ग्रहण करने का स्वभाव, **[च सुइरं वेरधरणं]** और ३. बहुत समय तक बैर धारण करना **[तिव्वकसायाण लिंगाणि]** — ये तीव्र कषाय के चिह्न हैं।

अब, कहते हैं कि ऐसे जीव के आस्रव का चिन्तवन निष्फल है —

एवं जाणंतो वि हु, परिचयणीये वि जो ण परिहरइ।
तस्सासवाणुवेक्खा, सव्वा वि णिरत्थया होदि ॥९३॥

यह जानकर भी जो न त्यागे, हेय भावों को अहो।
नहिं सफल आस्रव भावना, उसकी निरर्थक ही कहो ॥९३॥

अन्वयार्थ : [एवं जाणंतो वि हु] इस प्रकार के प्रत्यक्षरूप से जानता हुआ भी **[परिचयणीये वि जो ण परिहरइ]** जो त्यागने योग्य परिणामों को नहीं छोड़ता है, उसके

[**सव्वा वि**] सब ही [**तस्सासवाणुवेक्खा**] आस्रव का चिन्तवन [**णिरत्थया होदि**] निरर्थक है अर्थात् कार्यकारी नहीं होता।

भावार्थ : आस्रवानुप्रेक्षा का चिन्तवन करके पहिले तो (१) [1]तीव्रकषाय छोड़ना चाहिए, फिर (२) [2]शुद्ध आत्मस्वरूप का ध्यान करना चाहिए, (३) सब कषाय छोड़ने चाहिए, तब तो यह चिन्तवन सफल है; केवल वार्ता करनामात्र ही सफल नहीं है।

एदे मोहय-भावा, जो परिवज्जेह उवसमे लीणो।
हेयं ति मण्णमाणो, आसव अणुपेहणं तस्स॥९४॥

इन मोहभावों को अहो, जो हेय माने अरु तजे।
जो लीन उपशमभाव में, वह जीव अनुप्रेक्षा भजे॥९४॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो पुरुष [**उवसमे लीणो**] उपशमपरिणामों में (वीतरागभावों में) लीन होकर [**एदे**] ये पहिले कहे अनुसार [**मोहयभावा**] मोह से उत्पन्न हुए मिथ्यात्वादिक परिणामों को [**हेयं ति मण्णमाणो**] हेय अर्थात् त्यागने योग्य मानता हुआ [**परिवज्जेइ**] छोड़ता है, [**तस्स**] उसके [**आसव अणुपेहणं**] आस्रवानुप्रेक्षा होती है।

दोहा

आस्रव पंचप्रकारकूं, चिंतवैं तजैं विकार।
ते पावैं निजरूपकूं, यहै भावना सार॥७॥

इति आस्रवानुप्रेक्षा समाप्ता॥७॥

---

१. त्रैकालिक अकषाय ज्ञायक के आश्रय द्वारा ही।

२. स्वरूप के उग्र आलम्बन द्वारा।

संवरानुप्रेक्षा

(अब, संवर अनुप्रेक्षा का वर्णन करते हैं —)

सम्मत्तं देसवयं, महव्वयं तह जओ कसायाणां।
एदे संवरणामा, जोगाभावो तहा चेव॥९५॥

सम्यक्त्व अणुव्रत महाव्रत, एवं कषायों पर विजय।
होवे अयोगी दशा ये, सब नाम संवर जानिए॥९५॥

अन्वयार्थ : [**सम्मत्तं**] सम्यक्त्व, [**देशवयं**] देशव्रत, [**महव्वयं**] महाव्रत [**तह**] तथा [**कसायाणं**] कषायों का [**जओ**] जीतना [**जोगाभावो तहा चेव**] तथा योगों का अभाव, [**एदे संवरणामा**] ये संवर के नाम हैं।

भावार्थ : पहले मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप पाँच प्रकार का आस्रव कहा था, उनका *अनुक्रम से रोकना ही संवर है। सो कैसे ? मिथ्यात्व का अभाव तो चतुर्थ गुणस्थान में हुआ, वहाँ मिथ्यात्व का संवर हुआ। अविरत का अभाव एकदेश तो देशविरत में हुआ और सर्वदेश प्रमत्तगुणस्थान में हुआ, वहाँ अविरत का संवर हुआ। अप्रमत्त गुणस्थान में प्रमाद का अभाव हुआ, वहाँ उसका संवर हुआ। अयोगिजिन में योगों का अभाव हुआ, वहाँ उनका संवर हुआ। इस तरह संवर का क्रम है।

अब, इसी को विशेषरूप से कहते हैं —

गुत्ती समिदी धम्मो, अणुवेक्खा तह परीसहजओ वि।
उक्किट्ठं चारित्तं, संवरहेदू विसेसेण॥९६॥

है गुप्ति समिति धर्म अनुप्रेक्षा, परीषह जीतना।
उत्कृष्ट चारित्र इन सभी को, हेतु-संवर जानिये॥९६॥

---

* स्वबल द्वारा।

अन्वयार्थ : [**गुत्ती**] मन-वचन-काय की गुप्ति; [**समिदी**] ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापना—इस तरह पाँच समिति; [**धम्मो**] उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्म; [**अणुवेक्खा**] अनित्य आदि बारह अनुप्रेक्षा [**तह परसहजओ वि**] तथा क्षुधा आदि बाईस परीषहों का जीतना, [**उक्किट्ठं चारित्तं**] सामायिक आदि उत्कृष्ट पाँच प्रकार का चारित्र—ये [**विसेसेण**] विशेषरूप से [**संवरहेदू**] संवर के कारण हैं।

अब, इनको स्पष्टरूप से कहते हैं —

गुत्ती जोगणिरोहो, समिदी य पमाद-वज्जणं चेव।
धम्मो दयापहाणो, सुतत्त-चिंता अणुप्पेहा ॥९७॥

है गुप्ति योग निरोध, समिति निष्प्रमादी प्रवृत्ति है।
दयामय है धर्म, चिन्तवन तत्त्व का अनुप्रेक्षा ॥९७॥

अन्वयार्थ : [**जोगणिरोहो**] योगों का निरोध [**गुत्ती**] गुप्ति है; [**समिदी य पमादवज्जणं चेव**] प्रमाद का वर्जन, यत्नपूर्वक प्रवृत्ति समिति है; [**दयापहाणो**] दयाप्रधान [**धम्मो**] धर्म है; [**सुतत्त-चिंता अणुप्पेहा**] जीवादिक तत्त्व तथा निजस्वरूप का चिन्तवन, अनुप्रेक्षा है।

सोवि परीसहविजओ, छुहादि-पीडाण अइरउद्दाणं।
सवणाणं च मुणीणं, उवसमभावेण जं सहणं ॥९८॥

क्षुधादिक दारुण दुःखों को, सहे उपशमभाव से।
ये ही परीषहजय कहा, ज्ञानी महामुनिराज का ॥९८॥

अन्वयार्थ : [**जं**] जो [**अइरउद्दाणं**] अति रौद्र (भयानक) [**छुहादि पीडाण**] क्षुधा आदि पीड़ाओं को [**उवसमभावेण सहणं**] उपशमभावों (वीतरागभावों) से सहना, [**सो**] सो [**सवणाणं च मुणीणं**] ज्ञानी महामुनियों के [**परीसहविजओ**] परिषहों का जीतना कहलाता है।

अप्पसरूवं वत्थुं, चत्तं रायादिएहिं दोसेहिं।
सज्झाणम्मि णिलीणं, तं जाणसु उत्तमं चरणं ॥९९॥

रागादि दोषों से रहित, हो लीन जब सत् ध्यान में।
हे भव्यजन निज आतमा, चारित्र उत्तम जानिए॥९९॥

अन्वयार्थ : हे भव्य! जो [**अप्पसरूवं वत्थुं**] आत्मस्वरूप वस्तु है, उसका [**चत्तं रायादिएहिं दोसेहिं**] रागादि दोषों से रहित [**सज्झाणम्मि णिलीणं**] धर्म–शुक्लध्यान में लीन होना है, [**तं**] उसको [**उत्तमं चरणं**] तू उत्तम चारित्र [**जाणसु**] जान।

अब, कहते हैं कि जो ऐसे संवर का आचरण नहीं करता, वह संसार में भटकता है —

एदे संवरहेदुं, वियारमाणो वि जो ण आयरइ।
सो भमइ चिरं कालं, संसारे दुक्खसंतत्तो॥१००॥

करता विचार तथापि जो नर, आचरण करता नहीं।
वह दुःख से संतप्त होता, हुआ चहुँगति में भ्रमे॥१००॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो पुरुष [**एदे**] इन (पहले कहे अनुसार) [**संवरहेदुं**] संवर के कारणों को [**वियारमाणो वि**] विचारता हुआ भी [**ण आयरइ**] आचरण नहीं करता है, [**सो**] वह [**दुक्खसंतत्तो**] दुःखों से तप्तायमान होकर [**चिरं कालं**] बहुत समय तक [**संसारे**] संसार में [**भमइ**] भ्रमण करता है।

अब, कहते हैं कि संवर कैसे पुरुष के होता है —

जो पुण विसयविरत्तो, अप्पाणं सव्वदा वि संवरइ।
मणहरविसएहिंतो तस्स फुडं संवरो होदि॥१०१॥

मनहर विषय से आत्मा को, सदा संवरमय करे।
इन्द्रिय विषय से विरत हैं जो, उन्हें संवर प्रगट है॥१०१॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो मुनि [**विसयविरत्तो**] इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होता हुआ, [**मणहरविसएहिंतो**] मन को प्रिय लगनेवाले विषयों से [**अप्पाणं**] आत्मा को [**सव्वदा**] सदाकाल (हमेशा) [**संवरइ**] संवररूप करता है, [**तस्स फुडं संवरो होदि**] उसके प्रगटरूप से संवर होता है।

भावार्थ : *इन्द्रिय तथा मन को विषयों से रोककर, अपने शुद्धस्वरूप में रमण करावे, उसके संवर होता है।

* स्वाश्रय के बल द्वारा सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति ही संवर है।

दोहा

गुप्ति समिति वृष भावना, जयन परीसहकार।
चारित धारै संग तजि, सो मुनि संवरधार॥८॥

इति संवरानुप्रेक्षा समाप्ता॥८॥

निर्जरानुप्रेक्षा

अब, निर्जरा अनुप्रेक्षा का वर्णन करते हैं —

वारसविहेण तवसा, णियाणरहियस्स णिज्जरा होदि।
वेरग्गभावणादो, णिरहंकारस्स णाणिस्स॥१०२॥

जो ज्ञानिजन हैं अहंकार, निदान से विरहित हुए।
निर्जरा हो उन्हें बारह तप, अरु वैराग्य से॥१०२॥

अन्वयार्थ : [**णियाणरहियस्स**] निदान अर्थात् इन्द्रियविषयों की इच्छा से रहित, [**णिरहंकारस्स**] अहङ्कार अर्थात् अभिमान से रहित [**णाणिस्स**] ज्ञानी के [**वारसविहेण तवसा**] बारह प्रकार के तप से तथा [**वेरग्गभावणादो**] वैराग्यभावना अर्थात् संसार देह -भोग से विरक्त परिणाम से [**णिज्जरा होदि**] निर्जरा होती है।

भावार्थ : जो ज्ञानसहित तप करता है, उसके तप से निर्जरा होती है। अज्ञानी विपर्यय तप करता है, उसमें हिंसादिक दोष होते हैं — ऐसे तप से तो उलटे कर्म का बन्ध ही होता है। जो तप करके मद करता है, दूसरे को न्यून/हीन गिनता है, कोई पूजादिक

अर्थात् सत्कार विशेष नहीं करता है तो उससे क्रोध करता है — ऐसे तप से बन्ध ही होता है। गर्वरहित तप से निर्जरा होती है। जो तप करके इसलोक या परलोक में ख्याति, लाभ, पूजा और इन्द्रियों के विषयभोग चाहता है, उसके बन्ध ही होता है। निदानरहित तप से निर्जरा होती है। जो संसार -देह-भोग में आसक्त होकर तप करता है, उसका आशय शुद्ध नहीं होता, उसके निर्जरा नहीं होती है। वैराग्यभावना से ही निर्जरा होती है — ऐसा जानना चाहिए।

अब, निर्जरा का स्वरूप कहते हैं —

सव्वेसिं कम्माणं, सत्तिविवाओ हवेइ अणुभाओ।
तदणंतरं तु सडणं, कम्माणं णिज्जरा जाण॥१०३॥

फलदान शक्ति कर्म की, अनुभाग है जिनवर कहें।
झड़ना उदय के बाद उनका, निर्जरा है जानिए॥१०३॥

अन्वयार्थ : [**सव्वेसिं कम्माणं**] समस्त ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मों की [**सत्तिविवाओ**] शक्ति अर्थात् फल देने की सामर्थ्य का विपाक अर्थात् पकना-उदय होना [**अणुभाओ**] अनुभाग [**हवेइ**] कहलाता है; [**तदणंतरं तु सडणं**] उदय आने के अनन्तर ही झड़ जाने को [**कम्माणं णिज्जरा जाण**] कर्मों की निर्जरा जानना चाहिए।

भावार्थ : *कर्मों के उदय में आकर झड़ जाने को निर्जरा कहते हैं।

अब, कहते हैं कि यह निर्जरा दो प्रकार की है —

सा पुण दुविहा णेया, सकालपत्ता तवेण कयमाणा।
चादुगदीणं पढमा, वयजुत्ताणं हवे बिदिया॥१०४॥

निर्जरा दो तरह की, निज काल में अरु तप से हो।
है प्रथम चहुँगति जीव को, दूजी तपों से व्रती को॥१०४॥

अन्वयार्थ : [**सा पुण दुविहा णेया**] वह पहले कही हुई निर्जरा दो प्रकार की है। [**सकालपत्ता**] एक तो स्वकाल प्राप्त, [**तवेण कयमाणा**] दूसरी तप द्वारा की गयी;

* निश्चय से स्वाश्रय के द्वारा आंशिक शुद्धि की वृद्धि और अशुद्धि की हानि को निर्जरा कही है।

[**चादुगदीणं पढमा**] उनमें पहली स्वकाल प्राप्त निर्जरा तो चारों ही गति के जीवों के होती है और [**वयजुत्ताणं हवे बिदिया**] व्रतसहित जीवों के दूसरी तप द्वारा की गयी होती है।

भावार्थ : निर्जरा के दो प्रकार हैं। कर्म अपनी स्थिति को पूर्ण कर, उदय होकर, रस देकर खिर जाते हैं, सो सविपाक निर्जरा कहलाती है; यह निर्जरा तो सब ही जीवों के होती है और तप के कारण कर्म स्थिति पूर्ण हुए बिना ही खिर जाते हैं, वह अविपाक निर्जरा कहलाती है; यह व्रतधारियों के होती है।

अब, निर्जरा किससे बढ़ती है, सो कहते हैं —

उवसमभावतवाणं, जह जह वड्ढी हवेइ साहूणं।
तह तह णिज्जरवड्ढी, विसेसदो धम्मसुक्कादो ॥१०५॥

तप तथा उपशम भाव ज्यों ज्यों, वृद्धिगत मुनि के हुए।
त्यों निर्जरा बढ़ती उन्हें, होती अधिक द्वय ध्यान से ॥१०५॥

अन्वयार्थ : [**साहूणं**] मुनियों के [**जह जह**] जैसे-जैसे [**उवसमभावतवाणं**] उपशमभाव तथा तप की [**वड्ढी हवेइ**] बढ़वारी/अभिवृद्धि होती है, [**तह तह णिज्जर वड्ढी**] वैसे-वैसे ही निर्जरा ही बढ़वारी होती है। [**धम्मसुक्कादो**] धर्मध्यान और शुक्लध्यान से [**विसेसदो**] विशेषता से बढ़वारी होती है।

अब, इन वृद्धि के स्थानों को बतलाते हैं —

मिच्छादो सद्दिट्ठी, असंखगुणकम्मणिज्जरा होदि।
तत्तो अणुवयधारी, तत्तो य महव्वई णाणी ॥१०६॥

पढमकसायचउण्हं, विजोजओ तह य खवयसीलो य।
दंसणमोहतियस्स य, तत्तो उवसमग-चत्तारि ॥१०७॥

खवगो य खीणमोहो, सजोइणाहो तहा अजोईया।
एदे उवरिं उवरिं, असंखगुणकम्मणिज्जरया ॥१०८॥

असंख्यगुण हो निर्जरा, मिथ्यात्वि से सम्यकत्वी को।
उससे अंसख्यगुणी अणुव्रती, तथाविध महाव्रती को ॥१०६॥

विसंयोजक प्रथम चार कषाय का, दृग मोहत्रय।
के क्षपक को उससे गुणी, उपशमक त्रय गुणधान में ॥१०७॥
उपशमक से क्षपक को, केवलि सयोगि अयोगि जिन।
ये उपरिवर्ती गुण असंख्य, करें करम की निर्जरा ॥१०८॥

अन्वयार्थ : [**मिच्छादो**] प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में करणत्रयवर्ती विशुद्ध परिणामयुक्त मिथ्यादृष्टि से [**सद्दिट्ठी**] असंयत सम्यग्दृष्टि के [**असंखगुणकम्मणिज्जरा होदि**] असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा होती है; [**तत्तो अणुवयधारी**] उससे देशव्रती श्रावक के असंख्यातगुणी होती है; [**तत्तो य महव्वई णाणी**] उससे महाव्रती मुनियों के असंख्यातगुणी होती है; [**पढमकसायचउण्हं विजोजओ**] उससे अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन (अप्रत्याख्यानादिकरूप परिणमाना) करनेवाले के असंख्यातगुणी होती है; [**य दंसणमोहतियस्स य खवयसीलो**] उससे दर्शनमोह के क्षय करनेवाले के असंख्यातगुणी होती है; [**तत्तो उवसमगचत्तारि**] उससे उपशमश्रेणीवाले तीन गुणस्थानों में असंख्यातगुणी होती है; [**खवगो य**] उससे उपशान्तमोह ग्यारहवें गुणस्थानवाले के असंख्यात गुणी होती है; उससे क्षपकश्रेणीवाले तीन गुणस्थानों में असंख्यातगुणी होती है; [**खीणमोहो**] उससे क्षीणमोह बारहवें गुणस्थान में असंख्यात गुणी होती है; [**सजोइणाहो**] उससे सयोगकेवली के असंख्यातगुणी होती है; [**तहा अजोईया**] उससे अयोगकेवली के असंख्यातगुणी होती है [**एदे उवरिं उवरिं असंखगुणकम्मणिज्जरया**] — ये ऊपर-ऊपर असंख्यात गुणाकार हैं; इसलिए इनको गुणश्रेणी निर्जरा कहते हैं।

अब, गुणाकाररहित अधिकरूप निर्जरा जिससे होती है, सो कहते हैं —

जो विसहदि दुव्वयणं, साहम्मिय-हीलणं च उवसग्गं।
जिणऊण कसायरिउं, तस्स हवे णिज्जरा विउला ॥१०९॥

दुर्वचन, उपसर्ग सहते अनादर साधर्मि कृत।
जीतें कषाय रिपु उन्हें हो, निर्जरा अतिशय बहुत ॥१०९॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो मुनि, [**दुव्वयणं**] दुर्वचन [**विसहदि**] सहता है, [**साहम्मियहीलणं**] साधर्मी जो अन्य मुनि आदिक उनसे किये गये अनादर को सहता

है [**च उवसग्गं**] तथा देवादि कों से किये गये उपसर्ग को सहता है, [**कसायरिउं**] कषायरूप बैरी को [**जिणऊण**] जीत कर जो ऐसे करता है, [**तस्स**] उसके [**विउला**] विपुल (बड़ी) [**णिज्जरा**] निर्जरा [**हवे**] होती है।

भावार्थ : कोई कुवचन कहे तो उससे कषाय न करे तथा अपने को अतीचारादिक (दोष) लगे, तब आचार्यादि कठोर वचन कहकर प्रायश्चित देवें, निरादर करें तो उसको कषायरहित होकर सहे तथा कोई उपसर्ग करे तो उससे कषाय न करे, उसके बड़ी निर्जरा होती है।

रिणमोयणं व मण्णइ, जो उवसग्गं परीसहं तिव्वं।
पावफलं मे एदं, मया वि जं संचिदं पुव्वं॥११०॥

मुनि मानते हैं कर्जवत्, उपसर्ग परिषह को अहो।
मैंने किये जो पूर्व सञ्चित, पाप उनका फल अहो॥११०॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो मुनि [**उवसग्गं**] उपसर्ग को तथा [**तिव्वं**] तीव्र [**परीसहं**] परीषह को [**रिणमोयणं व मण्णइ**] ऋण (कर्ज) की तरह मानता है कि [**एदे**] ये उपसर्ग और परीषह [**मया वि जं पुव्वं संचिदं**] मेरे द्वारा पूर्वजन्म में सञ्चित किये गये [**पावफलं**] पापकर्मों का फल है, सो भोगना चाहिए; इस समय व्याकुल नहीं होना चाहिए।

भावार्थ : जैसे किसी को ऋण के रुपये देने होवे तो जब वह माँगे, तब देना पड़े। उसमें व्याकुलता कैसी ? ऐसा विचार कर जो उपसर्ग और परीषह को शान्तपरिणामों से सह लेता है, उसके बहुत निर्जरा होती है।

जो चिंतेइ सरीरं, ममत्तजणयं विणस्सरं असुइं।
दंसणणाणचरित्तं, सुहजणयं णिम्मलं णिच्चं॥१११॥

चिन्तन करें जो देह यह नश्वर, अशुचि ममता करे।
अरु नित्य निर्मल सुखद, दर्शन ज्ञान चारित्र चिन्तवें॥१११॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो मुनि [**सरीरं**] शरीर को [**ममत्तजणयं**] ममत्व (मोह)

को उत्पन्न करानेवाला [**विणस्सरं**] विनाशीक [**असुइं**] तथा अपवित्र [**चिंतेइ**] मानता है और [**सुहजणयं**] सुख को उत्पन्न करनेवाले [**णिम्मलं**] निर्मल [**णिच्चं**] तथा नित्य [**दंसणणाणचरित्तं**] दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी आत्मा का [**चिंतेइ**] चिन्तवन (ध्यान) करता है, उसके बहुत निर्जरा होती है।

भावार्थ : शरीर को मोह का कारण, अस्थिर तथा अशुचि माने, तब इसकी चिन्ता नहीं रहती। अपने स्वरूप में लगे, तब निर्जरा होवे ही होवे।

अप्पाणं जो णिंदइ, गुणवंताणं करेदि बहुमाणं।
मणइंदियाण विजई, स सरूवपरायणो होउ॥११२॥

निन्दा करें निज दोष की, बहुमान पर-गुण का करे।
मन इन्द्रियों को जीतते, निज रूप में तत्पर रहे॥११२॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो साधु [**अप्पाणं णिंदइ**] अपने किये हुए दुष्कृत की निन्दा करता है, [**गुणवंताणं बहुमाणं करेदि**] गुणवान् पुरुषों का प्रत्यक्ष-परोक्ष बड़ा आदर करता है, [**मणइंदियाण विजई**] अपने मन व इन्द्रियों को जीतनेवाला होता है, [**स सरूवपरायणो होउ**] वह अपने स्वरूप में तत्पर होता है; उसी के बहुत निर्जरा होती है।

भावार्थ : [१]मिथ्यात्वादि दोषों का निरादर करे, तब वे क्यों रहें ? नष्ट ही हो जावें।

तस्स य सहलो जम्मो, तस्स वि पावस्स णिज्जरा होदि।
तस्स वि पुण्णं वड्ढदि, तस्स वि सोक्खं परं होदि॥११३॥

है सफल उनका जन्म, उनके पाप को ही निर्जरा।
बढ़ता उन्हीं का पुण्य, उनको मोक्ष सुख होवे खरा॥११३॥

अन्वयार्थ : जो साधु, ऐसे (पहिले कहे अनुसार) निर्जरा के कारणों में प्रवृत्ति करता है, [**तस्स य सहलो जम्मो**] उसी का जन्म सफल है, [**तस्स वि पावस्स णिज्जरा होदि**] उस ही के पापकर्म की निर्जरा होती है, [**तस्स वि पुण्णं वड्ढदि**] उस ही के

* निज शुद्धात्मा का ही आदर द्वारा।

पुण्यकर्म का अनुभाग बढ़ता है [**तस्स वि सोक्खं परं होदि**] और उसी को उत्कृष्ट सुख अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है।

भावार्थ : जो निर्जरा के कारणों में प्रवृत्ति करता है, उसके मिथ्यात्वादि पापों का नाश होता है, पुण्य की वृद्धि होती है और वही [१]स्वर्गादिक के सुखों की भोगकर [२]मोक्ष को प्राप्त होता है।

अब, उत्कृष्ट निर्जरा कहकर उसके कथन को पूर्ण करते हैं —

जो समसोक्खणिलीणो, वारंवारं सरेइ अप्पाणं।
इंदियकसायविजई, तस्स हवे णिज्जरा परमा॥११४॥

जो साम्य सुख में लीन हो, बहुबार निज चिन्तन करें।
जीतें कषाय रु इन्द्रियों को, उन्हें उत्तम निर्जरा॥११४॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो मुनि, [**समसोक्खणिलीणो**] वीतरागभावरूप साम्यरूप सुख में लीन/तन्मय होकर [**वारं वारं अप्पाणं सरेइ**] बार-बार आत्मा का स्मरण अर्थात् ध्यान करता है [**इंदियकसायविजई**] तथा इन्द्रिय और कषायों को जीतता है, [**तस्स परमा णिज्जरा हवे**] उसके उत्कृष्ट निर्जरा होती है।

भावार्थ : [३]जो इन्द्रियों का और कषायों का निग्रह करके, परम वीतरागभावरूप आत्मध्यान में लीन होता है, उसके उत्कृष्ट निर्जरा होती है।

दोहा

पूरब बाँधे कर्म जे, क्षरैं तपोबल पाय।
सो निर्जरा कहाय है, धारैं ते शिव जाय॥९॥

इति निर्जरानुप्रेक्षा समाप्ता॥९॥

---

१. परम्परा। २. पूर्ण स्वाश्रय द्वारा।
३. अपने त्रैकालिक भूतार्थ ज्ञायकस्वरूप के परिग्रहण द्वारा ही।

लोकानुप्रेक्षा

अब, लोकानुप्रेक्षा का वर्णन करते हैं। पहिले लोक का आकारादिक कहेंगे। यहाँ कुछ गणित प्रयोजनकारी जानकर संक्षेप से कहते हैं।

भावार्थ : गणित को अन्य ग्रन्थों के अनुसार लिखते हैं। पहिले तो परिकर्माष्टक है, उसमें संकलन (जोड़ देना)। जैसे आठ में सात जोड़ देने से पन्द्रह होते हैं। व्यवकलन (बाकी काढ़ना)—जैसे आठ में से तीन घटाने पर पाँच रहते हैं। गुणाकार–जैसे आठ को सात से गुणा करने पर छप्पन होते हैं। भागाकार – जैसे आठ में दो का भाग देने से चार आते हैं। वर्ग – दो समान राशियों को गुणा करने पर जितने आते हैं, उसको वर्ग कहते हैं, जैसे आठ का वर्ग चौसठ होता है। वर्गमूल – जैसे चौसठ का वर्गमूल आठ होता है। घन – तीन समान राशियों के गुणा करने पर जो आवे सो घन कहलाता है। जैसे आठ का घन पाँच सौ बारह। घनमूल – जैसे पाँच सौ बारह का घनमूल आठ। इस तरह परिकर्माष्टक जानना चाहिए।

अब, त्रैराशिक बतलाते हैं इसमें एक प्रमाण राशि, एक फलराशि और एक इच्छाराशि ऐसे तीन राशियाँ होती हैं। जैसे दो रुपयों की कोई वस्तु सोलह सेर आती है तो आठ रुपयों की कितनी आवेगी? यहाँ प्रमाण राशि दो, फलराशि सोलह और इच्छाराशि आठ हुई। फलराशि को इच्छाराशि से गुणा करने पर एक सौ अट्ठाईस होते हैं, उनमें प्रमाण राशि दो का भाग देने पर चौसठ सेर आते हैं, इस तरह जानना चाहिए।

क्षेत्रफल : जहाँ बराबर के खण्ड किये जाते हैं, उसको क्षेत्रफल कहते हैं। जब खेत डोरी से मापा जाता है तब कचवांसी, विसवांसी और बीघा किये जाते हैं, उसकी क्षेत्रफल संज्ञा है। जैसे अस्सी हाथ की डोरी होती है, उसके बीस गट्ठे कहलाते हैं। चार हाथ का एक गट्ठा होता है। ऐसे खेत में जो एक डोरी लम्बा चौड़ा खेत होवे उसके चार हाथ के लम्बे

चौड़े खण्ड करो, तब बीस को बीस से गुणा करने पर चार सौ हुए ये ही कचवांसी कहलाती हैं, इसके बीस बिसवे होते हैं, उनका एक बीघा होता है। ऐसे ही जहाँ चौखूंटा, तिखूँटा, गोल आदि खेत होवे तो उसके बराबर के खण्ड करके माप कर क्षेत्रफल ले आते हैं। वैसे ही लोक के क्षेत्र की योजनादिक की संख्या से जैसा क्षेत्र होवे वैसे ही विधान से क्षेत्रफल लाने का विधान गणित शास्त्र से जान चाहिए।

यहाँ लोक के क्षेत्र में तथा द्रव्यों की गणना में अलौकिक गणित इक्कीस हैं तथा उपमा गणित आठ हैं। उसमें संख्यात के तीन भेद—जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट। असंख्यात के नौ भेद—परीतासंख्यात जघन्य, मध्य, उत्कृष्ट। युक्तासंख्यात जघन्य, मध्य, उत्कृष्ट। असंख्याता संख्यात जघन्य, मध्य, उत्कृष्ट इस तरह नौ भेद हुए। अनन्त के नौ भेद—परीतानन्त, युक्तानन्त, अनन्तानन्त, वे जघन्य, मध्य, उत्कृष्ट के भेद से नौ हुए। इस तरह संख्यात के तीन, असंख्यात के नौ और अनन्त के नौ सब मिलाकर इक्कीस भेद हुए।

जघन्य परीत असंख्यात लाने के लिये लाख-लाख योजन के जम्बूद्वीप प्रमाण व्यासवाले हजार-हजार योजन ऊँडे (गहरे) चार कुण्ड करो। एक का नाम अनवस्था, दूसरा शलाका, तीसरा प्रतिशलाका चौथा महाशलाका। उनमें से अनवस्था कुण्ड को सरसों से सिंघाऊँ भरो, उसमें छियालीस अंकप्रमाण सरसों आवेगी। उनका सङ्कल्प मात्र लेकर चलो। एक द्वीप में एक समुद्र में इस क्रम से गिराते जाओ। जहाँ वे सरसों समाप्त हो जाय उस द्वीप वा समुद्र की सूची प्रमाण अनवस्था कुण्ड करो। उसमें सरसों भरो और शलाका कुण्ड में एक-दूसरी सरसों लाकर गिराओ। फिर वैसे ही उस दूसरे अनवस्था कुण्ड की एक सरसों एक द्वीप में एक समुद्र में गिराते जाओ। इस तरह करते हुए उस अनवस्था कुण्ड की सरसों जहाँ समाप्त हो जाये वहाँ उस द्वीप व समुद्र की सूची प्रमाण फिर अनवस्थाकुण्ड करके वैसे ही सरसों भरो। फिर एक दूसरी सरसों शलाका कुण्ड में लाकर गिराओ, इस तरह करते हुए छियालीस अङ्क प्रमाण अनवस्था कुण्ड हो जायें तब एक शलाका कुण्ड भरे। तब एक सरसों प्रतिशलाका कुण्ड में गिराओ। वैसे ही (पहिले कहे अनुसार) अनवस्था होती जाये, शलाका होती जाये ऐसे करते हुए छियालीस अङ्क प्रमाण शलाका कुण्ड भर चुके तब एक प्रतिशलाका भरे। इसी तरह अनवस्था कुण्ड होता जाये,

शलाका भरते जाये, प्रतिशलाका भरते जाये तब छियालीस अङ्क प्रमाण प्रतिशलाका कुण्ड भर जाये, तब एक महाशलाका कुण्ड भरे। इस तरह करते हुए छियालीस अङ्कों के घन प्रमाण अनवस्था कुण्ड हुए।

उनमें अन्त का अनवस्था जिस द्वीप तथा समुद्र की सूची प्रमाण बना उसमें जितनी सरसों आवे उतना प्रमाण जघन्य परीतासंख्यात का है। इसमें एक सरसों घटाने से उत्कृष्ट संख्यात कहलाता है। दो सरसों प्रमाण जघन्य संख्यात कहलाता है, बीच के सब मध्य संख्यात के भेद हैं। जघन्य परीतासंख्यात की सरसों की राशि को एक-एक बखेर (फैला) कर एक-एक पर उसही राशि को रखकर परस्पर में गुणा करने से अन्त में जो राशि आती है उसको जघन्य युक्तासंख्यात कहते हैं। इसमें एक रूप घटाने पर उत्कृष्ट परीतासंख्यात कहलाता है। मध्य के अनेक भेद जानने चाहिए। जघन्य युक्तासंख्यात को जघन्ययुक्तासंख्यात से एक बार परस्पर में गुणा करने से जो परिमाण आता है, वह जघन्य असंख्यातासंख्यात जानना चाहिए। इसमें से एक घटाने पर उत्कृष्ट युक्तासंख्यात हो जाता है। मध्य युक्त असंख्यात बीच के अनेक भेद जानने चाहिए।

* अब इस जघन्य असंख्यातासंख्यातप्रमाण तीन राशि करनी। एक शलाका एक विरलन एक देय। तहाँ विरलन राशि कूं बखेरि एक-एक जुदा-जुदा करना, एक एककै ऊपरि एक-एक दोय राशि धरना तिनकूं परस्पर गुणिये जब सर्व गुणकार होय चुकै तब एक रूप शलाका राशि में सूं घटावना, बहुरि जो राशि भया तिस प्रमाण विरलन देय राशि करना, तहाँ विरलन कूं बखेरि एक एक कूं जुदा करि एक एक परिदेय राशि देना, तिनकूं परस्पर गुणन करना जो राशि निजपै तब एक शलाका राशि में सूं फेरि घटावना, बहुरि जो राशि निपज्या ताकै परिमाण विरलन देय राशि करना। विरलन कूं बखेरि देय कूं एक एक पर स्थापि परस्पर गुणन करना, एकरूप शलाका में सूं घटावना, ऐसैं विरलन देय राशिकरि गुणाकार करता जाना शलाका में सूं घटाता जाना, जब शलाका राशि निःशेष हो जाये तब जो किछू परिमाण आया सो मध्य असंख्यातासंख्यात का भेद है, बहुरि तितने २ परिमाण शलाका, विरलन, देय, तीन राशि फेरि करना। तिनकूं पूर्ववत् करतैं शलाका राशि निःशेष

* यह विषय स्व० पण्डित जयचन्द्रजी साहब की भाषा में ही ज्यों का त्यों रख दिया है।

होय जाय, तब जो महाराशि परिमाण आया सो भी मध्य असंख्यातासंख्यात का भेद है, बहुरि तिस राशि परिमाण के फेरि शलाका विरलन देय राशि करना, तिनकूं पूर्वोक्त विधानकरि गुणनेतै जो महाराशि भया सो यह भी मध्य असंख्यातासंख्यात का भेद भया, अर शलाकात्रयनिष्ठापन एक बार भया, बहुरि इस राशि मैं असंख्यातासंख्यात प्रमाण छह राशि और मिलावणी। लोकप्रमाण धर्मद्रव्य के प्रदेश, अधर्मद्रव्य के प्रदेश, एक जीव के प्रदेश, लोकाकाश के प्रदेश बहुरि उस लोकतैं असंख्यातगुणे अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जीवनि का परिमाण, बहुरि तिसतैं असंख्यातगुणे सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जीवों का परिमाण ये छह राशि मिलाय पूर्वोक्त प्रकार शलाका विरलन देयराशि के विधानकरि शलाकात्रयनिष्ठापन करना, तबजो महाराशि निपज्या सो भी मध्य असंख्यातासंख्यात का भेद है, तामें च्यारि राशि और मिलावने-कल्प काल बीस कोड़ाकोड़ी सागर के समय बहुरि स्थितिबंधकूं कारण कषायनि के स्थान, अनुभाग बंधकूं कारण कषायनि के स्थान, योगनिके अविभाग प्रतिच्छेद, ऐसी च्यारि राशि मिलाय अर पूर्वोक्त विधानकरि शलाकात्रय निष्ठापन करना ऐसें करतैं जो परिमाण होय सो जघन्यपरीतानन्तराशि भया, यामैंसू एक रूप घटाये उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात होय है, बीच में मध्य के नाना भेद हैं, बहुरि जघन्य परीतानन्त राशि विरलनकरि एक एक परि एक एक जघन्य परीतानन्त स्थापनकरि परस्पर गुणें जो परिमाण होय सो जघन्ययुक्तानन्त जानना। तामें एक घटाये उत्कृष्ट परीतानन्त है। मध्य परीतानन्त के बीचि में नाना भेद हैं। बहुरि जघन्य युक्तानन्तकूं जघन्य युक्तानन्तकरि एकबार परस्पर गुणे जघन्य अनन्तानन्त है। यामेंसूं एक घटाये उत्कृष्टा युक्तानन्त होय है। मध्य युक्तानन्त के बीच में नाना भेद हैं। अब उत्कृष्ट नन्तानन्तकूं ल्यावने का उपाय कहै हैं। तहाँ जघन्य अनन्तानन्त परिमाण शलाका विरलन देय। इन तीन राशिकरि अनुक्रमतैं पहलैं कह्या तैसें शलाकात्रय-निष्ठापन करै। तब मध्य अनन्तानन्त का भेदरूप राशि में निपजै है, ताविषै छह राशि मिलावै सिद्धराशि, निगोदराशि, प्रत्येक वनस्पतिसहित निगोदराशि, पुद्गलराशि, काल के समय, आकाश के प्रदेश ये छह राशि मध्य अनन्तानन्त के भेदरूप मिलाय शलाकात्रयनिष्ठापन पूर्ववत् विधानकरि करना तब मध्य अनन्तानन्त का भेदरूप राशि निपजै, ताविषै फेरि धर्म्मद्रव्य अधर्मद्रव्य के अगुरुलघु गुण के अविभागप्रतिच्छेद मिलाय जो महाराशि परिमाण राशि भया, ताकूं फेरि पूर्वोक्त विधानकरि शलाकात्रयनिष्ठापन

करिये तब जो कोई मध्य अनन्तानन्त का भेदरूप राशि भया, ताकूं केवलज्ञान के अविभाग-प्रतिच्छेदन का समूह परिमाणविषै घटाय फेरि मिलाइये तब केवलज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदरूप उत्कृष्ट अनन्तानन्त परिमाण राशि होय है।

उपमा प्रमाण आठ प्रकार का कहा गया है—१. पल्य, २. सागर, ३. सूच्यंगुल, ४. प्रतरांगुल, ५. घनांगुल, ६. जगत्श्रेणी, ७. जगतप्रतर, ८. जगतघन। पल्य तीन प्रकार का है—१. व्यवहारपल्य, २. उद्धारपल्य, ३. अद्धापल्य। इनमें से व्यवहारपल्य तो रोमों की संख्या मात्र ही है तथा उद्धारपल्य से द्वीपसमुद्रों की संख्या गिनते हैं और अद्धापल्य से कर्मों की स्थिति देवादिक की आयु स्थिति गिनते हैं। अब इनका परिमाण जानने के लिये परिभाषा कहते हैं। अनन्त पुद्‌गल के परमाणुओं के स्कन्ध को एक अवसन्नासन्न कहते हैं उससे आठ आठ गुणे क्रम से १. सन्नासन्न, २. तृटरेणु, ३. त्रसरेणु, ४. रथरेणु, ५. उत्तमभोगभूमिका बाल का अग्रभाग, ६. मध्यम भोगभूमिका, ७. जघन्य भोगभूमिका, ८. कर्मभूमिका (बाल का अग्रभाग) ९. लीख, १०. सरसों, ११. यव, १२. अंगुल ये बारह स्थान होते हैं। इस तरह से अंगुल हुआ सो उत्सेध अंगुल है। इससे नारकी, तिर्यंच, देव और मनुष्यों के शरीर के प्रमाण का वर्णन किया जाता है तथा देवों के नगर व मन्दिरों का वर्णन किया जाता है। उत्सेध अंगुल से पाँच सौ गुणा प्रमाणांगुल है। इससे द्वीप, समुद्र, पर्वत आदि के परिमाण का वर्णन होता है। आत्मांगुल जहाँ जैसे मनुष्य का हो उसी परिमाण का जानना। छह अंगुल का एक पाद, दो पाद का एक विलस्त, दो विलस्त का एक हाथ, दो हाथ का एक भीष, दो भीष का एक धनुष, दो हजार धनुष का एक कोस और चार कोस का एक योजन होता है। सो यहाँ प्रमाणांगुल से उत्पन्न एक योजन प्रमाण ऊँडा (गहरा) व चौड़ा एक गड्ढा करना, उसको-उत्तमभोगभूमि में उत्पन्न हुए जन्म से लगाकर सात दिन तक के मींढे के बालों के अग्रभाग से-भूमि के समान अत्यन्त ठोस भरना, उसमें रोम पैंतालीस अंकप्रमाण समावें, उस एक-एक रोमखण्ड को सौ सौ बरस बीतने पर काढे (निकाले)। जितने वर्षों में पूरे हों सो व्यवहार पल्य है। उन वर्षों के असंख्यात समय होते हैं। उन रोमों में से एक एक रोम को, असंख्यात कोडि वर्ष के जितने समय हों, उतने उतने खण्ड करने पर उद्धारपल्य के रोम खण्ड होते हैं, उतने समय उद्धारपल्य के हैं।

इन उद्धारपल्य के एक एक रोम खण्ड के असंख्यात वर्ष के जितने समय हों उतने

खण्ड करने पर अद्धापल्य के रोमखण्ड होते हैं उसके समय भी इतने ही हैं। दस कोड़ाकोड़ी पल्य का एक सागर होता है। एक प्रमाणांगुल प्रमाण लम्बे एक प्रदेश प्रमाण चौड़े ऊँचे क्षेत्र को सूच्यंगुल कहते हैं। अद्धापल्य के अर्द्ध छेदों को विरलनकर एक एक अद्धापल्य उन पर स्थापित कर परस्पर गुणा करने पर जो परिमाण आवे उतने इसके प्रदेश हैं इसके वर्ग को प्रतरांगुल कहते हैं। सूच्यंगुल के घन को घनांगुल कहते हैं (एक अंगुल चौड़ा इतना ही लम्बा और ऊँचा इसको घन अंगुल कहते हैं)। सात राजू लम्बे एक प्रदेश प्रमाण चौड़े ऊँचे क्षेत्र को जगतश्रेणी कहते हैं। इसकी उत्पत्ति इस तरह कि अद्धापल्य के अर्द्ध छेदों के असंख्यातवें भाग के प्रमाण को विरलनकर एक एक पर घनांगुल दे परस्पर गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न हो सो जगतश्रेणी है, जगतश्रेणी के वर्ग को जगतप्रतर कहते हैं। जगतश्रेणी के घन को जगतघन कहते हैं। सात राजू चौड़े लम्बे ऊँचे को जगतघन कहते हैं। यह लोक के प्रदेशों का प्रमाण है सो भी मध्य असंख्यात का भेद है। ऐसे यह गणितसंक्षेप से कही है। गणित का विशेष कथन गोम्मटसार त्रिलोकसार से जानना चाहिये। द्रव्य में तो सूक्ष्म पुद्गल परमाणु, क्षेत्र में आकाश के प्रदेश, काल में समय और भाव में अविभागप्रतिच्छेद इन चारों ही को परस्पर प्रमाण संज्ञा है। कम से कम तो ये हैं और अधिक से अधिक द्रव्य में तो महास्कन्ध, क्षेत्र में आकाश, काल में तीनों काल और भाव में केवलज्ञान जानना चाहिये। काल में एक आवली के जघन्य युक्तासंख्यात समय हैं। असंख्यात आवली का मुहूर्त, तीस मुहूर्त का दिन-रात, तीस दिन-रात काा एक मास और बारह मास का एक वर्ष होता है, इत्यादि जानना चाहिये।

अब, लोकाकाश का स्वरूप कहते हैं —

सव्वायासमणंतं, तस्स य बहुमज्झसंठिओ लोओ।
सो केण वि णेय कओ, ण य धरिओ हरिहरादीहिं॥११५॥

इस अनन्त प्रदेशी नभ के, मध्य में स्थित लोक है।
नहिं कोई कर्ता और इसको, हरि हरादि धरें नहीं॥११५॥

अन्वयार्थ : [**सव्वायासमणंतं**] आकाशद्रव्य का क्षेत्र (प्रदेश) अनन्त है, [**तस्स य बहुमज्झसंठिओ लोओ**] उसके बहुमध्यदेश (ठीक बीच के क्षेत्र) में स्थित लोक है,

[**सो केण वि णेय कओ**] वह किसी के द्वारा बनाया हुआ नहीं है [**ण य धरिओ हरिहरादीहिं**] तथा किसी हरिहरादि के द्वारा धारण (रक्षा) किया हुआ नहीं है।

भावार्थ : कितने ही अन्यमत में कहते हैं कि लोक की रचना ब्रह्मा करता है, नारायण (विष्णु) रक्षा करता है और शिव, संहार (नाश) करता है तथा कछुआ और शेषनाग इसको धारण किये हुए हैं। जब प्रलय होती है, तब सब शून्य हो जाता है; ब्रह्मा की सत्तामात्र रह जाती है, फिर ब्रह्मा की सत्ता में से सृष्टि की रचना होती है – इत्यादि अनेक कल्पित कथन कहते हैं। उस सबका निषेध इस गाथा से जान लेना चाहिए। लोक किसी के द्वारा बनाया हुआ नहीं है, धारण किया हुआ नहीं हैं, किसी के द्वारा इसका नाश भी नहीं होता है। लोक तो जैसा है, वैसा ही सर्वज्ञ ने देखा है; वह ही वस्तु स्वरूप है।

अण्णोण्णपवेसेण य, दव्वाणं अच्छणं भवे लोओ।
दव्वाणं णिच्चत्तो, लोयस्स वि मुणह णिच्चत्तं॥११६॥

परस्पर अवगाह द्रव्यों का, कहा यह लोक है।
नित्य हैं सब द्रव्य इससे, लोक भी यह नित्य है॥११६॥

अन्वयार्थ : [**दव्वाणं अच्छणं**] जीवादिक द्रव्यों का [**अण्णोण्णपवेसेण य**] परस्पर एकक्षेत्रावगाह प्रवेश अर्थात् मिलापरूप अवस्थान [**लोओ**] लोक [**भवे**] है; [**दव्वाणं णिच्चत्तो**] द्रव्य हैं, वे नित्य हैं, [**लोयस्स वि णिच्चत्तं मुणह**] इसलिए लोक भी नित्य है — ऐसा जानना।

भावार्थ : [१]छह द्रव्यों के समुदाय को लोक कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य[२] नित्य है; इसलिए लोक भी नित्य ही है।

अब, यदि कोई तर्क करे कि यदि प्रत्येक द्रव्य और द्रव्यों का समुदायरूप लोक नित्य है तो फिर उत्पत्ति व नाश किसका होता है? उसका समाधान करने के लिए गाथा कहते हैं —

परिणामसहावादो, पडिसमयं परिणमंति दव्वाणि।
तेसिं परिणामादो, लोयस्स वि मुणह परिणामं॥११७॥

१. छह जाति के। २. सामान्य-विशेषरूप।

द्रव्य है परिणमनशील, प्रति समय परिणमित हो।
इसलिए यह लोक भी, परिणामी है यह जानिए॥११७॥

अन्वयार्थ : [**दव्वाणि**] द्रव्य [**परिणामसहावादो**] परिणामस्वभावी हैं, इसलिए [**पडिसमयं**] प्रतिसमय [**परिणमंति**] परिणमते हैं, [**तेसि परिणामादो**] उनके परिणमन के कारण [**लोयस्स वि णिच्चतं मुणह**] लोक को भी परिणामी जानो।

भावार्थ : द्रव्य हैं, वे परिणामी हैं। लोक है, वह द्रव्यों का समुदाय है; इसलिए द्रव्यों के परिणामी होने के कारण लोक भी परिणामी हुआ। कोई पूछे परिणाम क्या? उसका उत्तर—परिणाम नाम पर्याय का है। एक अवस्थारूप द्रव्य का पलटकर, दूसरी अवस्थारूप होना, उसको पर्याय कहते हैं। जैसे, मिट्टी, पिण्ड अवस्थारूप थी, सो पलटकर घड़ा बनी; इस तरह परिणाम का स्वरूप जानना चाहिए। लोक का आकार तो नित्य है और द्रव्यों की पर्यायें पलटती है, इस अपेक्षा इसको परिणामी कहते हैं।

अब, लोक का विस्तार कहते हैं —

सत्तेक्क पंच इक्का, मूले मज्झे तहेव बंभंते।
लोयन्ते रज्जूओ, पुव्वावरदो ये वित्थारो॥११८॥

पूर्व-पश्चिम, मूल-मध्य में सात अरू एक राजू है।
है पाँच राजू ब्रह्म तक, लोकान्त में इक राजू है॥११८॥

अन्वयार्थ : [**पुव्वावरदो य**] लोक का पूर्व-पश्चिम दिशा में [**मूले मज्झे**] मूल (नीचे) और मध्य (बीच) में क्रम से [**सत्तेक्क**] सात राजू और एक राजू का विस्तार है, [**तहेव बंभंते पंच इक्का लोयन्ते रज्जूओ वित्थारो**] ऊपर ब्रह्मस्वर्ग के अन्त में पाँच राजू का विस्तार है और लोक के अन्त में एक राजू का विस्तार है।

भावार्थ : लोक, पूर्व-पश्चिम दिशा में नीचे के भाग में सात राजू चौड़ा है। वहाँ से अनुक्रम से घटता-घटता मध्यलोक में एक राजू रह जाता है, फिर ऊपर अनुक्रम से बढ़ता-बढ़ता ब्रह्मस्वर्ग तक पाँच राजू चौड़ा हो जाता है। बाद में घटते-घटते अन्त में एक राजू रह जाता है। इस तरह होते हुए खड़े किये गये डेढ़ मृदङ्ग की तरह लोक का आकार हुआ।

अब, दक्षिण उत्तर के विस्तार व ऊँचाई तथा उसके भेद कहते हैं —

दक्खिणउत्तरदो पुण, सत्त वि रज्जू हवेदि सव्वत्थ।
उड्ढं चउदहरज्जू सत्त वि रज्जूघणो लोओ ॥११९॥

सात राजू कहा दक्षिण, और उत्तर में अहो।
उत्तंग चौदह राजू है कुल, सात घन राजू कहो ॥११९॥

अन्वयार्थ : [**दक्खिणउत्तरदो पुण सव्वत्थ सत्त वि रज्जू हवेदि**] लोक का दक्षिण-उत्तर दिशा में सब ऊँचाई पर्यन्त सात राजू का विस्तार है। [**उड्ढं चउदहरज्जू**] ऊँचा चौदह राजू है [**सत्त वि रज्जूघणो लोओ**] और सात राजू का घनप्रमाण है।

मेरुस्स हिट्ठभाये, सत्त वि रज्जू हवेइ अहलोओ।
उड्ढम्हि उड्ढलोओ, मेरुसमो मज्झिमो लोओ ॥१२०॥

मेरु के नीचे अधो है, सात राजू जिन कहें।
इतना ही ऊपर ऊर्ध्व है, है मेरु सम मध्य लोक है ॥१२०॥

अन्वयार्थ : [**मेरुस्स हिट्ठभाये**] मेरु के नीचे के भाग में [**सत्त वि रज्जू**] सात राजू [**अहलोओ**] अधोलोक [**हवेइ**] है, [**उड्ढम्हि उड्ढलोओ**] ऊपर सात राजू ऊर्ध्वलोक है। [**मेरुसमो मज्झिमो लोओ**] मेरु समान मध्यलोक है।

भावार्थ : दक्षिण-उत्तर में सब जगह सात राजू चौड़ा है। ऊँचा चौदह राजू है। इस तरह लोक का घनफल करने पर तीन सौ तियालीस (३४३) राजू होता है। समान क्षेत्र खण्ड कर एक राजू चौड़ा, लम्बा, ऊँचा खण्ड करने को घनफल कहते है।

मेरु के नीचे सात राजू अधोलोक है, ऊपर सात राजू ऊर्ध्वलोक है, बीच में मेरु समान लाख योजन का मध्यलोक है। इस तरह तीन लोक का विभाग जानना चाहिए।

अब, लोक शब्द का अर्थ कहते हैं —

दंसंति जत्थ अत्था, जीवादीया स भण्णदे लोओ।
तस्स सिहरम्मि सिद्धा, अंतविहीणा विरायंते ॥१२१॥

जीवादि द्रव्य जहाँ दिखें, वह लोक है यह जिन कहें।
उसके शिखर पर हैं अनन्त, विराजते प्रभु सिद्ध हैं ॥१२१॥

अन्वयार्थ : [**जत्थ**] जहाँ [**जीवादीया**] जीवादिक [**अत्था**] पदार्थ [**दंसंति**] देखे जाते हैं, [**स लोओ भण्णदे**] वह लोक कहलाता है। [**तस्स सिहरम्हि**] उसके शिखर पर [**अंतविहीणा**] अन्तरहित (अनन्त) [**सिद्धा**] सिद्ध [**विरायंते**] विराजमान हैं।

भावार्थ : 'लोक-दर्शने' व्याकरण में धातु है, उसके आश्रयार्थ में अकार प्रत्यय से लोक शब्द बनता है; इसलिए जिसमें जीवादिक द्रव्य देखे जाते हैं, उसको लोक कहते हैं। उसके ऊपर अन्त में कर्मरहित [1]शुद्धजीव अपने अनन्त गुणसहित अविनाशी अनन्त सुखमय सदा विराजमान हैं।

अब, लोक के जीवादिक छह द्रव्यों का वर्णन करेंगे। पहले, जीवद्रव्य को कहते हैं —

एइंदियेहिं भरिदो, पंचपयारेहिं सव्वदो लोओ।
तसनाडीए वि तसा, ण बाहिरा होंति सव्वत्थ॥१२२॥

यह लोक पञ्च प्रकार, थावर जीव से भरपूर है।
त्रसजीव त्रसनाड़ी बसें, सर्वत्र बाहर नहिं रहें॥१२२॥

अन्वयार्थ : [**लोओ**] यह लोक [**पंचपयारेहिं**] पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, और वनस्पति — पञ्च प्रकार काय के धारक [**एइंदियेहिं**] एकेन्द्रिय जीवों से [**सव्वदो**] सब जगह [**भरिदो**] भरा हुआ है; [**तसनाडीए वि तसा**] त्रसजीव त्रसनाड़ी में ही हैं; [**सव्वत्थ बाहिरा ण होंति**] बाहर नहीं हैं।[2]

भावार्थ : जीवद्रव्य, उपयोग लक्षणवाला समानपरिणाम की अपेक्षा सामान्यरूप से एक है। तथापि वस्तु भिन्न प्रदेश से अपने-अपने स्वरूप को लिये भिन्न-भिन्न अनन्त हैं। उनमें जो एकेन्द्रिय हैं, वे तो सब लोक में हैं और दो इन्द्रिय, तेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय त्रस हैं, वे त्रसनाड़ी में ही हैं।

अब, जीवों बादर-सूक्ष्मादि भेद तथा बादर-सूक्ष्म कौन-कौन हैं? यह कहते हैं —

---

१. संख्या अपेक्षा अनन्त।

२. सब लोक में पृथ्वीकायादिक स्थूल तथा त्रसकायिक नहीं हैं।

पुण्णा वि अपुण्णा वि य, थूला जीवा हवंति साहारा।
छविहा सुहमा जीवा, लोयायासे वि सव्वत्थ॥१२३॥

साधार स्थूल जीव हैं, पर्याप्त अनपर्याप्त हैं।
आधार बिन हैं लोक में, छह भेद सूक्ष्म जीव हैं॥१२३॥

अन्वयार्थ : [**साहारा**] आधारसहित [**जीवा**] जीव [**थूला**] स्थूल (बादर) [**हवंति**] होते हैं, [**पुण्णा वि अपुण्णा वि य**] वे पर्याप्त हैं और अपर्याप्त भी हैं; [**लोयायासे वि सव्वत्थ सुहमा जीवा छविहा**] लोकाकाश में सब जगह अन्य आधाररहित हैं, वे सूक्ष्म जीव हैं और छह प्रकार के हैं।

पुढवीजलग्गिवाऊ, चत्तारि वि होंति बायरा सुहमा।
साहारणपत्तेया, वणप्फदी पंचमा दुविहा॥१२४॥

जल अग्नि वायु और पृथ्वी, सूक्ष्म बादर भी कहे।
प्रत्येक साधारण वनस्पति, भेद द्वय जिनवर कहे॥१२४॥

अन्वयार्थ : [**पुढवीजलग्गिवाऊ चत्तारि वि बायरा सुहमा होंति**] पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु — ये चार तो बादर भी होते हैं तथा सूक्ष्म भी होते हैं, [**पंचमा वणप्फदी साहारणपत्तेया दुविहा**] पाँचवीं वनस्पति साधारण और प्रत्येक के भेद से दो प्रकार की है।

अब, साधारण-प्रत्येक के सूक्ष्मता कहते हैं —

साहारणा वि दुविहा, अणाइकाला य साइकाला य।
ते वि य बादरसुहमा, सेसा पुण बायरा सव्वे॥१२५॥

जीव साधारण कहे, दो काल सादि अनादि हैं।
सूक्ष्म बादर भेद द्वय हैं, शेष सब बादर कहे॥१२५॥

अन्वयार्थ : [**साहारणा वि दुविहा**] साधारण जीव दो प्रकार के हैं [**अणाइकाला य साइकाला य**] १. अनादिकाला (नित्यनिगोद) २. साहिकाला (इतरनिगोद); [**ते वि य बादरसुहमा**] वे दोनों ही बादर भी हैं और सूक्ष्म भी हैं [**पुण सेसा सव्वे बायरा**] और शेष सब (प्रत्येक वनस्पति और त्रस) बादर ही हैं।

भावार्थ : पहले कहे जो सूक्ष्म जीव, छह प्रकार के हैं उनमें से पृथ्वी, जल, तेज, वायु तो पहली गाथा में कह चुके हैं। इन ही चारों में नित्यनिगोद और इतरनिगोद इन दोनों को मिलाने से छह प्रकार के सूक्ष्म जीव होते हैं और बाकी सब बादर होते हैं।

अब, साधारण का स्वरूप कहते हैं —

साहारणाणि जेसिं, आहारुस्सासकायआऊणि।
ते साहारणजीवा, णंताणंतप्पमाणाणं ॥१२६॥

आहार अरु उच्छ्वास आयु, काय साधारण कहे।
जिनवर कहें वे जीव, साधारण अनन्तानन्त हैं ॥१२६॥

अन्वयार्थ : [**जेसिं**] जिन [**णंताणंतप्पमाणाणं**] अनन्तानन्त प्रमाण जीवों के [**आहारुस्सासकायआऊणि**] आहार, उच्छ्वास, काय, आयु [**साहारणाणि**] साधारण (समान) हैं, [**ते साहारणजीवा**] वे साधारण जीव हैं।

यही गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा १९३ में कहा है —

''जत्थेक्कु मरइ जीवो, तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं।
चंकमइ जत्थ एक्को, चंकमणं तत्थ णंताणं॥''

उत्पन्न होता एक जीव, अनन्त उसके साथ में।
उत्पन्न हों अथवा मरें वे, जीव सब इक साथ में॥

***अन्वयार्थ :** [**जत्थ एक्को चंकमइ**] जहाँ एक साधारण निगोदिया जीव उत्पन्न होता है [**तत्थ णंताणं चंकमणं**] वहाँ उसके साथ ही अनन्तानन्त जीव उत्पन्न होते हैं [**जत्थेक्कु जीवो मरइ**] और जहाँ एक निगोदिया जीव मरता है [**तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं**] वहाँ उसके साथ ही अनन्तानन्त समान आयुवाले मरते हैं।*

***भावार्थ :** एक जीव आहार करे, वह ही अनन्तानन्त जीवों का आहार; एक जीव स्वाच्छोश्वास ले, वह ही अनन्तानन्त जीवों का स्वाच्छोश्वास; एक जीव का शरीर, वह ही अनन्तानन्त जीवों का शरीर; एक जीव की आयु, वह ही अनन्तानन्त जीवों की आयु; इस तरह से समानता है, इसीलिए साधारण नाम जानना चाहिए।*

अब, सूक्ष्म और बादर का स्वरूप कहते हैं —

ण य जेसिं पडिखलणं, पुढवीतोएहिं अग्गिवाएहिं।
ते जाण सुहुमकाया, इयरा पुण थूलकाया य॥१२७॥

जल अग्नि पृथ्वी पवन से, रुकते नहीं वे सूक्ष्म हैं।
जो रुकें पृथ्वी आदि से, बादर उन्हें जिनवर कहें॥१२७॥

अन्वयार्थ : [**जेसिं**] जिन जीवों का [**पुढवीतोएहिं अग्गिवाएहिं**] पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन इनसे [**पडिखलणं ण य**] रुकना नहीं होता है, [**ते सुहुमकाया जाण**] उनको सूक्ष्म जीव जानो [**इयरा पुण थूलकाया य**] और जो इनसे रुक जाते हैं, उनको बादर जानो।

अब, प्रत्येक वनस्पति और त्रसजीव का स्वरूप कहते हैं —

***पत्तेया वि य दुविहा, णिगोदसहिदा तहेव रहिया य।**
दुविहा होंति तसा वि य, वि-तिचउरक्खा तहेव पंचक्खा॥१२८॥

दो भेद हैं प्रत्येक के, सनिगोद या अनिगोद हैं।
विकलत्रय या पञ्च इन्द्रिय, भेद युत त्रसजीव हैं॥१२८॥

अन्वयार्थ : [**पत्तेया वि य दुविहा**] प्रत्येक वनस्पति भी दो प्रकार की है — [**णिगोदसहिदा तहेवा रहिया य**] १. निगोदसहित, और २. निगोदरहित। [**तसा वि**

---

* **मूलग्गपोरबीजा, कंदा तह खंदबीज बीजरुहा।**
सम्मुच्छिमा य भणिया, पत्तेयाणंतकाया य॥१॥

अन्वयार्थ : [**मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंदबीज बीजरुहा**] जो वनस्पतियाँ मूल, अग्र, पर्व, कन्द, स्कन्ध तथा बीज से पैदा होती हैं [**सम्मुच्छिमा य**] तथा जो सम्मूर्च्छन हैं [**पत्तेयाणंतकाया य**] वे वनस्पतियाँ प्रतिष्ठित हैं तथा अप्रतिष्ठित भी हैं।

भावार्थ : बहुत सी वनस्पतियाँ मूल से पैदा होती हैं जैसे अदरक, हल्दी आदि। कोई वनस्पति अग्र भाग से उत्पन्न होती है जैसे गुलाब। किसी वनस्पति की उत्पत्ति पर्व (पंगोली) से होती है जैसे ईख, बेंत आदि। कोई वनस्पति कन्द से पैदा होती है जैसे सूरण आदि। कोई वनस्पति स्कन्ध से पैदा होती हैं जैसे ढाक। बहुत सी वनस्पतियाँ बीजों से पैदा होती हैं जैसे चना, गेहूँ आदि। कई वनस्पतियाँ पृथ्वी, जल आदि के सम्बन्ध से पैदा हो जाती हैं वे सम्मूर्च्छन हैं जैसे घास आदि। ये सभी वनस्पतियाँ सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित दोनों प्रकार की हैं॥१॥

य दुविहा होंति] त्रस भी दो प्रकार के हैं — **[वि-तिचउरक्खा तहेव पंचक्खा]** १. विकलत्रय (दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय), तथा २. पञ्चेन्द्रिय।

भावार्थ : जिस वनस्पति के आश्रित निगोद पायी जाती है, वह साधारण है, इसको सप्रतिष्ठित भी कहते हैं और जिसके आश्रित निगोद नहीं पायी जाती, वह प्रत्येक है, इसको अप्रतिष्ठित भी कहते हैं। दोइन्द्रिय आदि को त्रस कहते हैं।

अब, पञ्चेन्द्रियों के भेद कहते हैं —

पंचक्खा विय तिविहा, जलथलआयासगामिणो तिरिया।
पत्तेयं ते दुविहा, मणेण जुत्ता अजुत्ता य॥१२९॥

तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय कहे, जल थल तथा नभचर अहो।
मनसहित या मनरहित, ये इन सभी के भेद हैं॥१२९॥

अन्वयार्थ : [पंचक्खा तिरिया विय] पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च भी **[जलथल-आयासुगामिणो]** जलचर, थलचर, नभचर के भेद से **[तिविहा]** तीन प्रकार के हैं, **[ते पत्तेयं दुविहा]** वे प्रत्येक (तीनों ही) दो-दो प्रकार के हैं — **[मणेण जुत्ता अजुत्ता य]** १. मनसहित (सैनी), और २. मनरहित (असैनी)।

गूढसिरसंधिपव्वं, समभंगमहीरेहं च छिण्णरुहं।
साहारणं सरीर, तव्विवरीयं च पत्तेयं॥२॥

अन्वयार्थ : [गूढसिरसंधिपव्वं समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं] जिन वनस्पतियों के शिरा (तोरई आदि में) संधि (खाँपों के चिह्न खरबूज आदि में) पर्व (पंगोली गन्ने आदि में) प्रगट न हों और जिनमें तन्तु पैदा न हुआ हो (भिण्डी आदि में) तथा जो काटने पर फिर बढ़ जायें **[साहारणं सरीरं]** वे सप्रतिष्ठित वनस्पति हैं **[तव्विवरीयं च पत्तेयं]** इनसे उलटी अप्रतिष्ठित समझनी चाहिए॥२॥

मूले कंदे छल्ली, पवालसालदलकुसुमफलबीजे।
समभंगे सदि णंता, असमे सदि होंति पत्तेया॥३॥

अन्वयार्थ : [मूले कंदे छल्ली पवालसालदलकुसुमफलबीजे] जिन वनस्पतियों के मूल (हल्दी, अदरक आदि) कन्द (सूरण आदि) छाल, नई कोंपल, टहनी, फूल, फल तथा बीज **[समभंगे सदि णंता]** तोड़ने पर बराबर टूट जायें वे सप्रतिष्ठित प्रत्येक हैं। **[असमे सदि होंति पत्तेया]** तथा जो बराबर न टूटें वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक हैं॥३॥

कंदस्स व मूलस्स व, सालासंधस्स वा वि बहुलतरी।
छल्ली सा णंतजिया, पत्तेयजिया तु तणुकदरी॥४॥

अन्वयार्थ : [कंदस्स व मूलस्स व सालाखंधस्स वा वि बहुलतरी छल्ली सा णंतजिया] जिन वनस्पतियों के कन्द, मूल, टहनी, स्कन्ध की छाल मोटी होती है वे सप्रतिष्ठित प्रत्येक (अनन्त जीवों का स्थान) जानना **[तु तणुकदरी पत्तेयजिया]** और जिनकी छाल पतली होती है वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक मानना चाहिए॥४॥

ते वि पुणो वि य दुविहा, गब्भजजम्मा तहेव संमुच्छा।
भोगभुवा गब्भभुवा, थलयर-णहगामिणो सण्णी॥१३०॥

गर्भज तथा सम्मूर्छन, ये भेद इन तिर्यञ्च के।
भोगभूमिज मनसहित, थलचर तथा नभचर कहे॥१३०॥

अन्वयार्थ : [**ते वि पुणो वि य दुविहा गब्भजजम्मा तहेव संमुच्छा**] वे छह प्रकार के तिर्यञ्च, गर्भज और सम्मूर्च्छन के भेद से दो-दो प्रकार के हैं, [**भोगभुवा गब्भभुवा थलयरगहगामिणो सण्णी**] इनमें जो भोगभूमि के तिर्यञ्च हैं, व थलचर, नभचर ही हैं, जलचर नहीं हैं और सैनी ही हैं, असैनी नहीं हैं।

अब, अठ्याणवे जीवसमासों को तथा तिर्यञ्चों के पिच्यासी भेदों को कहते हैं —

अट्ठ वि गब्भज दुविहा, तिविहा सम्मुच्छिणो वि तेवीसा।
इदि पणसीदी भेया, सव्वेसिं होंति तिरियाणं॥१३१॥

दो भेद अठविध गर्भजों के, तेईस सम्मूर्छन त्रिविध।
इस तरह सब तिर्यञ्च, पच-अस्सी प्रकार सुनानिये॥१३१॥

अन्वयार्थ : [**अट्ठ वि गब्भज दुविहा**] गर्भज के आठ भेद, ये पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से सोलह हुए; [**तेवीसा सम्मुच्छिणो वि तिविहा**] सम्मूर्छन के तेईस भेद, ये पर्याप्त, अपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त के भेद से उनहत्तर हुए; [**इदि सव्वेसिं तिरियाणं पणसीदी भेया होंति**] इस प्रकार से सब तिर्यञ्चों के पिच्यासी भेद होते हैं।

भावार्थ : पहिले कर्मभूमि के गर्भज जीवों के जलचर, थलचर, नभचर — ये तीन भेद कहे हैं, वे सैनी-असैनी के भेद से छह हुए। इनमें भोगभूमि के सैनी थलचर और नभचर, इन दोनों को मिलाने से आठ हुए। ये आठों ही पर्याप्त-अपर्याप्त के भेद से सोलह हो गये। सम्मूर्च्छन के पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, नित्यनिगोद सूक्ष्म और नित्यनिगोद बादर के भेद से बारह हुए। इनमें वनस्पति के दो भेद - सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित मिलाने से एकेन्द्रिय के चौदह भेद हुए। इनमें विकलत्रय के तीन भेद मिलाने से सत्रह हुए। पञ्चेन्द्रिय कर्मभूमि के जलचर, थलचर और नभचर ये सैनी-असैनी के भेद से छह हुए।

सत्रह और छह मिलाने से तेईस हुए। ये पर्याप्त-अपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त के भेद से उनहत्तर हुए। इस तरह सोलह और उनहत्तर मिलाने से कुल पिच्यासी भेद होते हैं।

अब, मनुष्यों के भेद कहते हैं —

अज्जव मिलेच्छखंडे, भोगभूमीसु वि कुभोगभूमीसु।
मणुआ हवंति दुविहा, णिव्वित्ति अपुण्णगा पुण्णा॥१३२॥

मनुज होते आर्य और, म्लेच्छ खण्डों में सभी।
भोग और कुभोग भू, पर्याप्त निवृत्यपर्याप्त भी॥१३२॥

अन्वयार्थ : [**मणुआ**] मनुष्य [**अज्जव मिलेच्छखंडे**] आर्यखण्ड में, म्लेच्छखण्ड में [**भोगभूमीसु वि कुभोगभूमीसु**] भोगभूमि में तथा कुभोगभूमि में [**हवंति**] हैं, ये चारों ही [**पुण्णा**] पर्याप्त [**णिव्वित्ति अपुण्णगा**] और निवृत्ति अपर्याप्त के भेद से [**दुविहा**] दो-दो प्रकार के होकर, सब आठ भेद होते हैं।

सम्मुच्छणा मणुस्सा, अज्जवखंडेसु होंति णियमेण।
ते पुण लद्धि अपुण्णा, णारय देवा वि ते दुविहा॥१३३॥

मनुज सम्मूर्छन नियम से, आर्य भू में ऊपजें।
वे लब्ध्यपर्याप्तक तथा, सुर नारकी द्वय विधि कहे॥१३३॥

अन्वयार्थ : [**सम्मुच्छणा मणुस्सा**] सम्मूर्च्छन मनुष्य, [**अज्जवखंडेसु**] आर्यखण्ड में ही [**णियमेण**] नियम से [**होंति**] होते हैं, [**ते पुण लद्धि अपुण्णा**] वे लब्ध्यपर्याप्तक ही हैं। [**णारय देवा वि ते दुविहा**] नारकी तथा देव, पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्त के भेद से चार प्रकार के हैं।

भावार्थ : इस तरह तिर्यञ्चों के पिच्यासी भेद, मनुष्यों के नौ और नारकी तथा देवों के चार, सब मिलाकर अठ्याणवें भेद हुए। बहुतों को समानता से एकत्रित करके कहने अर्थात् संग्रह करके संक्षेप से कहने को समास कहते हैं। यहाँ पर बहुत से जीवों को संक्षेप से कहने को जीवसमास जानना चाहिए।

इस प्रकार जीवसमास का वर्णन किया।

अब, पर्याप्ति का वर्णन करते हैं —

आहारसरीरिंदियणिस्सासुस्सासभास-मणसाणं।
परिणइ वावारेसु य, जाओ छच्चेव सत्तीओ॥१३४॥

आहार तन इन्द्रिय तथा, स्वासोच्छवास रु वचन मन।
इन परिणमन की शक्ति ये, छह भेद हैं पर्याप्ति के॥१३४॥

अन्वयार्थ : [**आहारसरीरिंदियणिस्सासुस्सासभासमणसाणं**] आहार, शरीर, इन्द्रिय, स्वासोच्छ्वास, भाषा और मन, [**परिणइ वावारेसु य जाओ छच्चेव सत्तीओ**] इनकी परिणमन की प्रवृत्ति में सामर्थ्य, सो छह प्रकार की पर्याप्ति है।

भावार्थ : आत्मा के यथायोग्य कर्म का उदय होने पर आहारादिक ग्रहण की शक्ति का होना, सो शक्तिरूप पर्याप्ति है, वह छह प्रकार की है।

अब, शक्ति का कार्य कहते हैं —

तस्सेव कारणाणं, पुग्गलखंधाण जा हु णिप्पत्ति।
सा पज्जत्ती भण्णदि, छब्भेया जिणवरिंदेहिं॥१३५॥

उस शक्ति के कारण हुई, निष्पत्ति पुद्गल स्कन्ध की।
छह भेद युत पर्याप्ति यह, श्री जिनवरेन्द्रों ने कही॥१३५॥

अन्वयार्थ : [**तस्सेव कारणाणं**] उस शक्ति प्रवृत्ति की पूर्णता को कारण जो [**पुग्गलखंधाण जा हु णिप्पत्ति**] पुद्गल स्कन्धों की निष्पत्ति (पूर्णता होना), [**सा**] वह [**जिणवरिंदेहिं**] जिनेन्द्र भगवान के द्वारा [**छब्भेया**] छह भेदवाली [**पज्जत्ती**] पर्याप्ति [**भण्णदि**] कही गयी है।

अब, पर्याप्त निर्वृत्यपर्याप्त के काल को कहते हैं —

*** पज्जत्तिं गिह्णंतो, मणुपज्जत्तिं ण जाव समणोदि।**
ता णिव्वत्ति अपुण्णो, मणपुण्णो भण्णदे पुण्णो॥१३६॥

* पज्जत्तस्स य उदये, णिय णिय पज्जत्ति णिट्ठिदो होदि।
जाव सरीरमपुण्णं, णिव्वत्तियपुण्णगो ताव॥१॥

पर्याप्ति को ग्रहता हुआ, जब तक न मन पर्याप्ति।
निर्वृत्यपर्याप्तक तभी, मनपूर्ण हो पर्याप्त है॥१३६॥

अन्वयार्थ : [**पज्जतिं गिह्णंतो**] यह जीव पर्याप्ति को ग्रहण करता हुआ [**जाव**] जब तक [**मणुपज्जत्तिं**] मनपर्याप्ति को [**समणोदि ण**] पूर्ण नहीं करता है, [**ता णिव्वत्ति अपुण्णो**] तब तक निर्वृत्यपर्याप्तक कहलाता है; [**मणपुण्णो पुण्णो भण्णदे**] जब मनपर्याप्ति पूर्ण हो जाती है, तब पर्याप्तक कहलाता है।

भावार्थ : यहाँ सैनी पञ्चेन्द्रिय जीव की अपेक्षा मन में रखकर ऐसा कथन किया है। अन्य ग्रन्थों में जब तक शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती है, तब तक निर्वृत्यपर्याप्तक है, ऐसा कथन सब जीवों का कहा है।

अब, लब्धपर्याप्तक का स्वरूप कहते हैं —

अन्वयार्थ : [**पज्जत्तस्स य उदये**] पर्याप्ति नामक नामकर्म के उदय से [**णिय णिय पज्जत्ति णिट्ठिदो होदि**] अपनी अपनी पर्याप्ति बनाता है [**जाव सरीरमपुण्णं**] जब तक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती है [**ताव णिव्वत्तियपुण्णगो**] तब तक निर्वृत्यपर्याप्तक कहलाता है।

भावार्थ : जो पर्याप्ति कर्म के उदय होने से लब्धि (शक्ति) की अपेक्षा से पर्याप्त है, किन्तु निर्वृत्ति (शरीरपर्याप्ति बनने) की अपेक्षा पूर्ण नहीं है वह निर्वृत्यपर्याप्तक कहलाता है।

तिण्णसया छत्तीसा, छावट्ठीसहस्सगाणि मरणानि।
अन्तोमुहुत्तकाले, तावदिया चेव खुद्दभवा॥२॥

अन्वयार्थ : [**अंतोमुहुत्तकाले**] लब्ध्यपर्याप्तक जीव के एक अंतर्मुहूर्त में [**तिण्णमया छत्तीसा छावट्ठीसहस्सगाणि मरणानि**] ६६३३६ क्षुद्रमरण होते हैं [**तावदिया चेव खुद्दभवा**] और उतने ही क्षुद्र जन्म होते हैं।

सीदीसट्ठातालं, वियले चउवास होंति पंचक्खे।
छावट्ठि च सहस्सा, सयं च बत्तीसमेयक्खे॥३॥

अन्वयार्थ : [**वियले सीदीसट्ठातालं**] अन्तर्मुहूर्त काल में द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक ८०, त्रीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक ६०, चतुरिन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक ४०, [**पंचक्खे चउवास**] पञ्चेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक २४ [**एयक्खे छावट्ठि च सहस्सा सयं च बत्तीस**] और एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक ६६१३२ [**होंति**] जन्म-मरण करते हैं॥

भावार्थ : एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय के समस्त भवों को मिलाने से ६६३३६ क्षुद्रभव होते हैं।

पुढविदगागणिमारुदसाहारणथूलसुहुमपत्तेया।
एदेसु अपुण्णेसु य, एक्केक्के वारखं छक्कं॥४॥

अन्वयार्थ : [**पुढविदगागणिमारुदसाहारणथूलसुहुमपत्तेया**] पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये चारों ही वादर और सूक्ष्म इस प्रकार आठ भेद हुए तथा वादर साधारण, सूक्ष्मसाधारण और प्रत्येक इस प्रकार तीन भेद वनस्पति के हुए [**एदेसु अपुण्णेसु य, एक्केक्के वारखं छक्कं**] इन ग्यारह प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों में हर एक जीव के एक अन्तर्मुहूर्त में ६०१२ जन्म मरण होते हैं। इस प्रकार सबका योग करने से एकेन्द्रिय जीवों के ६६१३२ भव होते हैं।

उस्सासट्ठारसमे, भागे जो मरदि ण य समाणेदि।
एका वि य पज्जत्ती, लद्धि-अपुण्णो हवे सो दु॥१३७॥

अठारहवें भाग में जो, श्वास के जन्मे मरे।
पर्याप्ति पूर्ण करे नहीं, वह लब्ध्यपर्याप्तक रहे॥१३७॥

अन्वयार्थ : [**जो उस्सासट्ठारसमे भागे मरदि**] जो जीव, श्वास के अठारहवें भाग में मरता है, [**एका वि य पज्जत्ती ण य समाणेदि**] एक भी पर्याप्ति को पूर्ण नहीं करता है, [**सो दु लद्धिअपुण्णो हवे**] वह जीव लब्ध्यपर्याप्तक कहलाता है।

अब, एकेन्द्रियादि जीवों के पर्याप्तियों की संख्या कहते हैं —

लद्धियपुण्णे पुण्णं, पज्जत्ती एयक्खवियलसण्णीणं।
चदु पण छक्कं कमसो, पज्जत्तीए वियाणेह॥१३८॥

एकेन्द्रि विकलत्रय तथा, संज्ञी लहें चौ पाँच छह।
पर्याप्तियाँ, लब्धि, अपर्याप्तक न पर्याप्ति लहे॥१३८॥

अन्वयार्थ : [**एयक्खवियलसण्णीणं**] एकेन्द्रिय, विकलत्रय तथा संज्ञीजीव के [**कमसो**] क्रम से [**चदु पण छक्कं**] चार, पाँच, छह [**पज्जत्तीए वियाणेह**] पर्याप्तियाँ जानो; [**लद्धियपुण्णे पुण्णं**] लब्ध्यपर्याप्तक अपर्याप्तक है, इसके पर्याप्तियाँ नहीं होती।

भावार्थ : एकेन्द्रियादि के क्रम से पर्याप्तियाँ कही हैं। यहाँ असैनी का नाम लिया नहीं, सो सैनी के छह, तो असैनी के पाँच जानना चाहिए। निर्वृत्यपर्याप्तक ग्रहण किये ही हैं, पूर्ण होंगे ही; इसलिए जो संख्या कही है, सो ही है। लब्ध्यपर्याप्तक यद्यपि ग्रहण किया है, तथापि पूर्ण हो सका नहीं; इसलिए उसको अपूर्ण ही कहा — ऐसा सूचित होता है। इस तरह पर्याप्ति का वर्णन किया।

अब, प्राणों का वर्णन करते है। पहले प्राणों का स्वरूप और संख्या कहते हैं —

मणवयणकायइंदियणिस्सासुस्सासआउ उदयाणं।
जेसिं जोए जम्मदि, मरदि विओगम्मि ते वि दह पाणा॥१३९॥

जो मन वचन तन इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास रु आयु के।
संयोग में हो जन्म बिछुड़े, तो मरे दश प्राण ये॥१३९॥

अन्वयार्थ : [**मणवयणकायइंदियणिस्सासुस्सासआउ उदयाणं**] जो मन, वचन, काय, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और आयु [**जेंसि जोए जम्मदि**] इनके संयोग से उत्पन्न हो जीवे और [**विओगम्मि मरदि**] वियोग से मरे, [**ते पाणा दह**] वे प्राण हैं और वे दश होते हैं।

भावार्थ : जीव का अर्थ प्राण धारण करना है। व्यवहारनय से दश प्राण होते हैं। उनमें यथायोग्य प्राणसहित जीवे, उसकी जीवसंज्ञा है।

अब, एकेन्द्रियादि जीवों के प्राणों की संख्या कहते हैं —

एयक्खे चदुपाणा, बितिचउरिंदिय असण्णिसण्णीणं।
छह सत्त अट्ठ णवयं, दह पुण्णाणं कमे पाणा॥१४०॥

एकेन्द्रि के चौ प्राण, दो त्रय चार अरु मनरहित जो।
मनसहित पर्याप्तक लहें, छह सात आठ नौ प्राण दस॥१४०॥

अन्वयार्थ : [**एयक्खे चदुपाणा**] एकेन्द्रिय के चार प्राण हैं, [**बितिचउरिंदिय असण्णिसण्णीणं कमे छह सत्त अट्ठ णवयं दह पाणा**] दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असैनी पञ्चेन्द्रिय, सैनी पञ्चेन्द्रिय के, पर्याप्तों के अनुक्रम से छह, सात, आठ, नौ, दश प्राण हैं। ये प्राण पर्याप्त अवस्था में कहे गये हैं।

अब, इन ही जीवों के अपर्याप्त अवस्था में प्राण कहते हैं —

दुविहाणमपुण्णाणं, इगिवितिचउरक्ख अंतिमदुगाणं।
तिय चउ पण छह सत्त य, कमेण पाणा मुणेयव्वा॥१४१॥

द्वयविध अपर्याप्तक इकेन्द्रिय, विकलत्रय अरु असंज्ञी।
संज्ञी पचेन्द्रिय जीव के हैं, प्राण त्रय से सात तक॥१४१॥

अन्वयार्थ : [**दुविहाणमपुण्णाणं इगिवितिचउरक्ख अंतिमदुगाणं**] दो प्रकार के अपर्याप्त जो एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय असैनी तथा सैनी पञ्चेन्द्रियों के [**तिय चउ पण छह सत्त य कमेण पाणा मुणेयव्वा**] तीन, चार, पाँच, छह, सात — ऐसे अनुक्रम से प्राण जानना चाहिए।

भावार्थ : निर्वृत्यपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्त एकेन्द्रिय के तीन, द्वीन्द्रिय के चार, तेइन्द्रिय

के पाँच, चतुरिन्द्रिय के छह, असैनी–सैनी पञ्चेन्द्रिय के सात प्राण जानना चाहिए।

अब, विकलत्रय जीवों का स्थान कहते हैं —

वितिचउरक्खा जीवा, हवंति णियमेण कम्मभूमीसु।
चरमे दीवे अद्धे, चरमसमुद्दे वि सव्वेसु॥१४२॥

विकलत्रय उत्पन्न होते, नियम से भू-कर्म में।
हों अन्त के द्वीपार्ध में, अन्तिम उदधि में भी रहें॥१४२॥

अन्वयार्थ : [**वितिचउरक्खा जीवा**] द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय (विकलत्रय) जीव [**णियमेण कम्मभूमीसु हवंति**] नियम से कर्मभूमि में ही होते हैं [**चरमे दीवे अद्धे**] तथा अन्त के आधे द्वीप में [**चरमसमुद्दे वि सव्वेसु**] और अन्त के सम्पूर्ण समुद्र में होते हैं।

भावार्थ : पाँच भरत, पाँच ऐरावत, पाँच विदेह, ये कर्मभूमि के क्षेत्र हैं तथा अन्त के स्वयंप्रभ द्वीप के मध्य स्वयंप्रभ पर्वत है, उससे आगे आधा द्वीप तथा अन्त का स्वयंभूरमण पूरा समुद्र, इन स्थानों में विकलत्रय हैं और स्थानों में नहीं हैं।

अब, अढाई द्वीप के बाहर तिर्यञ्च हैं, उनकी व्यवस्था हेमवतक्षेत्र के समान है — ऐसा कहते हैं—

माणुसखित्तस्स बहिं, चरमे दीवस्स अद्धयं जाव।
सव्वत्थे वि तिरिच्छा, हिमवदतिरिएहिं सारिच्छा॥१४३॥

मानुषोत्तर से परे हों, द्वीप अन्तिम अर्ध तक।
तिर्यञ्च हों सर्वत्र हेमवत्, क्षेत्र के तिर्यञ्चवत्॥१४३॥

अन्वयार्थ : [**माणुसखित्तस्स बहिं**] मनुष्यक्षेत्र से बाहर मानुषोत्तरपर्वत से आगे [**चरमे दीवस्स अद्धयं जाव**] अन्त के स्वयंप्रभद्वीप के आधे भाग तक [**सव्वत्थे वि तिरिच्छा**] बीच के सब द्वीप समुद्रों के तिर्यञ्च [**हिमवदतिरिएहिं सारिच्छा**] हेमवत्-क्षेत्र के तिर्यञ्चों के समान हैं।

भावार्थ : हेमवत्क्षेत्र में जघन्य भोगभूमि है। मानुषोत्तरपर्वत से आगे असंख्यात

द्वीप समुद्र अर्थात् आधे स्वयंप्रभ नामक अन्तिम द्वीप तक सब स्थानों में जघन्य भोगभूमि की रचना है, वहाँ के तिर्यञ्चों की आयु, काय हेमवत्क्षेत्र के तिर्यञ्चों के समान है।

अब जलचर जीवों के स्थान कहते हैं —

लवणोए कालोए, अंतिमजलहिम्मि जलयरा संति।
सेससमुद्देसु पुणो, ण जलयरा संति णियमेण॥१४४॥

जलचर रहें लवणोदधि, कालोदधि अरु अन्त में।
शेष सागर में नियम से, जीव जलचर हों नहीं॥१४४॥

अन्वयार्थ : [**लवणोए कालोए**] लवणोदधि समुद्र में, कालोदधि समुद्र में, [**अंतिमजलहिम्मि जलयरा संति**] अन्त के स्वयंभूरमण समुद्र में जलचर जीव हैं [**सेससमुद्देसु पुणो**] और अवशेष बीच के समुद्रों में [**णियमेण जलयरा ण संति**] नियम से जलचर जीव नहीं हैं।

अब, देवों के स्थानों में पहिले भवनवासी व्यन्तरों के स्थान कहते हैं —

खरभायपंकभाए, भावणदेवाण होंति भवणाणि।
विंतरदेवाण तहा, दुह्लं पि य तिरिय-लोयम्मि॥१४५॥

खर भाग में पंकभाग में हैं, भवनवासी के भवन।
कुछ भवनवासी और व्यन्तर, रहें तिर्यक् लोक में॥१४५॥

अन्वयार्थ : [**खरभायपंकभाए**] खरभाग, पङ्कभाग में [**भावणदेवाण**] भवन -वासियों के [**भवणाणि**] भवन [**तहा**] तथा [**विंतरदेवाण**] व्यन्तरदेवों के निवास [**होंति**] हैं [**दुह्लं पि य तिरियलोयम्मि**] और इन दोनों के तिर्यग्लोक में भी निवास हैं।

भावार्थ : पहिली पृथ्वी रत्नप्रभा एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है, उसके तीन भाग हैं। उनमें खरभाग, सोलह हजार योजन का है, उसमें असुरकुमार बिना नौ कुमार भवनवासियों के भवन हैं तथा राक्षसकुल बिना सात कुल व्यन्तरों के निवास हैं। दूसरा पङ्कभाग, चौरासी हजार योजन का है, उसमें असुरकुमार, भवनवासी तथा राक्षसकुल व्यन्तर रहते हैं। तिर्यग्लोक (मध्यलोक) के असंख्यात द्वीप-समुद्रों में भवनवासियों के भी भवन हैं और व्यन्तरों के भी निवास हैं।

अब, ज्योतिषी, कल्पवासी तथा नारकियों के स्थान कहते हैं —

जोइसियाण विमाणा, रज्जूमित्ते वि तिरियलोए वि।
कप्पसुरा उड्ढम्हि य, अहलोए होंति णेरइया॥१४६॥

एक राजू तक उपरि, ज्योतिषी तिर्यक् लोक में।
कल्पसुर हैं ऊर्ध्व में, अधो में नारकि रहें॥१४६॥

अन्वयार्थ : [**जोइसियाण विमाणा**] ज्योतिषी देवों के विमान [**रज्जूमित्ते वि तिरियलोए वि**] एक राजू प्रमाण तिर्यग्लोक के असंख्यात द्वीप समुद्रों के ऊपर हैं, [**कप्पसुरा उड्ढम्हि य**] कल्पवासी ऊर्ध्वलोक में हैं और [**णेरइया अहलोए होंति**] नारकी अधोलोक में हैं।

अब, जीवों की संख्या कहेंगे। पहिले तेजवातकाय के जीवों की संख्या कहते हैं —

वादरपज्जत्तिजुदा, घणआवलिया असंख-भागा दु।
किंचूणलोयमित्ता, तेऊ वाऊ जहाकमसो॥१४७॥

पर्याप्ति युत बादर कहे, असंख्य भाग घनावलि।
कुछ लोक से कम तेज वायु, यथाक्रम से जानिये॥१४७॥

अन्वयार्थ : [**तेऊ वाऊ**] अग्निकाय, वातकाय के [**वादरपज्जत्तिजुदा**] बादर पर्याप्तसहित जीव, [**घणआवलिया असंखभागा दु**] घनआवली के असंख्यातवें भाग [**किंचूणलोयमित्ता**] तथा कुछ कम लोक के प्रदेश प्रमाण [**जहाकमसो**] यथा अनुक्रम जानना चाहिए।

भावार्थ : अग्निकाय के जीव, घनआवली के असंख्यातवें भाग, वातकाय के कुछ कम लोकप्रदेशप्रमाण हैं।

अब, पृथ्वी आदि की संख्या कहते हैं —

पुढवीतोयसरीरा, पत्तेया वि य पइट्ठिया इयरा।
होंति असंखा सेढी, पुण्णापुण्णा य तह य तसा॥१४८॥

भू जल तथा प्रत्येक जो हैं, प्रतिष्ठित अथवा इतर।
पर्याप्त अनपर्याप्त अरु त्रस, असंख्या श्रेणी जगत॥१४८॥

अन्वयार्थ : [**पुढवीतोयसरीरा**] पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, [**पत्तेया वि य पइट्ठिया इयरा**] प्रत्येक वनस्पतिकायिक, सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित [**य तह य तसा**] तथा त्रस—ये सब [**पुण्णापुण्णा**] पर्याप्त अपर्याप्त जीव हैं, [**असंखा सेढी होंति**] वे अलग-अलग असंख्यात जगत्श्रेणी प्रमाण हैं।

वादरलद्धि अपुण्णा, असंखलोया हवंति पत्तेया।
तह य अपुण्णा सुहुमा, पुण्णा वि य संखगुणगणिया॥१४९॥

प्रत्येक बादर लब्ध्यपर्याप्तक, तथा सूक्षम कहे।
लोक प्रमाण असंख्य सूक्षम, पर्याप्त संख्याते गुणे॥१४९॥

अन्वयार्थ : [**पत्तेया**] प्रत्येक वनस्पति तथा [**वादरलद्धि अपुण्णा**] बादर लब्ध्यपर्याप्तक जीव, [**असंखलोया हवंति**] असंख्यात लोकप्रमाण हैं, [**तह य अपुण्णा सुहुमा**] इसी तरह सूक्ष्म अपर्याप्त असंख्यात लोक प्रमाण हैं [**पुण्णा वि य संखगुणगणिया**] और सूक्ष्मपर्याप्तक जीव, संख्यातगुणे हैं।

सिद्धा संति अणंता, सिद्धाहिंतो अणंतगुणगणिया।
होंति णिगोदा जीवा, भाग अणंता अभव्वा य॥१५०॥

सिद्ध जीव अनन्त और निगोद नन्तगुणे कहे।
हैं सिद्ध के भाग अनन्त, अभव्य राशि जिन कहे॥१५०॥

अन्वयार्थ : [**सिद्धा अणंता संति**] सिद्धजीव अनन्त हैं, [**सिद्धाहिंतो अणंतगुणगणिया णिगोदा जीवा होंति**] सिद्धों से अनन्तगुणे निगोदिया जीव हैं [**भाग अणंता अभव्वा य**] और सिद्धों के अनन्तवें भाग अभव्य जीव हैं।

सम्मुच्छिमा हु मणुया, सेढियसंखिज्ज भागमित्ता हु।
गब्भजमणुया सव्वे, संखिज्जा होंति णियमेण॥१५१॥

जगत श्रेणी के असंख्ये, भाग सम्मूर्छन मनुज।
गर्भज मनुज हैं सभी संख्याते, नियम से जानिए॥१५१॥

अन्वयार्थ : [**सम्मुच्छिमा हु मणुया**] सम्मूर्छन मनुष्य [**सेढियसंखिज्ज भागमित्ता**

हु] जगतश्रेणी के असंख्यातवें भागमात्र हैं [**गब्भजमणुया सव्वे**] और सब गर्भज मनुष्य [**संखिज्जा होंति णियमेण**] नियम से संख्यात ही हैं।

अब, सान्तर निरन्तर को कहते हैं —

देवा वि णारया वि य, लद्धियपुण्णा हु संतरा होंति।
सम्मुच्छिया वि मणुया, सेसा सव्वे णिरंतरया॥१५२॥

देव, नारक, लब्ध्यपर्याप्तक, मनुज सम्मूर्छन।
ये कहे सान्तर शेष सब, जानो निरन्तर भव्य तुम॥१५२॥

अन्वयार्थ : [**देवा वि णारया वि य लद्धियपुण्णा हु**] देव, नारकी, लब्ध्यपर्याप्तक [**सम्मुच्छिया वि मणुया**] और सम्मूर्च्छन मनुष्य, [**संतरा होंति**] ये तो सान्तर (अन्तर सहित) हैं, [**सेसा सव्वे णिरंतरया**] अवशेष सब जीव निरन्तर है।

भावार्थ : पर्याय से अन्य पर्याय पावे, फिर उसी पर्याय को पावे, जब तक बीच में अन्तर रहे, उसको सान्तर कहते हैं। यहाँ नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर कहा है। जो देव, नारकी, मनुष्य तथा लब्ध्यपर्याप्तक जीव की उत्पत्ति किसी काल में न होय, सो अन्तर कहलाता है और अन्तर न पड़े, सो निरन्तर कहलाता है। वह वैक्रियकमिश्रकाययोगी जो देव-नारकी, उनका तो बारह मुहूर्त का कहा है। कोई ही उत्पन्न न हो तो बारह मुहूर्त तक उत्पन्न नहीं होता है और सम्मूर्च्छन मनुष्य कोई ही न होय तो पल्य के असंख्यातवें भाग काल तक नहीं होता—ऐसा अन्य ग्रन्थों में कहा है। अवशेष सब जीव निरन्तर उत्पन्न होते हैं।

अब, जीवों की संख्या कर अल्प-बहुत्व कहते हैं —

मणुयादो णेरइया, णेरइयादो असंखगुणगणिया।
सव्वे हवंति देवा, पत्तेयवणप्फदी तत्तो॥१५३॥

मनुज से नारक तथा, सुर नारकी से गुण असंख्य।
वनस्पति प्रत्येक, देवों से असंख्य गुणे कहे॥१५३॥

अन्वयार्थ : [**मणुयादो णेरइया**] मनुष्यों से नारकी [**असंखगुणगणिया हवंति**]

असंख्यात गुणे हैं, [**णेरयादो सव्वे देवा**] नारकियों से सब देव असंख्यात गुणे हैं, [**तत्तो पत्तेयवणप्फदी**] देवों के प्रत्येकवनस्पति जीव असंख्यात गुणे हैं।

पंचक्खा चउरक्खा, लद्धियपुण्णा तहेव तेयक्खा।
वेयक्खा वि य कमसो, विसेससहिदा हु सव्व संखाए॥१५४॥

पाँच इन्द्रिय चार त्रय दो, लब्ध्यपर्याप्तक कहे।
परस्पर कुछ अधिक बढ़ते, हुए क्रम से जानिए॥१५४॥

अन्वयार्थ : [**पंचक्खा चउरक्खा**] पञ्चेन्द्रिय, चौइन्द्रिय [**तहेव तेयक्खा**] त्रीन्द्रिय [**वेयक्खा वि य**] द्वीन्द्रिय [**सव्व लद्धियपुण्णा**] ये सब लब्ध्यपर्याप्तक जीव, [**संखाए विसेससहिदा**] संख्या में विशेषाधिक हैं। कुछ अधिक को विशेषाधिक कहते हैं, सो ये अनुक्रम से बढ़ते-बढ़ते हैं।

चउरक्खा पंचक्खा, वेयक्खा, तह य जाण तेयक्खा।
एदे पज्जत्तिजुदा, अहिया अहिया कमेणेव॥१५५॥

पाँच इन्द्रिय चार इन्द्रिय, दो तथा त्रय इन्द्रिजिय।
पर्याप्ति युत जो हैं इन्हें, तुम जान लो क्रम से अधिक॥१५५॥

अन्वयार्थ : [**चउरक्खा पंचक्खा**] चौइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय [**वेयक्खा तह य जाण तेयक्खा**] द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय [**एदे पज्जत्तिजुदा**] ये पर्याप्तिसहित जीव, [**कमेणेव**] अनुक्रम से [**अहिया अहिया**] अधिक-अधिक जानो।

परिवज्जिय सुहुमाणं, सेसतिरिक्खाण पुण्णदेहाणं।
इक्को भागो होदि हु, संखतीदा अपुण्णाणं॥१५६॥

सूक्ष्म के अतिरिक्त जो, तिर्यञ्च पर्याप्तक कहे।
इक भाग तो पर्याप्त है, गुण असंख्ये पर्याप्ति बिन॥१५६॥

अन्वयार्थ : [**सुहुमाणं परिवज्जिय**] सूक्ष्म जीवों को छोड़कर [**सेसतिरिक्खाण पुण्णदेहाणं**] अवशेष पर्याप्तितिर्यञ्च हैं, [**इक्को भागो होदि हु**] उनका एक भाग तो पर्याप्त है [**संखतीदा अपुण्णाणं**] और बहुभाग असंख्याते अपर्याप्त हैं।

भावार्थ : बादर जीवों में पर्याप्त थोड़े हैं; अपर्याप्त बहुत हैं।

सुहुमापज्जत्ताणं, इक्को भागो हवेइ णियमेण।
संखिज्जा खलु भागा, तेसिं पज्जत्तिदेहाणं॥१५७॥

सूक्ष्म पर्याप्तक कहे, संख्यात भाग जिनेन्द्र ने।
उनमें अपर्याप्तक कहे, इक भाग जानो नियम से॥१५७॥

अन्वयार्थ : [**सुहुमापज्जत्ताणं**] सूक्ष्म पर्याप्तक जीव [**संखिज्जा खलु भागा**] संख्यात भाग हैं [**तेसिं पज्जत्तिदेहाणं**] उनमें अपर्याप्तक जीव [**णियमेण**] नियम से [**इक्को भागो हवेइ**] एक भाग हैं।

भावार्थ : सूक्ष्म जीवों में पर्याप्त बहुत हैं; अपर्याप्त थोड़े हैं।

संखिज्जगुणा देवा, अंतिमपटलादु आणदं जाव।
तत्तो एसंखगुणिदा, सोहम्मं जाव पडि-पडलं॥१५८॥

हैं देव अन्तिम पटल से, आनत पटल संख्या गुणे।
वहाँ से सौधर्म तक सुर, असंख्यात गुणे कहे॥१५८॥

अन्वयार्थ : [**देवा अंतिमपटलादु आणदं जाव**] देव, अन्तिम पटल (अनुत्तर विमान) से लेकर नीचे आनत स्वर्ग के पटल पर्यन्त [**संखिज्जगुणा**] संख्यातगुणे हैं, [**तत्तो**] उसके बाद नीचे [**सोहम्मं जाव**] सौधर्म पर्यन्त [**असंखगुणिदा**] असंख्यातगुणे [**पडिपडलं**] पटलपटल प्रति हैं।

सत्तमणारयहिंतो, असंखगुणिदा हवंति णेरइया।
जावय पढमं णरयं, बहुदुक्खा होंति हेट्ठिट्ठा॥१५९॥

सप्तम नरक से प्रथम तक, असंख्यात गुण नारकि कहे।
पहिले नरक से सातवें तक, जीव अति अति दु:ख लहे॥१५९॥

अन्वयार्थ : [**सत्तमणारयहिंतो**] सातवें नरक से लेकर ऊपर [**जावय पढमं णरयं**] पहले नरक तक जीव, [**असंखगुणिदा हवंति**] असंख्यात-असंख्यात गुणे हैं, [**णेरइया**] पहले नरक से लेकर [**हेट्ठिट्ठा**] नीचे-नीचे [**बहुदुक्खा होंति**] बहुत दु:ख हैं।

कप्पसुरा भावणया, विंतरदेवा तहेव जोइसिया।
बे होंति असंखगुणा, संखगुणा होंति जोइसिया॥१६०॥

कल्पवासी से भवन-व्यन्तर, असंख्य गुणे कहे।
व्यन्तरों से ज्योतिषी सुर, गुणे संख्याते कहे॥१६०॥

अन्वयार्थ : [**कप्पसुरा भावणया विंतरदेवा**] कल्पवासी देवों से भवनवासी देव, व्यन्तर देव [**बे असेखगुणा होंति**] ये दो राशि तो असंख्यातगुणे हैं [**जोइसिया संखगुणा होंति**] और ज्योतिषी देव व्यन्तरों से संख्यातगुणे हैं।

अब, ऐकन्द्रियादिक जीवों की आयु कहते हैं —

पत्तेयाणं आऊ, वाससहस्साणि दह हवे परमं।
अन्तोमुहुत्तमाऊ, साहारणसव्वसुहुमाणं॥१६१॥

प्रत्येक की उत्कृष्ट आयु, दस हजार वरस कही।
अन्तर्मुहूरत कही साधारण, तथा सब सूक्ष्म की॥१६१॥

अन्वयार्थ : [**पत्तेयाणं**] प्रत्येक वनस्पति की [**परमं**] उत्कृष्ट [**आऊ**] आयु [**दह**] दश [**वाससहस्साणि**] हजार वर्ष की [**हवे**] है। [**साहारणसव्वसुहुमाणं**] साधारण नित्य, इतरनिगोद, सूक्ष्म-वादर तथा सब ही सूक्ष्म पृथ्वी, अप्, तेज, वातकायिक जीवों की उत्कृष्ट [**आऊ**] आयु [**अंतोमुहूर्त्त**] अन्तर्मुहूर्त की है।

अब, बादर जीवों की आयु कहते हैं —

बावीस सत्तसहसा, पुढवीतोयाण आउसं होदि।
अग्गीणं तिण्णि दिणा, तिण्णि सहस्साणि वाऊणं॥१६२॥

भू काय की बाइस सहस, जल काय सात सहस कही।
अग्नि की है तीन दिन अरु, वायु की त्रय सहस वर्ष॥१६२॥

अन्वयार्थ : [**पुढवीतोयाण आउसं**] पृथ्वीकायिक और अप्कायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु क्रम से [**बावीस सत्तसहसा**] बाईस हजार वर्ष और सात हजार वर्ष की [**होदि**] है, [**अग्गीणं तिण्णि दिणा**] अग्निकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु तीन दिन

की है और [**तिण्णि सहस्साणि वाऊणं**] वायुकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु तीन हजार वर्ष की है।

अब, द्वीन्द्रिय आदि की उत्कृष्ट आयु कहते हैं —

वारसवास वियक्खे एगुणवण्णा दिणाणि तेयक्खे।
चउरक्खे छम्मासा, पंचक्खे तिण्णि पल्लाणि ॥१६३॥

दो इन्द्रि की बारह वरस, त्रय इन्द्रि की उनचास दिन।
चतुरिन्द्रि की छह मास है पञ्चेन्द्रि की त्रय पल्य है ॥१६३॥

अन्वयार्थ : [**वारसवास वियक्खे**] द्वीन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयु बारह वर्ष की है, [**एगुणवण्णा दिणाणि तेयक्खे**] त्रीन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयु उनचास (४९) दिन की है, [**चउरक्खे छम्मासा**] चतुरिन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयु छह मास की है, [**पंचक्खे तिण्णि पल्लाणि**] पञ्चेन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयु भोगभूमि की अपेक्षा तीन पल्य की है।

अब, सब ही तिर्यञ्च और मनुष्यों की जघन्य आयु कहते हैं —

सव्वजहण्णं आऊ, लद्धिअपुण्णाण सव्वजीवाणं।
मज्झिमहीणमुहुत्तं, पज्जत्तिजुदाण णिक्किट्ठं ॥१६४॥

लब्ध्यपर्याप्तक सभी की, जघन आयु जिन कहें।
पर्याप्त की भी जघन आयु, मध्य हीन मूहूर्त है ॥१६४॥

अन्वयार्थ : [**लद्धिअपुण्णाण सव्वजीवाणं**] लब्ध्यपर्याप्तक सब जीवों की [**सव्व्जहण्णं आऊ**] जघन्य आयु [**मज्झिमहीणमुहुत्तं**] मध्यमहीनमुहूर्त है (यह क्षुद्रभवमात्र जानना चाहिए, एक उस्वास के अठारहवें भागमात्र है) [**पज्जत्तिजुदाण णिक्किट्ठं**] लब्ध्यपर्याप्तक (कर्मभूमि तिर्यञ्च, मनुष्य सब ही पर्याप्त) जीवों की जघन्य आयु भी मध्यमहीनमुहूर्त है (यह पहिले से बड़ा मध्यअन्तर्मुहूर्त है)।

अब, देव, नारकियों की आयु कहते हैं —

देवाण णारयाणं, सायरसंखा हवंति तेत्तीसा।
उक्किट्ठं च जहण्णं, वासाणं दस सहस्साणि ॥१६५॥

तेतीस सागर परम आयु, देव नारक की कही।
जिनदेव आयु जघन्य इनकी, दस हजार वरष कही॥१६५॥

अन्वयार्थ : [**देवाण णारयाणं**] देवों की तथा नारकी जीवों की [**उक्किट्ठं**] उत्कृष्ट आयु [**तेत्तीसा**] तेतीस [**सायरसंखा हवंति**] सागर की है [**जहण्णं वासाणं दस सहस्साणि**] और जघन्य आयु दश हजार वर्ष की है।

भावार्थ : यह सामान्य देवों की अपेक्षा कथन है, विशेष त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों से जानना चाहिए।

अब, एकेन्द्रिय आदि जीवों की शरीर की उत्कृष्ट व जघन्य अवगाहना, दश गाथाओं में कहते हैं —

अंगुलअसंखभागो, एयक्खचउक्कदेहपरिमाणं।
जोयणसहस्समहियं, पउमं उक्कस्सयं जाण॥१६६॥

भाग अंगुल असंख्याता, वायु भू अरु तेज जल।
सहस योजन कुछ अधिक, उत्कृष्ट अवगाहन कमल॥१६६॥

अन्वयार्थ : [**एयक्खचउक्कदेहपरिमाणं**] एकेन्द्रिय चतुष्क (पृथ्वी, अप, तेज, वायुकाय के) जीवों की अवगाहना [**उक्कसयं**] जघन्य तथा उत्कृष्ट [**अंगुलअसंख -भागो**] घन अङ्गुल के असंख्यातवें भाग [**जाण**] जानो। [**जोयणसहस्समहियं पउमं**] प्रत्येक वनस्पति काय में उत्कृष्ट अवगाहनायुक्त कमल है, उसकी अवगाहना कुछ अधिक हजार योजन है।

यहाँ सूक्ष्म तथा बादर पर्याप्तक अपर्याप्तक का शरीर छोटा-बड़ा है तो भी घनाङ्गुल के असंख्यातवें भाग ही सामान्यरूप से कहा है। विशेष गोम्मटसार से जानना चाहिए और अङ्गुल उत्सेधअङ्गुल आठ यव प्रमाण लेना; प्रमाणाङ्गुल न लेना।

बायसजोयण संखो, कोसतियं गोब्भिया समुद्दिट्ठा।
भमरो जोयणमेगं, सहस्स सम्मुच्छिमो मच्छो॥१६७॥

शंख योजन द्वादशा, त्रय कोस का है गोभिका।
है भ्रमर इक योजन कहा, अरु सहस योजन मच्छ है॥१६७॥

अन्वयार्थ : [बायसजोयण संखो] द्वीन्द्रियों में शंख बड़ा है, उसकी उत्कृष्ट अवगाहना बारह योजन लम्बी हैं, **[कोसतियं गोब्भिया समुद्दिट्ठा]** त्रीन्द्रियों में गोभिका (कानखजूरा) बड़ा है, उसकी उत्कृष्ट अवगाहना तीन कोस लम्बी है, **[भमरो जोयणमेगं]** चतुरिन्द्रियों में बड़ा भ्रमर है, उसकी उत्कृष्ट अवगाहना एक योजन लम्बी है, **[सहस्स सम्मुच्छिमो मच्छो]** पञ्चेन्द्रियों में बड़ा मच्छ है, उसकी उत्कृष्ट अवगाहना हजार योजन लम्बी है (ये जीव अन्त के स्वयंभूरमण द्वीप तथा समुद्र में जानना चाहिए)।

अब, नारकियों की उत्कृष्ट अवगाहना कहते हैं —

पंचसयाधणुछेहा, सत्तमणरए हवंति णारइया।
तत्तो उस्सेहेण य, अद्धद्धा होंति उवरुवरि ॥१६८॥

सप्तम नरक में नारकी, अवगाहना पच शत धनुष।
छह पाँच चौ त्रय दो प्रथम में, अर्ध अर्ध प्रमानिये ॥१६८॥

अन्वयार्थ : [सत्तमणरए] सातवें नरक में **[णारइया]** नारकी जीवों का शरीर **[पंचसयाधणुछेहा]** पाँच सौ धनुष ऊँचा **[हवंति]** है, **[तत्तो उस्सेहेण य उवरुवरि अद्धद्धा होंति]** उसके ऊपर शरीर की ऊँचाई आधी आधी है (छट्ठे में दो सौ पचास धनुष, पाँचवें में एक सौ पच्चीस धनुष, चौथे में साढ़े बासठ धनुष, तीसरे में सवा इकतीस धनुष, दूसरे में पन्द्रह धनुष दस आना, पहिले में सात धनुष तेरह आना; इस तरह जानना चाहिए। इनमें गुणचास पटल है, उनमें भिन्न-भिन्न विशेष अवगाहना त्रिलोकसार से जानना चाहिए)।

अब, देवों की अवगाहना कहते हैं —

असुराणं पणवीसं, सेसं णवभावणय दहदंडं।
विंतरदेवाण तहा, जोइसिया सत्तधणुदेहा ॥१६९॥

पच्चिस धनुष है असुर की, नौ भवनवासी दस धनुष।
दस व्यन्तरों की कही, एवं सात ज्योतिषी देव की ॥१६९॥

अन्वयार्थ : [असुराणं पणवीसं] भवनवासियों में असुरकुमारों के शरीर की ऊँचाई पच्चीस धनुष, **[सेसं णवभवणय दहदंडं]** बाकी नौ भवनवासियों की दश धनुष,

[**विंतरदेवाण तहा**] व्यन्तरों के शरीर की ऊँचाई दश धनुष, [**जोइसिया सत्तधणुदेहा**] और ज्योतिषी देवों के शरीर की ऊँचाई सात धनुष है।

अब, स्वर्ग के देवों की कहते हैं —

दुगदुगचदुचदुदुगदुगकप्पसुराणं सरीरपरिमाणं।
सत्तछहपंचहत्था, चउरो अद्धद्ध हीणा य॥१७०॥

हिट्ठिममज्झिमउवरिमगेवज्झे तह विमाणचउदसए।
अद्धजुदा वे हत्था, हीणं अद्धद्धयं उवरिं॥१७१॥

दो, युगल फिर चार, चार, युगल, दो सुरकलप में।
सात, छह अरु पाँच, सौ त्रय अर्ध, त्रय तन हाथ है॥१७०॥

ग्रैवेक मध्य अधो उपरि दश चारु सर्व विमान में।
अर्ध हाथ घटायें क्रम से, देह की ऊँचाई है॥१७१॥

अन्वयार्थ : [**दुगदुगचदुचदुदुगदुगकप्पसुराणं सरीरपरिमाणं**] दो (सौधर्म, ईशान), दो (सानतकुमार, माहेन्द्र), चार (ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ), चार (शुक्र, महाशुक्र, सतार, सहस्रार) दो (आनत, प्राणत), दो (आरण, अच्युत) युगलों के देवों का शरीर क्रम से [**सत्तछहपंचहत्था, चउरो अद्धद्ध हीणा यं**] सात हाथ, छह हाथ, पाँच हाथ, चार हाथ, साढ़े तीन हाथ, तीन हाथ ऊँचा है [**हिट्ठिममज्झिमउवरिमगेवज्झे तह विमाणचउदसए**] अधोग्रैवेयक में, मध्यमग्रैवेयक में, ऊपर के ग्रैवेयक में, नव (९), अनुदिश तथा पाँच अनुत्तरों में क्रम से [**अद्धजुदा वे हत्था, हीणं अद्धद्धयं उवरिं**] आधा-आधा हाथ हीन अर्थात् ढाई हाथ, दो हाथ, डेढ़ हाथ और एक हाथ देवों के शरीर की ऊँचाई है।

अब, भरत-ऐरावतक्षेत्र में काल की अपेक्षा से मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई कहते हैं —

अवसप्पिणिए पढमे, काले मणुया तिकोसउच्छेहा।
छट्ठस्स वि अवसाणे, हत्थपमाणा विवत्था य॥१७२॥

अवसर्पिणी के काल पहिले, में मनुज त्रय कोस के।
अरु छठे कालान्त में नर, हस्त इक निर्वस्त्र हों॥१७२॥

अन्वयार्थ : [अवसप्पिणिए पढमे काले मणुया तिकोसउच्छेहा] अवसर्पिणी के प्रथम काल की आदि में मनुष्यों का शरीर, तीन कोस ऊँचा होता है, **[छट्ठस्स वि अवसाणे हत्थपमाणा विवत्था य]** छठे काल के अन्त में मनुष्यों का शरीर एक हाथ ऊँचा होता है और छठे काल के जीव वस्त्रादि रहित होते हैं।

अब, एकेन्द्रिय जीवों का जघन्य शरीर कहते हैं —

सव्वजहण्णो देहो, लद्धिअपुण्णाण सव्वजीवाणं।
अंगुलअसंखभागो, अणेयभेओ हवे सो वि॥१७३॥

लब्ध्यपर्याप्तक सभी की, जघन तन अवगाहना।
घनांगुल के असंख्याता, भाग भेद अनेक है॥१७३॥

अन्वयार्थ : [लद्धिअपुण्णाण सव्वजीवाणं] लब्ध्यपर्याप्तक सब जीवों का **[देहो]** शरीर **[अंगुलअसंखभागो]** घनअङ्गुल के असंख्यातवें भाग है, **[सव्वजहण्णो]** यह सब जघन्य हैं **[अणेयभेओ हवे सो वि]** इसमें भी अनेक भेद हैं।

भावार्थ : एकेन्द्रिय जीवों का जघन्य शरीर भी छोटा-बड़ा है, सो घनाङ्गुल के असंख्यातवें भाग में भी अनेक भेद हैं। इन अवगाहना के चौसठ भेदों का वर्णन गोम्मटसार में है, वहाँ से जानना चाहिए।

अब, द्वीन्द्रिय आदि की जघन्य अवगाहना कहते हैं —

वि ति चउपंचक्खाणं, जहण्णदेहो हवेइ पुण्णाणं।
अंगुलअसंखभागो, संखगुणो सो वि उवरुवरिं॥१७४॥

पर्याप्त दो त्रय चार, पञ्चेन्द्रिय जघन अवगाहना।
असंख्याता भाग अंगुल, संख्यात गुण इससे उपरि॥१७४॥

अन्वयार्थ : [वि ति चउपंचक्खाणं] द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय **[पुण्णाणं]** पर्याप्त जीवों का **[जहण्णदेहो]** जघन्य शरीर **[अंगुलअसंखभागो]** घन अङ्गुल के असंख्यातवें भाग है, **[सो वि उवरुवरिं]** वह भी ऊपर-ऊपर **[संखगुणो]** संख्यातगुणा है।

भावार्थ : द्वीन्द्रिय के शरीर से संख्यातगुणा त्रीन्द्रिय का शरीर है; त्रीन्द्रिय से संख्यातगुणा चतुरिन्द्रिय का शरीर है; उससे संख्यातगुणा पञ्चेन्द्रिय का शरीर है।

अब, जघन्य अवगाहना के धारक द्वीन्द्रिय आदि जीव कौन-कौन हैं, सो कहते हैं —

आणुधरीयं कुन्थो, मच्छीकाणा य सालिसित्थो य।
पज्जत्ताण तसाणं, जहण्णदेहो विणिद्दिट्ठो ॥१७५॥

अणुद्धरी अरु कुन्थु मक्षिककान सिक्कथशालि की।
पर्याप्त त्रस की जिन कहें, यह है जघन अवगाहना॥१७५॥

अन्वयार्थ : [**आणुधरीयं कुन्थं**] द्वीन्द्रियों में अणुद्धरी जीव, त्रीन्द्रियों में कुन्थु जीव, [**मच्छीकाणा य सालिसित्थो य**] चतुरिन्द्रियों में काणमक्षिका, पञ्चेन्द्रियों में शालिसिक्थक नामक मच्छ, इन [**तसाणं**] त्रस [**पज्जत्ताण**] पर्याप्त जीवों के [**जहण्णदेहो विणिद्दिट्ठो**] जघन्य शरीर कहा गया है।

अब, जीव के लोकप्रमाण और देहप्रमाणपना कहते हैं —

लोयपमाणो जीवो, देहपमाणो वि अत्थिदे खेत्ते।
ओगाहणसत्तोदो, संहरणविसप्पधम्मादो ॥१७६॥

संकोच अरु विस्तार एवं, शक्ति है अवगाहना।
जीव लोक प्रमाण है अरु, तन प्रमाण अवगाहना॥१७६॥

अन्वयार्थ : [**जीवो**] जीव [**संहरणविसप्पधम्मादो**] सङ्कोच, विस्तार, धर्म तथा [**ओगाहणसत्तीदो**] अवगाहना की शक्ति होने से [**लोयपमाणो**] लोकप्रमाण है [**देहपमाणो वि अत्थिदे खेत्ते**] और देहप्रमाण भी है।

भावार्थ : लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं; इसलिए जीव के भी इतने ही प्रदेश हैं। केवल समुद्घात करता है, उस समय लोकपूरण होता है। जीव में सङ्कोच-विस्तारशक्ति है; इसलिए जैसा शरीर पाता है, उसी के प्रमाण रहता है और समुद्घात करता है, तब शरीर के बाहर भी प्रदेश निकलते हैं।

अब, कोई अन्यमती, जीव को सर्वथा सर्वगत ही कहते हैं, उनका निषेध करते हैं—

सव्वगओ जदि जीवो, सव्वत्थ वि दुक्खसुक्खसंपत्ती।
जाइज्ज ण सा दिट्ठी, णियतणुमाणो तदो जीवो॥१७७॥

यदि जीव होवें सर्वगत, सब क्षेत्रगत सुख दुःख लहें।
प्रत्यक्ष यह दिखता नहीं, इसलिए देह प्रमाण है॥१७७॥

अन्वयार्थ : [**जदि जीवो सव्वगओ**] यदि जीव सर्वगत ही होवे तो [**सव्वत्थ वि दुक्खसुक्खसंपत्ती**] सब क्षेत्र सम्बन्धी सुख-दुःख की प्राप्ति इसको [**जाइज्ज**] होवे [**सा ण दिट्ठी**] परन्तु ऐसा तो दिखाई देता नहीं है; [**तदो जीवो**] इसलिए जीव [**णियतणुमाणो**] अपने शरीरप्रमाण ही है।

जीवो णाणसहावो, जह अग्गी उह्णओ सहावेण।
अत्थंतरभूदेण हि, णाणेण ण सो हवे णाणी॥१७८॥

ज्यों अग्नि ऊष्ण स्वभाव है, त्यों जीव ज्ञान स्वभाव है।
इसलिए ज्ञानी और ज्ञान को, भिन्न वस्तु जानिये॥१७८॥

अन्वयार्थ : [**जह अग्गी**] जैसे, अग्नि [**सहावेण**] स्वभाव से [**उह्णओ**] उष्ण है [**जीवो णाणसहावो**] वैसे ही जीव, ज्ञानस्वभाव है [**अत्थंतरभूदेण हि**] इसलिए अर्थान्तरभूत (अपने से प्रदेशरूप पृथक्) [**णाणेण ण सो हवे णाणी**] ज्ञान से ज्ञानी नहीं है।

भावार्थ : नैयायिक आदि जीव और ज्ञान को प्रदेशभेद मानकर कहते हैं कि आत्मा से ज्ञान भिन्न है परन्तु समवाय तथा संसर्ग से एक हो गया है; इसलिए ज्ञानी कहलाता है। जैसे कि धन से धनी कहलाता है किन्तु ऐसा मानना असत्य है। जैसे, अग्नि और उष्णता के अभेदभाव है; वैसे ही आत्मा और ज्ञान के तादात्म्यभाव है।

अब, जीव और ज्ञान को भिन्न मानने में दोष बतलाते हैं —

जदि जीवादो भिण्णं, सव्वपयारेण हवदि तं णाणं।
गुणगुणिभावो य तदा, दूरेण प्पणस्सदे दुण्हं॥१७९॥

सर्वथा यदि भिन्न होवें, जीव एवं ज्ञान तो।
गुण-गुणी का भाव उनमें, दूर से ही नष्ट हो॥१७९॥

अन्वयार्थ : [**जदि जीवादो भिण्णं सव्वपयारेण हवदि तं णाणं**] यदि जीव से ज्ञान सर्वथा भिन्न ही माना जाए तो [**गुणगुणिभावो य तदा दूरेण प्पणस्सदे दुण्हं**] उन दोनों के गुण-गुणीभाव दूर से हो नष्ट हो जाएगा।

भावार्थ : यदि जीव और ज्ञान को सर्वथा भिन्न माना जाएगा तो यह जीवद्रव्य है, यह इसका ज्ञानगुण है — ऐसा भाव नहीं रहेगा।

अब, कोई पूछे कि गुण और गुणी के भेद बिना दो नाम कैसे कहे जाते हैं ? उसका समाधान करते हैं —

जीवस्स वि णाणस्स वि, गुणगुणिभावेण कीरए भेओ।
जं जाणदि तं णाणं, एवं भेओ कहं होदि॥१८०॥

ज्ञान एवं जीव में है, भेद गुण-गुणी भाव से।
जो जानता वह ज्ञान ऐसा, भेद फिर कैसे बने॥१८०॥

अन्वयार्थ : [**जीवस्स वि णाणस्स वि**] जीव और ज्ञान के [**गुणगुणिभावेण**] गुण-गुणीभाव से [**भेओ**] कथञ्चित् भेद [**कीरए**] किया जाता है, [**जं जाणदि तं णाणं**] 'जो जानता है, वह ही आत्मा का ज्ञान है' [**एवं भेओ कहं होदि**] — ऐसा भेद कैसे होता है ?

भावार्थ : यदि गुण-गुणी में सर्वथा भेद होवे तो 'जो जानता है, वह ज्ञान है' — ऐसा अभेद कैसे कहा जाता है ? इसलिए कथञ्चित् गुण-गुणीभाव से भेद कहा जाता है, प्रदेशभेद नहीं है।

इस तरह कई अन्यमती गुणगुणी में सर्वथा भेद मानकर जीव और ज्ञान के सर्वथा अर्थान्तर भेद मानते हैं, उनके मत का निषेध किया।

अब, चार्वाकमती ज्ञान को पृथ्वी आदि का विकार मानते हैं, उसका निषेध करते हैं —

णाणं भूयवियारं, जो मण्णदि सो वि भूदगहिदव्वो।
जीवेण विणा णाणं, किं केण वि दीसए कत्थ॥१८१॥

पंच भूतों से हुआ है, ज्ञान जो यह मानते।
उनको लगा है भूत, किसको जीव ज्ञान बिना दिखे ॥१८१॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो चार्वाकमती [**णाणं भूयवियारं मण्णदि**] ज्ञान को पृथ्वी आदि पञ्च भूतों का विकार मानता है, [**सो वि भूदगहिदव्वो**] यह चार्वाक, भूत (पिशाच) द्वारा ग्रहण किया हुआ है [**जीवेण विणा णाणं**] क्योंकि बिना ज्ञान के जीव [**किं केण वि कत्थ दीसए**] क्या किसी से कहीं देखा जाता है? अर्थात् कहीं भी ऐसा दिखाई नहीं देता है।

अब, इसको दूषण (दोष) बताते हैं —

सच्चेयण पच्चक्खं, जो जीवं णेय मण्णदे मूढो।
सो जीवं ण मुणंतो, जीवाभावं कहं कुणदि॥१८२॥

प्रत्यक्ष चेतन सत् न माने, जीव को वे मूढ़ हैं।
मानते नहिं जीव को, अभाव वे कैसे कहें॥१८२॥

अन्वयार्थ : [**सच्चेयण पच्चक्खं**] यह जीव सत्रूप और चैतन्यस्वरूप स्वसंवेदन प्रत्यक्षप्रमाण से प्रसिद्ध है। [**जो जीवं णेय मण्णदे**] जो चार्वाक, जीव को ऐसा नहीं मानता है, [**सो मूढो**] वह मूर्ख है [**जो जीवं ण मुणंतो**] और जो जीव को नहीं जानता है, नहीं मानता है तो वह [**जीवाभावं कहं कुणदि**] जीव का अभाव कैसे करता है?

भावार्थ : जो जीव को जानता ही नहीं है, वह उसका अभाव भी नहीं कह सकता है। अभाव का कहनेवाला भी तो जीव ही है, क्योंकि सद्भाव के बिना अभाव कहा नहीं जा सकता।

अब, इसी मतवाले को युक्ति से जीव का सद्भाव दिखाते हैं —

जदि ण य हवेदि जीओ, ता को वेदेदि सुक्खदुक्खाणि।
इन्दियविसया सव्वे, को वा जाणदि विसेसेण॥१८३॥

यदि जीव है ही नहीं तो, फिर कौन सुख दुःख भोगता।
इन्द्रियों के सर्व विषयों को, कहो को जानता॥१८३॥

अन्वयार्थ : [**जदि ण य हवेदि जीओ**] यदि जीव नहीं होवे तो [**सुक्खदुक्खाणि**] अपने सुख–दु:ख को [**को वेदेदि**] कौन जानता है ? [**इंदियविसया सव्वे**] इन्द्रियों के स्पर्श आदि सब विषयों को [**को वा जाणदि**] कौन जानता है ?

भावार्थ : चार्वाक प्रत्यक्षप्रमाण मानता है, वह अपने सुख–दु:ख को तथा इन्द्रियों के विषयों को जानता है, सो प्रत्यक्ष है। जीव के बिना प्रत्यक्षप्रमाण किसके होता है ? इसलिए जीव का सद्भाव अवश्य सिद्ध होता है।

अब, आत्मा का सद्भाव जैसे बनता है, वैसे कहते हैं —

संकप्पमओ जीवो, सुहदुक्खमयं हवेइ संकप्पो।
तं चिय वेददि जीवो, देहे मिलिदो वि सव्वत्थ॥१८४॥

जीव हे संकल्पमय, संकल्प सुख–दु:खरूप हैं।
संकल्प को जीव जानता, अरु देह में सर्वत्र है॥१८४॥

अन्वयार्थ : [**जीवो संकप्पमओ**] जीव सङ्कल्पमयी है, [**संकप्पो सुहदुक्खमयं हवेइ**] सङ्कल्प सुखदु:खमय है; [**तं चिय वेददि जीवो**] उस सुखदु:खमयी सङ्कल्प को जानता है, वह जीव है। [**देहे मिलिदो वि सव्वत्थ**] वह देह में सब जगह मिल रहा है, तो भी जाननेवाला जीव है।

अब, जीव, देह में मिला हुआ सब कार्यों को करता है, यह कहते हैं —

देहमिलिदो वि जीवो, सव्वकम्माणि कुव्वदे जम्हा।
तम्हा पयट्टमाणो, एयत्तं बुज्झदे दोण्हं॥१८५॥

देह मिश्रित जीव क्योंकि, सभी कार्यों को करे।
इसलिए इस जगत को, एकत्व दोनों में दिखे॥१८५॥

अन्वयार्थ : [**जम्हा**] क्योंकि [**जीवो**] जीव [**देहमिलिदो वि**] देह से मिला हुआ ही [**सव्वकम्माणि कुव्वदे**] (कर्म नोकर्मरूप) सब कार्यों को करता है, [**तम्हा पयट्टमाणो**] इसलिए उन कार्यों में प्रवृत्ति करते हुए लोगों को, [**दोण्हं एयत्तं बुज्झदे**] दोनों (देह और जीव) के एकत्व दिखाई देता है।

भावार्थ : लोगों को देह और जीव भिन्न तो दिखाई देते नहीं है, दोनों मिले हुए दिखाई देते हैं। संयोग से ही कार्यों की प्रवृत्ति दिखाई देती है; इसलिए दोनों को एक ही मानते हैं।

अब, जीव को देह से भिन्न जानने के लिये लक्षण दिखाते हैं —

देहमिलिदो वि पिच्छदि, देहमिलिदो वि णिसुण्णदे सद्दं।
देहमिलिदो वि भुञ्जदि, देहमिलिदो वि गच्छेदि॥१८६॥

देह मिश्रित ही दिखे अरु, शब्द सुनता है यही।
देह मिश्रित जीव भोजन, करे गति करता यही॥१८६॥

अन्वयार्थ : [**देहमिलिदो वि पिच्छदि**] जीव, देह से मिला हुआ ही आँखों से पदार्थों को देखता है; [**देहमिलिदो वि णिसुण्णदे सद्दं**] देह से मिला हुआ ही कानों से शब्दों को सुनता है; [**देहमिलिदो वि भुञ्जदि**] देह से मिला हुआ ही मुख से खाता है, जीभ से स्वाद लेता है; [**देहमिलिदो वि गच्छेदि**] देह से मिला हुआ ही पैरों से गमन करता है।

भावार्थ : देह में जीव न हो तो जड़रूप केवल देह ही के देखना, स्वाद लेना, सुनना, गमन करना — ये क्रियाएँ नहीं होतीं; इसलिए जाना जाता है कि जीव, देह से न्यारा है और वह ही इन क्रियाओं को करता है।

अब, इस तरह जीव को मिला हुआ माननेवाले लोग भेद को नहीं जानते हैं – ऐसा कहते हैं —

राओ हं भिच्चो हं, सिट्ठी हं चेव दुव्वलो बलिओ।
इदि एयत्ताविट्ठो दोण्हं भेयं ण बुज्झेदि॥१८७॥

मैं राव हूँ मैं रंक हूँ, मैं सेठ हूँ निर्धन बली।
एकत्वबुद्धि है जिन्हें, अन्तर न दो में जानते॥१८७॥

अन्वयार्थ : [**एयत्ताविट्ठो**] देह और जीव के एकत्व की मान्यतावाले लोग ऐसा मानते हैं कि [**राओ हं**] मैं राजा हूँ, [**भिच्चो हं**] मैं भृत्य (नौकर) हूँ, [**सिट्ठी हं**] मैं

सेठ (धनी) हूँ, [**चेव दुव्वलो**] मैं दुर्बल हूँ, मैं दरिद्र हूँ, मैं निर्बल हूँ [**बलिओ**] मैं बलवान हूँ; [**इदि**] इस प्रकार से [**दोण्हं भेयं ण बुज्झेदि**] देह और जीव के भेद को नहीं जानते हैं।

अब, जीव के कर्तृत्व आदि को चार गाथाओं से कहते हैं —

जीवो हवेइ कत्ता, सव्वं कम्माणि कुव्वदे जम्हा।
कालाइलद्धिजुत्तो, संसारं कुणइ मोक्खं च॥१८८॥

कर्म अरु नोकर्म का, कर्ता स्वयं यह जीव है।
संसार का कर्ता स्वयं है, काल पाकर मोक्ष का॥१८८॥

अन्वयार्थ : [**जम्हा**] क्योंकि [**जीवो**] यह जीव [**सव्वं कम्माणि कुव्वदे**] सब कर्म-नोकर्मों को करता हुआ, अपना कर्तव्य मानता है, इसलिए [**कत्ता हवेइ**] कर्ता भी है [**संसारं कुणइ**] सो अपने संसार को करता है [**कालइलद्धिजुत्तो**] और *काल आदि लब्धि से युक्त होता हुआ [**मोक्खं च**] अपने मोक्ष को भी आप ही करता है।

भावार्थ : कोई जानते हैं कि इस जीव के सुख-दुःख आदि कार्यों को ईश्वर आदि

---

* जहाँ-जहाँ काललब्धि शब्द आवे वहाँ मोक्षमार्गप्रकाशक अ० ९ पत्र ४६२ के अनुसार ऐसा अर्थ लगाना चाहिए—

प्रश्न—मोक्ष का उपाय काललब्धि आने पर भवितव्यतानुसार बनता है या मोहादिक का उपशमादि होने पर बनता है, अथवा अपने पुरुषार्थ से उद्यम करने पर बनता है? यदि पहिले दो कारण मिलने पर बनता है तो हमको उपदेश क्यों दिया जाता है? यदि पुरुषार्थ से बनता है तो उपदेश सब ही सुनते हैं उनमें कोई तो उपाय कर सकता है, कोई नहीं कर सकता है सो क्या कारण है? इसका समाधान—

एक कार्य होने में अनेक कारण मिलते हैं, इसलिए जहाँ मोक्ष का उपाय बनता है वहाँ तो पूर्वोक्त तीनों ही कारण मिलते हैं और नहीं बनता है वहाँ तीनों ही कारण नहीं मिलते हैं। पूर्वोक्त तीनों कारणों में काललब्धि या होनहार तो कुछ वस्तु नहीं है। जिस काल में कार्य बनता है वह ही काललब्धि और जो कार्य हुआ सो ही होनहार। कर्म के उपशमादि पुद्गल की शक्ति है उसका कर्ता-हर्ता आत्मा नहीं है। पुरुषार्थ से उद्यम करते हैं, यह आत्मा का कार्य है, इसलिए आत्मा को पुरुषार्थ से उद्यम करने का उपदेश दिया जाता है। जब यह आत्मा जिस कारण से कार्यसिद्धि अवश्य हो उस कारणरूप उद्यम करता है तो अन्य कारण मिलते ही मिलते हैं, और कार्य की भी सिद्धि होवे ही होवे। जिस कारण से कार्यसिद्धि हो अथवा नहीं भी हो, उस कारणरूप उद्यम करे, वहाँ अन्य कारण मिलें तो कार्यसिद्धि हो जाती है, नहीं मिलें तो सिद्धि नहीं होती। इसलिए जिनमत में जो मोक्ष का उपाय कहा गया है, उससे मोक्ष होवे ही होवे। अत: जो जीव पुरुषार्थपूर्वक जिनेश्वर के उपदेश अनुसार मोक्ष का उपाय करता है, उसके काललब्धि या होनहार भी हुआ और कर्म का उपशमादि भी हुआ है तो यह ऐसा उपाय करता है इसलिए जो पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय करता है उसको सब कारण मिलते हैं ऐसा निश्चय करना और उसको अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है।

कोई अन्य करता है परन्तु ऐसा नहीं है। आप ही कर्ता है, सब कार्यों को स्वयं ही करता है, संसार को भी आप ही करता है, कालादि लब्धि से युक्त होता हुआ मोक्ष को भी आप ही करता है। सब कार्यों के प्रति द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप सामग्री निमित्त है ही।

जीवो वि हवइ भुत्ता, कम्मफलं सो वि भुञ्जदे जम्हा।
कम्मविवायं विविहं, सो वि य भुञ्जेदि संसारे॥१८९॥

क्योंकि भोगे कर्मफल यह, इसलिए भोक्ता यही।
विविध कर्म विपाक को, संसार में भोगे यही॥१८९॥

अन्वयार्थ : [**जम्हा**] क्योंकि [**जीवो वि कम्मफलं भुंजदे**] जीव, कर्मफल को संसार में भोगता है, [**सो वि भुत्ता हवइ**] इसलिए भोक्ता भी यही है और [**सो वि य संसारे**] वह ही संसार में [**विविहं कम्मविवायं भुंजेदि**] सुख-दु:खरूप अनेक प्रकार कर्मों के विपाक को भोगता है।

जीवो वि हवइ पावं, अइतिव्वकषायपरिणदो णिच्चं।
जीवो वि हवेइ पुण्णं, उवसमभावेण संजुत्तो॥१९०॥

जब हो कषाय अतितीव्र तो, पाप है यह जीव ही।
जब भाव उपशम सहित हो, तब पुण्य है यह जीव ही॥१९०॥

अन्वयार्थ : [**जीवो वि अइतिव्वकषायपरिणदो णिच्चं पावं हवइ**] जब यह जीव अति तीव्रकषायसहित होता है, तब यह ही पापजीव होता है और [**उवसमभावेण संजुत्तो**] उपशमभाव (मन्दकषाय) सहित होता है, तब [**जीवो वि पुण्णं हवेइ**] यह ही पुण्यजीव होता है।

भावार्थ : क्रोध-मान-माया-लोभ की अति तीव्रता से तो पापपरिणाम होते हैं और इनकी मन्दता से पुण्यपरिणाम होते हैं। इन परिणामोंसहित पुण्यजीव-पापजीव कहलाते हैं।

एक ही जीव, दोनों प्रकार के परिणामोंसहित को पुण्यजीव-पापजीव कहते हैं। सो सिद्धान्त की अपेक्षा इस प्रकार है, सम्यक्त्वसहित जीव होवे, उसके तो तीव्रकषायों की

जड़ कट जाने से पुण्यजीव कहलाता है और मिथ्यादृष्टि जीव के भेदज्ञान बिना कषायों की जड़ कटती नहीं है, इसलिए बाह्य में कदाचित् उपशमपरिणाम भी दिखाई दें तो भी उसको पापजीव ही कहते हैं* — ऐसा जानना चाहिए।

रत्नत्रयसहित जीव ही उत्तम तीर्थ है, ऐसा कहते हैं —

रयणत्तयसंजुत्तो, जीवो वि हवेइ उत्तमं तित्थं।
संसारं तरइ जदो रयणत्तयदिव्वणावाए॥१९१॥

रतनत्रय की दिव्य नौका, से तिरे संसार जब।
जीव रत्नत्रय सहित है, यही उत्तम तीर्थ है॥१९१॥

अन्वयार्थ : [**जदो**] जब यह जीव [**रयणत्तयदिव्वणावाए**] रत्नत्रयरूप सुन्दर नाव के द्वारा [**संसारं तरइ**] संसार से तिरता है, पार होता है, तब [**जीवो वि**] यह ही जीव [**रयणत्तयसंजुत्तो**] रत्नत्रयसहित होता हुआ [**उत्तमं तित्थं हवेइ**] उत्तम तीर्थ है।

भावार्थ : जो तैरता है तथा जिससे तैरा जाता है, उसको तीर्थ कहते हैं। यह जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् रत्नत्रयरूपी नाव के द्वारा तैरता है तथा दूसरों के तैरने को निमित्त है, इसलिए यह जीव ही तीर्थ है।

अब, अन्य प्रकार से जीव के भेद कहते हैं —

जीवा हवंति तिविहा, बहिरप्पा तह य अन्तरप्पा य।
परमप्पा वि य दुविहा, अरहंता तह य सिद्धा य॥१९२॥

---

* इस बारे में श्री गोम्मटसार में भी कहा है कि:—

जीवदुगं उत्तट्ठं जीवा पुण्णा हु सम्मगुणसहिदा।
यदसहिदावि य पावा तव्विवरिया हवंतिति॥६२२॥
मिच्छाइट्ठी पावा, णंताणंता य सासणगुणावि।
पल्लासखेज्जदिमा अणअण्णदरेदयमिच्छगुणा॥६२३॥

अर्थ - जीव और अजीव पदार्थ तो पूर्व जीवसमास अधिकार में अथवा यहाँ छह द्रव्याधिकार में कहे हैं। फिर जो सम्यक्त्व गुण सहित होवे तथा जो व्रत सहित हो उसको पुण्यजीव कहते हैं, इनसे जो विपरीत हे अर्थात् सम्यक्त्वरहित; व्रतरहित जीव नियम से पाप जीव जानना, वे अनन्तानन्त हैं। सब संसार राशि में से अन्य गुणस्थानवालों का प्रमाण कम करने पर मिथ्यादृष्टियों का प्रमाण आता है, सासादन गुणस्थानवाले जीव भी पापजीव हैं कारण कि अनन्तानुबन्धी चार कषायों में से किसी एक कषाय का इसके उदय हो रहा है। अतः यह भी मिथ्यात्व गुण को प्राप्त होता है और वह पल्य के असंख्यभाग प्रमाण है।

जीव तीन प्रकार के, बहिरात्मा अन्तरात्मा।
परमात्मा दो विध कहें, अर्हन्त एवं सिद्ध हैं॥१९२॥

अन्वयार्थ : [**जीवा बहिरप्पा तह य अन्तरप्पा य परमप्पा तिविहा हवंति**] जीव बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा — इस तरह तीन प्रकार के होते हैं [**परमप्पाा वि य दुविहा अरहंता तह य सिद्धा य**] और परमात्मा भी अरहन्त तथा सिद्ध, इस तरह दो प्रकार के होते हैं।

जीवों के भेदों में बहिरात्मा कैसा है ? सो कहते हैं —

मिच्छतपरिणदप्पा, तिव्वकसाएण सुट्ठु आविट्ठो।
जीवं देहं एक्कं, मण्णंतो होदि बहिरप्पा॥१९३॥

मिथ्यात्व से परिणमित अतिशय, लिप्त तीव्र कषाय से।
एक माने जीव और शरीर, वह बहिरात्मा॥१९३॥

अन्वयार्थ : [**मिच्छतपरिणदप्पा**] जो जीव, मिथ्यात्वरूप परिणमा हो [**तिव्वकसाएण सुट्ठु आविट्ठो**] और तीव्र कषाय (अनन्तानुबन्धी) से अतिशय आविष्ठ अर्थात् युक्त हो, [**जीवं देहं एक्कं मण्णंतो**] जीव और देह को एक मानता है, वह जीव [**बहिरप्पा होदि**] बहिरात्मा है।

भावार्थ : जो बाह्य परद्रव्य को आत्मा मानता है, वह बहिरात्मा है। ऐसी मान्यता मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय से[१] होती है; इसलिए वह भेदज्ञान से रहित होता हुआ देह आदि समस्त परद्रव्यों में अहङ्कार-ममकार युक्त होता हुआ, बहिरात्मा कहलाता है।

अब, अन्तरात्मा का स्वरूप कहते हैं —

जे जिणवयणे कुसलो, भेयं जाणंति जीवदेहाणं।
णिज्जियदुट्ठट्ठमया, अन्तरअप्पा य ते तिविहा॥१९४॥

जिन वचन में जो कुशल, जानें भिन्न जीव शरीर को।
आठ मद को जीतते वे, त्रिविध अन्तर आत्मा॥१९४॥

१. अनुसरण करे तो।

अन्वयार्थ : [**जे जिणवयणे कुसलो**] जो जीव, जिनवचन में प्रवीण हैं, [**जीवदेहाणं भेयं जाणंति**] जीव और देह के भेद को जानते हैं, [**णिज्जियदुट्ठट्ठमयो**] और जिन्होंने आठ मदों को जीत लिया है, [**अन्तरअप्पा य ते तिविहा**] वे अन्तरात्मा हैं और उत्कृष्ट मध्यम-जघन्य के भेद से तीन प्रकार के हैं।

भावार्थ : जो जीव[२], जिनवाणी का भले प्रकार से अभ्यास करके जीव और देह के स्वरूप को भिन्न-भिन्न जानते हैं, वे अन्तरात्मा हैं। उसके जाति, लाभ, कुल, रूप, तप, बल, विद्या और ऐश्वर्य — ये जो आठ मद के कारण हैं, इनमें अहङ्कार-ममकार उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि ये परद्रव्य के संयोगजनित हैं[३], इनमें गर्व नहीं करते हैं। वे (अन्तरात्मा) तीन प्रकार के हैं।

अब इन तीनों में उत्कृष्ट को कहते हैं —

पंचमहव्वयजुत्ता, धम्मे सुक्के वि संठिदा णिच्चं।
णिज्जियसयलपमाया, उक्किट्ठा अन्तरा होंति॥१९५॥

महाव्रत से युक्त हैं रत, धर्म शुक्लध्यान में।
विजित सर्व प्रमाद को, उत्कृष्ट अन्तर आत्मा॥१९५॥

अन्वयार्थ : [**पंचमहव्वयजुत्ता**] जो जीव, पाँच महाव्रतों से युक्त हों, [**णिच्चं धम्मे सुक्के वि संठिदा**] नित्य ही धर्मध्यान शुक्लध्यान में स्थित रहते हों [**णिज्जिय -सयलपमाया**] और जिन्होंने निद्रा आदि सब प्रमादों को जीत लिया हो, [**उक्किट्ठा अन्तरा होंति**] वे उत्कृष्ट अन्तरात्मा होते हैं।

अब, मध्यम अन्तरात्मा को कहते हैं —

सावयगुणेहिं जुत्ता, पमत्तविरदा य मज्झिमा होंति।
जिणवयणे अणुरत्ता, उवसमसीला महासत्ता॥१९६॥

श्रावक गुणों से युक्त, विरत-प्रमत्त वे मध्यम कहे।
जिनवचन में अनुरक्त, उपशमशील महापराक्रमी॥१९६॥

---

२. स्वाश्रय के बल सहित।

३. अत: त्रैकालिक ज्ञान हूँ ऐसी दृढ़ता होने से।

अन्वयार्थ : [**जिणवयणे अणुरत्ता**] जो जिनवचनों में अनुरक्त हों, [**उवसमसीला**] उपशमभाव (मन्द कषाय) रूप जिनका स्वभाव हो, [**महासत्ता**] महा-पराक्रमी हों, परीषहादिक के सहन करने में दृढ़ हों, उपसर्ग आने पर प्रतिज्ञा से चलायमान नहीं होते हों, ऐसे [**सावयगुणेहिं जुत्ता**] श्रावक के व्रतसहित तथा [**पमत्तविरदा य मज्झिमा होंति**] प्रमत्तगुणस्थानवर्ती मुनि, मध्यम अन्तरात्मा होते हैं।

अब जघन्य अन्तरात्मा को कहते हैं —

अविरयसम्मद्दिट्ठी, होंति जहण्णा जिणंदपयभत्ता।
अप्पाणं णिंदंता, गुणगहणे सुट्ठअणुरत्ता ॥१९७॥

जो जिनचरण के भक्त हैं, गुण-ग्रहण में अनुरक्त हैं।
आत्म निन्दक अव्रत सम्यग्दृष्टि, आत्मा जघन हैं ॥१९७॥

अन्वयार्थ : [**जिणंदपयभत्ता**] जो जीव, जिनेन्द्र भगवान के चरणों के भक्त हैं। (जिनेन्द्र, उनकी वाणी तथा उसके अनुसार वर्तनवाले निर्ग्रन्थ गुरु-उनकी भक्ति में तत्पर हैं) [**अप्पाणं णिंदंता**] अपने आत्मा की निन्दा करते रहते हैं (चारित्रमोह से व्रत धारण नहीं किये जाते लेकिन उनकी भावना निरन्तर बनी ही रहती है, इसलिए अपने विभावपरिणामों की निन्दा करते ही रहते हैं) [**गुणगहणे सुट्ठअणुरत्ता**] और गुणों के ग्रहण करने में भले प्रकार अनुरागी हैं (जिनमें सम्यग्दर्शन आदि गुण देखते हैं, उनसे अत्यन्त अनुरागरूप प्रवृत्ति करते हैं। गुणों से अपना और पर का हित जाना है, इसलिए गुणों से अनुराग ही होता है) ऐसे [**अविरयसम्मद्दिट्ठी**] अविरतसम्यग्दृष्टि जीव (सम्यग्दर्शन तो जिनके पाया जाता है परन्तु चारित्रमोह की युक्तता से व्रत धारण नहीं कर सकते हैं), [**जहण्णा होंति**] जघन्य अन्तरात्मा हैं। इस प्रकार तीन प्रकार के अन्तरात्मा कहे, सो गुणस्थानों की अपेक्षा से जानना चाहिए।

भावार्थ : चौथे गुणस्थानवर्ती तो जघन्य अन्तरात्मा, पाँचवें-छठे गुणस्थानवर्ती मध्यम अन्तरात्मा और सातवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक उत्कृष्ट अन्तरात्मा जानना चाहिए।

अब, परमात्मा का स्वरूप कहते हैं —

स-सरीरा अरहंता, केवलणाणेण मुणियसयलत्था।
णाणसरीरा सिद्धा, सव्वुत्तम सुक्खसंपत्ता॥१९८॥

सशरीर हैं अर्हन्त, केवलज्ञान से सब जानते।
हैं सिद्ध ज्ञानशरीर, सर्वोत्तम सुखों को प्राप्त हैं॥१९८॥

अन्वयार्थ : [**केवलणाणेण मुणिपसयलत्था**] केवलज्ञान से जान लिए हैं सकल पदार्थ जिन्होंने, ऐसे [**ससरीरा अरहंता**] शरीरसहित अरहन्त परमात्मा हैं; [**सव्वुत्तम सुक्खसंपत्ता**] सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति जिनको हो गयी है, तथा [**णाणसरीरा सिद्धा**] ज्ञान ही है शरीर जिनके, ऐसे शरीररहित सिद्ध परमात्मा हैं।

भावार्थ : तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानवर्ती अरहन्त शरीरसहित परमात्मा हैं और सिद्ध परमेष्ठी शरीररहित परमात्मा हैं।

अब, परा शब्द का आशय कहते हैं —

णिस्सेसकम्मणासे, अप्पसहावेण जा समुप्पत्ती।
कम्मजभावखए वि य, सा वि य पत्ती परा होदि॥१९९॥

नाश हो सम्पूर्ण कर्मों का, स्वभावोत्पन्न हो।
क्षय हुआ कर्मज भाव का, वे ही 'परम' यह जानिये॥१९९॥

अन्वयार्थ : [**जो णिस्सेसकम्मणासे**] जो समस्त कर्मों के नाश होने पर [**अप्पसहावेण समुप्पत्ती**] अपने स्वभाव से उत्पन्न हो और [**कम्मजभावखए वि य**] जो कर्मों से उत्पन्न हुए औदयिक आदि भावों का नाश होने पर उत्पन्न हो, [**सा वि य पत्ती परा होदि**] वह भी परा कहलाती है।

भावार्थ : परा कहिये उत्कृष्ट और मा कहिये लक्ष्मी, वह जिसके हो—ऐसे आत्मा को परमात्मा कहते हैं। समस्त कर्मों के नाश से स्वभावरूप लक्ष्मी को प्राप्त हुए, वे सिद्ध परमात्मा हैं और घातियाकर्मों के नाश से अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मी को प्राप्त हुए, वे अरहन्त भी परमात्मा हैं तथा वे ही औदयिक आदि भावों के नाश से भी परमात्मा हुए कहलाते हैं।

अब, कोई जीवों को सर्वथा शुद्ध ही कहते हैं, उनके मत का निषेध करते हैं —

जइ पुण सुद्धसहावा, सव्वेजीवा अणाइकाले वि।
तो तवचरणविहाणं, सव्वेसिं णिप्फलं होदि॥२००॥

हैं अनादि काल से यदि, शुद्ध ही सब जीव तो।
फिर तपश्चरण विधान सब ही, पूर्ण निष्फल जान लो॥२००॥

अन्वयार्थ : [**जइ**] यदि [**सव्वेजीवा अणाइकाले वि**] सब जीव अनादिकाल से [**सुद्धसहावा**] शुद्धस्वभाव हैं [**तो सव्वेसिं**] तो सब ही को [**तवचरणविहाणं**] तपश्चरण विधान [**णिप्फलं होदि**] निष्फल होता है।

ता किह गिण्हदि देहं, णाणाकम्माणि ता कहं कुणदि।
सुहिदा वि य दुहिदा वि य, णाणारूवा कहं होंति॥२०१॥

वह देह को क्यों ग्रहण करता, करे नाना कर्म को।
कोई सुखी कोई दुःखी, ये रूप नाना क्यों कहो॥२०१॥

अन्वयार्थ : यदि जीव, सर्वथा शुद्ध है [**ता किह गिणहदि देहं**] तो देह को कैसे ग्रहण करता है? [**णाणाकम्माणि ता कहं कुणदि**] नाना प्रकार के कर्मों को कैसे करता है? [**सुहिदा वि य दुहिदा वि य**] कोई सुखी है, कोई दुःखी है [**णाणारूवा कहं होंति**] — ऐसे नानारूप कैसे होते हैं? इसलिए सर्वथा शुद्ध नहीं है।

अब, अशुद्धता का कारण कहते हैं —

सव्वे कम्म-णिबद्धा, संसरमाणा अणाइ-कालम्हि।
पच्छा तोडिय बंधं, सुद्धा सिद्धा धुवं होंति॥२०२॥

सब जीव कर्मों से बँधे, चिर काल से करते भ्रमण।
फिर कर्मबन्धन तोड़कर हों, सिद्ध निश्चल शुद्ध सब॥२०२॥

अन्वयार्थ : [**सव्वे**] सब संसारी जीव, [**अणाइकालम्हि**] अनाादि काल से [**कम्म-णिबद्धा**] कर्मों से बँधे हुए हैं, [**संसरमाणा**] इसलिए संसार में भ्रमण करते हैं, [**पच्छा तोडिय बंधं सिद्धा**] फिर कर्मों से बन्धन को तोड़कर सिद्ध होते हैं, [**सुद्धा धुवं होंति**] तब शुद्ध और निश्चल होते हैं।

अब, जिस बन्ध से जीव बँधते हैं, उस बन्ध का स्वरूप कहते हैं —

जो अण्णोण्णपवेसो, जीवपएसाण कम्मखंधाणं।
सव्वबंधाण वि लओ, सो बंधो होदि जीवस्स॥२०३॥

जीव कर्म प्रदेश खंड, मिलें परस्पर में जभी।
सब बन्ध जिसमें लीन हैं, वह जीव का बन्ध जानिए॥२०३॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो [**जीवपएसाण कम्मखंधाणं**] जीव के प्रदेशों का और कर्मों के स्कन्ध का [**अण्णोण्णपवेसो**] परस्पर प्रवेश होना अर्थात् एक क्षेत्ररूप सम्बन्ध होना और [**सव्वबंधाण वि लओ**] प्रकृति, स्थिति, अनुभाग सब बन्धों का लय अर्थात् एकरूप होना, [**सो**] सो [**जीवस्स**] जीव के [**बंधो होदि**] प्रदेशबन्ध होता है।

अब, सब द्रव्यों में जीवद्रव्य ही उत्तम परमतत्त्व है, ऐसा कहते हैं —

उत्तमगुणाण धामं, सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं।
तच्चाण परमतच्चं, जीवं जाणेह णिच्छयदो॥२०४॥

उत्तम गुणों का धाम है, सब द्रव्य में उत्तम यही।
सब तत्त्व में उत्कृष्ट है यह, जीव निश्चय जानिये॥२०४॥

अन्वयार्थ : [**उत्तमगुणाण धामं**] जीवद्रव्य, उत्तम गुणों का धाम/स्थान है, ज्ञान आदि उत्तमगुण इसी में हैं; [**सव्वदव्वाण उत्तम दव्वं**] सब द्रव्यों में यह ही द्रव्य प्रधान है; सब द्रव्यों को जीव ही प्रकाशित करता है; [**तच्चाण परमतच्चं जीवं**] सब तत्त्वों में परमतत्त्व जीव ही है; अनन्तज्ञान सुख आदि का भोक्ता यह ही है; [**णिच्छयदो जाणेह**] इस तरह से हे भव्य! तू निश्चय से जान।

अब, जीव के ही उत्तम तत्त्वपना कैसे है ? सो कहते हैं —

अंतरतच्चं जीवो, बाहिरतच्चं हवंति सेसाणि।
णाणविहीणं दव्वं, हियाहियं णेय जाणेदि॥२०५॥

जीव अन्तर तत्त्व है, बाकी सभी बहि तत्त्व हैं।
वे द्रव्य ज्ञानविहीन, हेयाहेय को नहिं जानते॥२०५॥

अन्वयार्थ : [**जीवो अंतरतच्चं**] जीव अन्तरतत्त्व है, [**सेसाणि बाहिरतच्चं हवंति**] बाकी के सब द्रव्य बाह्यतत्त्व हैं; [**णाणविहीणं दव्वं**] वे द्रव्य ज्ञानरहित हैं [**हियाहियं णेय जाणेदि**] और हेय-उपादेय वस्तु को नहीं जानते हैं।

भावार्थ : जीवतत्त्व के बिना सब शून्य है; इसलिए सबका जाननेवाला तथा हेय -उपादेय का जाननेवाला जीव ही परमतत्त्व है।

अब, पुद्गलद्रव्य का स्वरूप कहते हैं —

सव्वो लोयायासो, पुग्गलदव्वेहिं सव्वदो भरिदो।
सुहमेहिं बायरेहिं य, णाणाविहसत्तिजुत्तेहिं ॥२०६॥

विविध शक्ति सहित एवं, सूक्ष्म बादर जो सभी।
भरपूर पुद्गल द्रव्य से, सम्पूर्ण लोकाकाश ही ॥२०६॥

अन्वयार्थ : [**सव्वो लोयायासो**] सब लोकाकाश [**णाणाविहसत्तिजुत्तेहिं**] नाना प्रकार की शक्तिवाले [**सुहमेहि वायरेहिं य**] सूक्ष्म और बादर [**पुग्गलदव्वेहिं सव्वदो भरिदो**] पुद्गलद्रव्यों से सब जगह भरा हुआ है।

भावार्थ : शरीर आदि अनेक प्रकार की परिणमनशक्तियुक्त सूक्ष्म-बादर पुद्गलों से सब लोकाकाश भरा हुआ है।

जे इन्दिएहिं गिज्झं, रूवरसगंधफासपरिणामं।
तं चिय पुग्गलदव्वं, अणंतगुणं जीवरासीदो ॥२०७॥

रूप रस स्पर्श एवं, गन्ध इन्द्रिय ग्राह्य हैं।
वे सभी पुद्गल द्रव्य, जीवों से अनन्त गुणे कहे ॥२०७॥

अन्वयार्थ : [**जे**] जो [**रूवरसगंधपासपरिणामं**] रूप, रस, गन्ध, स्पर्श परिणामस्वरूप से [**इंदिएहिं गिज्झं**] इन्द्रियों के ग्रहण करने योग्य हैं, [**तंचिय पुग्गल-दव्वं**] वे सब पुद्गलद्रव्य हैं, [**अणंतगुणं जीवरासीदो**] वे संख्या में जीवराशि से अनन्तगुणे द्रव्य हैं।

अब, पुद्गलद्रव्य के जीव के उपकारीपने को कहते हैं —

जीवस्स बहुपयारं, उवयारं कुणदि पुग्गलं दव्वं।
देहं च इन्दियाणि य, वाणी उस्सासणिस्सासं॥२०८॥

देह इन्द्रिय वचन या उच्छ्वास, अरु निःश्वास है।
बहु भाँति पुद्गल द्रव्य करता, जीव का उपकार है॥२०८॥

अन्वयार्थ : [**पुग्गलं दव्वं**] पुद्गलद्रव्य, [**जीवस्स**] जीव के [**देहं च इंदियाणि य**] देह, इन्द्रिय [**वाणी उस्सासणिस्सासं**] वचन, उस्वास, निस्वास [**बहुपयारं उवयारं कुणदि**] बहुत प्रकार उपकार करता है।

भावार्थ : संसारी जीव के देहादिक पुद्गलद्रव्य से रचे गए हैं, इनसे जीव का जीवितव्य है, यह उपकार है।[१]

अण्णं पि एवमाई, उवयारं कुणदि जाव संसारं।
मोह अणाणमयं पि य, परिणामं कुणदि जीवस्स॥२०९॥

उपकार करता और भी, जब तक अहो संसार है।
मोह अरु अज्ञानमय, परिणाम जीवों का करे॥२०९॥

अन्वयार्थ : पुद्गलद्रव्य, [**जीवस्स**] जीव के [**अण्णं पि एवमाई**] पूर्वोक्त को आदि लेकर अन्य भी [**उवयारं कुणदि**] उपकार करता है। [**जाव संसारं**] जब तक इस जीव को संसार है, तब तक [**मोह अणाणमयं पि य परिणामं कुणदि**] मोहपरिणाम (पर द्रव्यों से ममत्व परिणाम), अज्ञानमयी परिणाम — ऐसे सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि अनेक प्रकार करता है। यहाँ उपकार शब्द का अर्थ जब उपादान कार्य करे, तब संयोग को निमित्तकारणपने का आरोप है — ऐसा सर्वत्र समझना चाहिए।[२]

अब, उसी प्रकार जीव भी जीव का उपकार करता है, ऐसा कहते हैं —

जीवा वि दु जीवाणं, उवयारं कुणदि सव्वपच्चक्खं।
तत्थ वि पहाणहेऊ, पुण्णं पावं च णियमेण॥२१०॥

जीव भी उपकार करते, जीव का प्रत्यक्ष है।
उसमें नियम से पुण्य एवं, पाप हेतु प्रधान है॥२१०॥

१. अर्थात् निमित्तमात्र है।

२. सयोगदृष्टि उपचरित कथन का प्रयोजन अनुपचार-उपादान का व्यंजक बतानेवाला ही है।

अन्वयार्थ : [**जीवा वि दु जीवाणं उवयारं कुणदि**] जीव भी जीवों के परस्पर उपकार करते हैं, [**सव्व पच्चक्खं**] यह सब के प्रत्यक्ष ही है। स्वामी, सेवक का; सेवक, स्वामी का; आचार्य, शिष्य का; शिष्य, आचार्य का; पिता-माता, पुत्र का; पुत्र, पिता-माता का; मित्र, मित्र का; स्त्री, पति का उपकार करते हैं, इत्यादि प्रत्यक्ष माने जाते हैं। [**तत्थ वि**] उस परस्पर उपकार में [**पुण्णं पावं च णियमेण**] पुण्य-पापकर्म नियम से [**पहाणहेऊ**] प्रधान कारण हैं।

अब, पुद्गल के बड़ी शक्ति है, ऐसा कहते हैं —

का वि अपुव्वा दीसदि, पुग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती।
केवलणाणसहाओ, विणासिदो जाइ जीवस्स॥२११॥

ऐसी अपूरव शक्ति कोई, दिखे पुद्गल द्रव्य की।
शक्ति केवलज्ञान जिससे, नष्ट होती जीव की॥२११॥

अन्वयार्थ : [**पुग्गलदव्वस्स**] पुद्गलद्रव्य की [**का वि**] कोई [**एरिसी**] ऐसी [**अपुव्वा**] अपूर्व [**सत्ती**] शक्ति [**दीसदि**] दिखाई देती है, [**जाइ जीवस्स**] जिससे जीव का [**केवलणाणसहाओ विणासिदो**] केवलज्ञानस्वभाव नष्ट हो रहा है।[१]

भावार्थ : जीव में अनन्त शक्ति हैं। उसमें केवलज्ञानशक्ति ऐसी है कि जिसके प्रगट होने पर यह जीव सब पदार्थों को एक समय में जान लेता है। ऐसे प्रकाश को पुद्गल नष्ट कर रहा है; नहीं होने देता है, सो यह अपूर्व शक्ति है। ऐसे पुद्गलद्रव्य का वर्णन किया।[२]

अब, धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य का स्वरूप कहते हैं —

धम्ममधम्मं दव्वं, गमणट्ठाणाण कारणं कमसो।
जीवाण पुग्गलाणं, बिण्णि वि लोगप्पमाणाणि॥२१२॥

---

१. निश्चय उपादान की बात को गौण करके निमित्त की ओर का यह कथन है, आवरण का अर्थ आच्छादन है-जीव में जो शक्ति है, उसे जीव स्वयं व्यक्त नहीं करता वहाँ तक निमित्त की ओर झुकाव का कथन है।

२. यदि जड़कर्म जीव के ज्ञानादिक का घात निमित्त की ओर से करता हो, तो प्रश्न-केवलज्ञान आपके पास कब प्रगट था? जो उसका कर्मों ने घात किया?

जीव-पुद्गल की गति अरु, स्थिति में निमित्त हैं।
धर्म और अधर्म दोनों, द्रव्य लोक प्रमाण हैं ॥२१२॥

अन्वयार्थ : [**जीवाण पुग्गलाणं**] जीव और पुद्गल, इन दोनों द्रव्यों को [**गमणट्ठाणाण कारणं कमसो**] गमन और अवस्थान (ठहरना) में सहकारी अनुक्रम से कारण [**धम्ममधम्मं दव्वं**] धर्म और अधर्मद्रव्य हैं, [**बिण्णि वि लोगप्पमाणाणि**] ये दोनों ही लोकाकाश परिणाम प्रदेशों को धारण करते हैं।

भावार्थ : जीव-पुद्गल को गमन का सहकारीकारण तो धर्मद्रव्य है और स्थिति का सहकारी-कारण अधर्मद्रव्य है। ये दोनों लोकाकाश प्रमाण हैं।

अब, आकाशद्रव्य का स्वरूप कहते हैं —

सयलाणं दव्वाणं, जं दादूं सक्कदे हि अवगासं।
तं आयासं दुविहं, लोयालोयाण भेयेण ॥२१३॥

सब द्रव्य को अवकाश देने, में समर्थ पदार्थ जो।
आकाश है वह लोक और, अलोक के द्वय भेद युत ॥२१३॥

अन्वयार्थ : [**जं**] जो [**सयलाणं दव्वाणं**] सब द्रव्यों को [**अवगासं**] अवकाश [**दादुं सक्कदे**] देने को समर्थ है, [**तं आयासं**] उसको आकाशद्रव्य कहते हैं; [**लोयालोयाण भेयेण दुविहं**] वह लोक-अलोक के भेद से दो प्रकार का है।

भावार्थ : जिसमें सब द्रव्य पाये जाते हैं — ऐसे अवगाहनगुण को धारण करता है, वह आकाशद्रव्य है। जिनमें पाँच द्रव्य पाये जाते हैं, सो तो लोकाकाश है और जिसमें अन्य द्रव्य नहीं पाये जाते, वह अलोकाकाश है — ऐसे दो भेद हैं।

अब, आकाश में सब द्रव्यों को अवगाहन देने की शक्ति है, वैसी अवकाश देने की शक्ति सब ही द्रव्यों में है — ऐसा कहते हैं —

सव्वाणं दव्वाणं, अवगाहणसत्ति अत्थि परमत्थं।
जह भसमपाणियाणं, जीवपएसाण जाण बहुयाणं ॥२१४॥

परमार्थ से सब द्रव्य में, अवगाहशक्ति जानिए।
ज्यों भस्म अरु जल में रहे, त्यों जीव के सब देश में ॥२१४॥

अन्वयार्थ : [**सव्वाणं दव्वाणं**] सब ही द्रव्यों के परस्पर [**परमत्थं**] परमार्थ से

(निश्चय से) [**अवगाहणसत्ति अत्थि**] अवगाहना देने की शक्ति है, [**जह भसमपाणियाणं**] जैसे, भस्म और जल के अवगाहनशक्ति है; [**जीवपएसाण जाण बहुयाणं**] वैसे ही जीव के असंख्य प्रदेशों को जानना चाहिए।

भावार्थ : जैसे, जल को पात्र में भरकर, उसमें भस्म डालते हैं सो समा जाती है, उसमें मिश्री डालते हैं तो वह भी समा जाती है और उसमें सूई घुसाई जाती है तो वह भी समा जाती है; वैसे अवगाहनशक्ति को जानना चाहिए।

यहाँ कोई **प्रश्न** करता है कि सब ही द्रव्यों में अवगाहनशक्ति है तो आकाश का असाधारणगुण कैसे है ?

उसका उत्तर - जो परस्पर तो अवगाह सब ही देते हैं तथापि आकाशद्रव्य सबसे बड़ा है; इसलिए इसमें सब ही समाते हैं, यह असाधारणता है।

जदि ण हवदि सा सत्ती, सहावभूदा हि सव्वदव्वाणं।
एक्केकास पएसे, कह ता सव्वाणि वट्टंति॥२१५॥

सब द्रव्य में अवगाह शक्ति, स्वभावत: यदि हो नहीं।
नभ के प्रत्येक प्रदेश में, सब द्रव्य कैसे रह सकें॥२१५॥

अन्वयार्थ : [**जदि**] यदि [**सव्वदवाणं**] सब द्रव्यों के [**सहावभूदा**] स्वभावभूत [**सा सत्ती**] वह आवगाहनशक्ति [**ण हवदि**] न होवे तो [**एक्केकास पएसे**] एक-एक आकाश के प्रदेश में [**कह ता सव्वाणि वट्टंति**] सब द्रव्य कैसे रहते हैं ?

भावार्थ : एक आकाश के प्रदेश में अनन्त पुद्गल परमाणु (द्रव्य) रहते हैं। एक जीव का प्रदेश , एक धर्मद्रव्य का प्रदेश, एक अधर्मद्रव्य का प्रदेश, एक कालाणुद्रव्य — ऐसे सब रहते हैं। वह आकाश का प्रदेश, एक पुद्गल के परमाणु के बराबर है। यदि अवगाहनशक्ति न होवे तो कैसे रहे ?*

---

* तीनों काल के समयों से अलोकाकाश के प्रदेश अनन्तानन्त गुणे हैं, सब दिशाओं में चारों ओर अमर्यादित अनन्त प्रदेशी आकाश को सर्वज्ञ भगवान भी अनन्त प्रदेशी ही जानता है। वृद्ध विद्वानों से सुना है कि 'सुदर्शन मेरु के बराबर एक लाख योजन लम्बा, चौड़ा, लोहे का गोला वह प्रत्येक समय में एक राजू की गति अनुसार यदि पतन करे तो भी पूर्ण भविष्य काल के अनन्तानन्त समयों में भी अलोकाकाश के तल तक नहीं पहुँच पायेगा। इस दृष्टान्त को सुनकर अब निर्णीत दृष्टान्त को यों समझिये कि जम्बूद्वीप के बराबर गढ़ लिया गया लोहे का गोला प्रतिसमय यदि अनन्त राजू भी पतन करे अथवा एक समय में अनन्त राजू चलकर दूसरे समय में उस अनन्त से अनन्तगुणे

अब, कालद्रव्य का स्वरूप कहते हैं —

सव्वाणं दव्वाणं, परिणामं जो करेदि सो कालो।
एक्केकासपएसे, सो वट्टदि एक्किको चेव॥२१६॥

सब द्रव्य के परिणमन को, जो करे वह ही काल है।
एक एक प्रदेश नभ में, एक कालाणु रहे॥२१६॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो [**सव्वाणं दव्वाणं परिणामं**] सब द्रव्यों के परिणाम (परिणमन / बदलाव) [**करेदि सो कालो**] करता है, सो कालद्रव्य है, [**सो**] वह [**एक्केकासपएसे**] एक-एक आकाश के प्रदेश पर [**एक्किो चेव वट्टदि**] एक-एक कालाणुद्रव्य वर्तता है।

भावार्थ : सब द्रव्यों को पर्यायें प्रति समय उत्पन्न व नष्ट होती रहती हैं; इस प्रकार के परिणमन में निमित्त कालद्रव्य है। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु रत्नों की राशिवत् रहता है, यह निश्चयकाल है।

अब कहते हैं कि परिणमने की शक्ति स्वभावभूत सब द्रव्यों में है; अन्यद्रव्य तो निमित्तमात्र है —

णियणियपरिणामाणं, णियणियदव्वं पि कारणं होदि।
अण्णं वाहिरदव्वं, णिमित्तमित्तं वियाणेह॥२१७॥

अनन्तानन्त राजू गमन करे, यों तीसरे आदि समयों में पूर्व-पूर्व में अनन्तगुणा चलता जाये फिर भी भविष्यकाल के अनन्तानन्त समयों में अलोकाकाश की सड़क (एक श्रेणी को भी) पूरा नहीं कर सकेगा, कारण कि 'तिविह जहण्णाणंतं पगासला दलदि्बदी सगादि पदं। जीवो पोग्गलकाला सेढी आगास तप्पदरम्' नियमसार की इस गाथा अनुसार काल के समय राशि से तो अनन्त स्थान ऊपर जाकर आकाश श्रेणी के अर्धच्छेद निकलते हैं। उनसे अनन्त स्थान ऊपर श्रेणी आकाश की संख्या आती है (जो मध्यम अनन्त की उत्कृष्टता के समीप है) जो श्रेणी आकाश के घन प्रमाण सम्पूर्ण आकाश प्रदेश है। तीनों काल के समयों से भी आकाशप्रदेश अनन्तानन्त गुणे हैं इस प्रकार श्री केवलज्ञानी भगवान श्री महावीर ने प्रतिपादन किया है। 'व्यय-सद्भावे सत्यपि नवीन वृद्धेरभाववत्वं चेत्। यस्य क्षयो न नियतः सोऽनंतो जिनमते भणितः'। यह है एक समय में-प्रत्येक समय में अखिल विश्व का अत्यन्त स्पष्ट पूर्ण ज्ञाता सर्वज्ञ की वास्तविकता और महिमा इसलिये ही जैनधर्म में धर्म का मूल सर्वज्ञ और (जाति अपेक्षा छह ही है) छहों द्रव्यों की सर्वदा सर्व प्रकार स्वतन्त्रता स्वयमेव प्रकाशमान है।

[तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पु० नं० ६ पृष्ठ १४३ से उद्धृत]

सब द्रव्य कारण हैं कहें, जिन स्वयं के परिणाम के।
अन्य बाह्य पदार्थ उसमें, निमित्तकारण जानिये॥२१७॥

अन्वयार्थ : [**णियणियपरिणामाणं णियणियदव्वं पि कारणं होदि**] सब द्रव्य अपने-अपने परिणमन के उपादानकारण हैं, [**अण्णं वाहिरदव्वं**] अन्य बाह्य द्रव्य हैं, वे अन्य के [**णिमित्तमित्तं वियाणेह**] निमित्तमात्र जानों।

भावार्थ : *जैसे, घड़े आदि में मिट्टी उपादानकारण है और चाक, दण्डादि निमित्तकारण हैं; वैसे ही सब द्रव्य अपनी पर्यायों को उपादानकारण हैं, तब कालद्रव्य तो निमित्तमात्र कारण है।

अब कहते हैं कि सब परस्पर उपकार है, सो सहकारी निमित्तमात्र कारणभाव से है —

सव्वाणं दव्वाणं, जो उवयारो हवेइ अण्णोणं।
सो चिय कारणभावो, हवदि हु सहयारिभावेण॥२१८॥

सब द्रव्य का है परस्पर, उपकार श्री जिनवर कहें।
सहकारि कारण भाव से ही, उन्हें कारण जानिये॥२१८॥

अन्वयार्थ : [**सव्वाणं दव्वाणं जो**] सब ही द्रव्यों के जो [**अण्णोणं**] परस्पर [**उवयारो हवेइ**] उपकार है, [**सो चिय**] वह [**सहयारिभावेण**] सहकारीभाव से [**कारणभावो हवदि हु**] कारणभाव होता है, यह प्रगट है।

अब, द्रव्यों के स्वभावभूत अनेक शक्तियाँ हैं, उनका निषेध कौन कर सकता है? — ऐसा कहते हैं —

कालाइलद्धिजुत्ता, णाणासत्तीहि संजुदा अत्था।
परिणममाणा हि सयं, ण सक्कदे को वि वारेदुं॥२१९॥

कालादि लब्धि युक्त नाना, शक्ति से संयुक्त हैं।
सब द्रव्य परिणमते स्वयं को, रोक सकता कौन है॥२१९॥

---

* जो स्वयं कार्य रूप परिणमन करे वह उपादान कारण है।

अन्वयार्थ : [**अत्था**] सब ही पदार्थ [**कालाइलद्धिजुत्ता**] काल* आदि लब्धिसहित [**णाणासत्तीहि संजुदा**] अनेक प्रकार की शक्तिसहित हैं, [**हि सयं परिणममाणा**] स्वयं परिणमन करते हैं; [**को वि वारेदुं ण सक्कदे**] उनको परिणमन करते हुए कोई निवारण करनेमें समर्थ नहीं है।

भावार्थ : सब द्रव्य अपने-अपने परिणामरूप द्रव्य-क्षेत्र-काल सामग्री को पाकर आप ही भावरूप परिणमन करते हैं, उनका कोई निवारण नहीं कर सकता है।

अब, व्यवहारकाल का निरूपण करते हैं —

जीवाण पुग्गलाणं, जे सुहुमा बादरा य पज्जाया।
तीदाणागदभूदा, सो ववहारो हवे कालो॥२२०॥

पर्याय हैं जो सूक्ष्म बादर, जीव पुद्गल द्रव्य की।
हो चुकी हैं, होएगी, व्यवहार काल सुजानिये॥२२०॥

अन्वयार्थ : [**जीवाण पुग्गलाणं**] जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य के [**सुहुमा बादरा य पज्जाया**] सुक्ष्म तथा बादर पर्याय हैं, [**जे**] वे [**तीदाणागदभूदा**] अतीत हो चुके हैं, अनागत/आगामी होयेंगे, वर्तमान हैं, [**सो ववहारो कालो हवे**] सो ऐसा व्यवहार काल होता है।

भावार्थ : जो जीव-पुद्गल के स्थूल-सूक्ष्म पर्याय हैं, वे जो हो चुके अतीत कहलाए; जो आगामी होयेंगे, उनको अनागत कहते हैं; जो वर्त रहे हैं, सो वर्तमान कहलाते हैं। इनको जितना काल लगता है, उस ही को व्यवहारकाल नाम से कहते हैं। सो जघन्य तो पर्याय की स्थिति एक समयमात्र है और मध्यम, उत्कृष्ट अनेक प्रकार है।

आकाश के प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक पुद्गल का परमाणु मन्दगति से जाता है, उतने काल को समय कहते हैं, ऐसे जघन्ययुक्ताऽसंख्यात समय की एक आवली होती है। संख्यात आवली के समूह को एक उस्वास कहते हैं, सौ उस्वास का एक स्तोक होता है। सात स्तोक का एक लव होता है। साढ़े अड़तीस लव की एक घड़ी होती है। दो घड़ी का

---

* काल आदि लब्धि=काल लब्धि का अर्थ 'स्वकाल' की प्राप्ति होता है, यही आचार्यश्री ने यहाँ स्पष्ट किया है।

एक मुहुर्त होता है। तीस मुहूर्त का रात-दिन होता है। पन्द्रह रात-दिन का पक्ष होता है। दो पक्ष का मास होता है। दो मास की ऋतु होती है। तीन ऋतु का अयन होता है। दो अयन का वर्ष होता है — इत्यदि पल्य, सागर, कल्प आदि व्यवहारकाल के अनेक प्रकार हैं।

अब, अतीत, अनागत, वर्तमान पर्यायों की संख्या कहते हैं —

तेसु अतीदा णंता, अणंतगुणिदा य भाविपज्जाया।
एक्को वि वट्टमाणो, एंत्तियमित्तो वि सो कालो ॥२२१॥

भूतवर्ती हैं अनन्त, भविष्य नन्तगुणी कही।
पर्याय वर्ते एक ये, सब काल है व्यवहार ही ॥२२१॥

अन्वयार्थ : [**तेसु अतीदा णंता**] उन द्रव्यों की पर्यायों में अतीत पर्याय अनन्त हैं [**य भाविपज्जाया अणंतगुणिदा**] और अनागत पर्यायें उनसे अनन्तगुणी हैं; [**एक्को वि वट्टमाणो**] वर्तमान पर्याय एक ही है, [1][**एत्तियमित्तो वि सो कालो**] सो जितनी पर्यायें हैं, उतना ही व्यवहारकाल है। इस तरह द्रव्यों का वर्णन किया।[2]

अब, द्रव्यों के कार्यकारणभाव का निरूपण करते हैं —

पुव्वपरिणामजुत्तं, कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुदं, तं चिय कज्जं हवे णियमा ॥२२२॥

द्रव्य कारण रूप होता, पूर्व परिणामों सहित।
परिणाम उत्तर युक्त द्रव्य, कार्य जानो नियम से ॥२२२॥

अन्वयार्थ : [**पुव्वपरिणामजुत्तं**] पूर्व परिणामयुक्त [**दव्वं**] द्रव्य [**कारणभावेण वट्टदे**] कारणरूप है [**उत्तरपरिणामजुदं तं चिय**] और उत्तर परिणामुयक्त द्रव्य [**णियमा**] नियम से [**कज्जं हवे**] कार्यरूप है।

अब, वस्तु के तीनों कालों में ही कार्य-कारणभाव का निश्चय करते हैं —

१. देखो, गाथा ३०२ की टीका।
२. भावार्थ-संसार पर्याय का अन्त किसी जीव को आता ही है किन्तु संसार-पर्यायों से मोक्ष की पर्यायें अनन्तगुणी हैं और भाविपर्यायों का काल भूतपर्यायों से अनन्तगुना है। कभी भी भविष्यकाल का अन्त नहीं होगा (श्वे० मत में विरुद्ध कथन है)।

कारणकज्जविसेसा, तिस्सु वि कालेसु होंति वत्थूणं।
एक्केक्कम्मि य समए, पुव्वुत्तरभावमासिज्ज॥२२३॥

वस्तु के परिणाम होते, पूर्व अरु उत्तर सभी।
हैं विशेष त्रिकाल कारण-कार्य, के वे प्रतिसमय॥२२३॥

अन्वयार्थ : [**वत्थूणं**] वस्तुओं के [**पुव्वुत्तरभावमासिज्ज**] पूर्व और उत्तरपरिणाम को पाकर [**तिस्सु वि कालेसु**] तीनों ही कालों में [**एक्केक्कम्मि य समए**] एक-एक समय में [**कारणकज्जविसेसा**] कारण-कार्य के विशेष [**होंति**] होते हैं।

भावार्थ : वर्तमान समय में जो पर्याय है, सो पूर्व समयसहित वस्तु का कार्य है। ऐसे ही सब पर्यायें जानना चाहिए। ऐसे समय-समय कार्य-कारणभावरूप है।

अब, वस्तु है, वह अनन्त धर्मस्वरूप है, ऐसा निर्णय करते हैं —

संति अणंताणंता, तीसु वि कालेसु सव्वदव्वाणि।
सव्वं पि अणेयंतं, तत्तो भणिदं जिणेंदेहि॥२२४॥

सब द्रव्य की पर्याय, तीनों काल नन्तानन्त हैं।
इसलिए जिनदेव सबको, अनेकान्तमयी कहें॥२२४॥

अन्वयार्थ : [**सव्वदव्वाणि**] सब द्रव्य [**तीसु वि कालेसु**] तीनों ही कालों में [**अणंताणंता**] अनन्तानन्त [**संति**] हैं, अनन्त पर्यायों सहित हैं, [**तत्तो**] इसलिए [**जिणेंदेहि**] जिनेन्द्रदेव ने [**सव्वं पि अणेयंतं**] सब ही वस्तुओं को अनेकान्त अर्थात् अनन्त धर्मस्वरूप [**भणिदं**] कहा है।

अब, कहते हैं कि जो अनेकान्तात्मक वस्तु है, वह अर्थक्रियाकारी है —

जं वत्थु अणेयंतं, तं चिय कज्जं करेदि णियमेण।
बहुधम्मजुदं अत्थं, कज्जकरं दीसदे लोए॥२२५॥

कार्य करती है नियम से, वस्तु अन् एकान्तमय।
बहु धर्ममय ही अर्थ दिखता, कार्यकारी लोक में॥२२५॥

अन्वयार्थ : [**जं वत्थु अणेयंतं**] जो वस्तु अनेकान्त है - अनेक धर्मस्वरूप है,

[**तं चिय**] वही [**णियमेण**] नियम से [**कज्जं करेदि**] कार्य करती है। [**लोए**] लोक में [**बहुधम्मजुदं अत्थं**] बहुत धर्मों से युक्त पदार्थ ही [**कज्जकरं दीसदे**] कार्य करनेवाले देखे जाते हैं।

भावार्थ : लोक में नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भेद-अभेद इत्यादि अनेक धर्मयुक्त वस्तुएँ हैं, वे कार्यकारिणी दिखाई देती है; जैसे, मिट्टी के घड़े आदि अनेक कार्य बनते हैं, सो सर्वथा मिट्टी एकरूप, नित्यरूप तथा अनेक अनित्यरूप ही होवे तो घड़े आदि कार्य बनते नहीं है, ऐसे ही सब वस्तुओं को जानना चाहिए।

अब, सर्वथा एकान्त वस्तु के कार्यकारीपना नहीं है — ऐसा कहते है —

एयंतं पुणु दव्वं, कज्जं ण करदि लेसमेत्तं पि।
ज पुणु ण करदि कज्जं, तं वुच्चदि केरिसं दव्वं॥२२६॥

एकान्तरूपी द्रव्य किञ्चित्, भी करे नहिं कार्य को।
जो कार्य भी करता नहीं, वह द्रव्य कैसा हो सके॥२२६॥

अन्वयार्थ : [**एयंतं पुणु दव्वं**] एकान्तस्वरूप द्रव्य [**लेसमेतं पि**] लेशमात्र भी [**कज्जं ण करदि**] कार्य को नहीं करता है [**जं पुणु ण करदि कज्जं**] और जो कार्य नहीं करता है, [**तं वुज्जदि केरिसं दव्वं**] वह कैसा द्रव्य है? वह करता है तो शून्यरूप है।

भावार्थ : जो अर्थक्रियास्वरूप होवे, वही परमार्थरूप वस्तु कही है और जो अर्थक्रियारूप नहीं है, वह तो आकाश के फूल के समान शून्यरूप है।

अब, सर्वथा नित्य एकान्त में अर्थक्रियाकारीपने का अभाव दिखाते हैं —

परिणामेण विहीणं, णिच्चं दव्वं विणस्सदे णेव।
णो उप्पज्जेदि य सया, एवं कज्जं कहं कुणदि॥२२७॥

परिणाम से जो रहित है, वह नित्य नष्ट न हो कभी।
उत्पन्न भी होता नहीं, तो कार्य को कैसे करे॥२२७॥

अन्वयार्थ : [**परिणामेण विहीणं**] परिणामरहित [**णिच्चं दव्वं णेव विणस्सदे**]

नित्य द्रव्य नष्ट नहीं होता है [**णो उप्पज्जेदि य**] और उत्पन्न भी नहीं होता है, [**कज्जं कहं कुणादि**] तब कार्य कैसे करता है ? [**एवं सया**] और यदि उत्पन्न व नष्ट होवे तो नित्यपना नहीं ठहरे। इस तरह जो कार्य नहीं करता है, वह द्रव्य नहीं है।

अब फिर, क्षणस्थायी के कार्य का अभाव दिखाते हैं —

पज्जयमित्तं तच्चं, विणस्सरं खणे खणे वि अण्णण्णं।
अण्णइदव्वविहीणं, ण य कज्जं किं पि साहेदि॥२२८॥

क्षणमात्र में जो नष्ट होता, अन्य क्षण में अन्य है।
अन्वयी द्रव्य विहीन है, वह कार्य को कैसे करे॥२२८॥

अन्वयार्थ : [**विणस्सरं**] जो क्षणस्थायी [**पज्जयमित्तं तच्चं**] पर्यायमात्र तत्त्व [**खणे खणे वि अण्णण्णं**] क्षण-क्षण में अन्य-अन्य होवे — ऐसा विनश्वर मानें तो [**अण्णइदव्वविहीणं**] अन्वयीद्रव्य से रहित होता हुआ [**किं पि कज्जं ण य साहेदि**] कुछ भी कार्य को सिद्ध नहीं करता है। क्षणस्थायी विनश्वर के कैसा कार्य ?

अब, अनेकान्तवस्तु के कार्यकारणभाव बनता है, यह दिखाते हैं —

णवणवकज्जविसेसा, तीसु वि कालेसु होंति वत्थूणं।
एक्केक्कम्मि य समये, पुव्वुत्तरभावमासिज्ज॥२२९॥

वस्तु में होते त्रिकाल, नवीन कार्य-विशेष हैं।
पूर्व उत्तर भाव को, पाकर हुए प्रति समय में॥२२९॥

अन्वयार्थ : [**वत्थूणं**] जीवादिक वस्तुओं के [**तीसु वि कालेसु**] तीनों ही कालों में [**एक्केक्कमि य समये**] एक-एक समय में [**पुव्वुत्तरभावमासिज्ज**] पूर्व-उत्तर परिणाम के आश्रय करके [**णवणवकज्जविसेसा**] नवीन-नवीन कार्य विशेष [**होंति**] होते हैं, नवीन-नवीन पर्यायें उत्पन्न होती हैं।

अब, पूर्वोत्तरभाव के कारणकार्यभाव को दृढ़ करते हैं —

पुव्वपरिणामजुत्तं, कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुदं, तं चिय कज्जं हवे णियमा॥२३०॥

पूर्व परिणामों सहित हो, द्रव्य कारण नियम से।
परिणाम उत्तर युक्त द्रव्य, कार्य जानो नियम से ॥२३०॥

अन्वयार्थ : [**पुव्वपरिणामजुत्तं**] पूर्व परिमणायुक्त [**दव्वं**] द्रव्य [**कारणभावेण वट्टदे**] कारणभाव से वर्तता है। [**तं चिय**] और वह द्रव्य [**उत्तरपरिणामजुदं**] उत्तर परिणामयुक्त होवे, तब [**कज्जं हवे**] कार्य होता है [**णियमा**] — ऐसा नियम है।

अब, जीवद्रव्य के भी वैसे ही अनादिनिधन कार्यकारणभाव सिद्ध करते हैं —

जीवो अणाइणिहणो, परिणयमाणो हु णवणवं भावं।
सामग्गीसु पवट्टदि, कज्जाणि समासदे पच्छा ॥२३१॥

जीव शाश्वत परिणमे, प्रति समय नूतन भाव में।
सामग्रियों में वर्तता, फिर प्राप्त होता कार्य को ॥२३१॥

अन्वयार्थ : [**जीवो अणाइणिहणो**] जीवद्रव्य अनादि-निधन है, [**णवणवं भावं परिणयमाणो हु**] वह नवीन-नवीन पर्यायरूप प्रगट परिणमता है; [**सामग्गीसु पवट्टदि**] वह ही पहिले द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की सामग्री में प्रवृत्त होता है [**पच्छा कज्जाणि समासदे**] और बाद में कार्यों को/पर्यायों को प्राप्त होता है।

भावार्थ : जैसे, कोई जीव पहिले शुभपरिणामरूप प्रवृत्ति करता है, तब स्वर्ग पाता है और पहिले अशुभपरिणामरूप प्रवृत्ति करता है, तब नरक आदि पर्याय पाता है — ऐसे जानना चाहिए।

अब, जीवद्रव्य अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में रहता हुआ ही अर्थात् अपने में ही नवीन पर्यायरूप कार्य को करता है—ऐसा कहते हैं—

ससरूवत्थो जीवो, कज्जं साहेदि वट्टमाणं पि।
खित्ते एकम्मि ठिदो, णियदव्वे संठिदो चेव ॥२३२॥

निज रूप में स्थित रहे, निज कार्य में ही वर्तता।
निज क्षेत्र में रहता हुआ, निज द्रव्य में स्थित रहे ॥२३२॥

अन्वयार्थ : [**जीवो**] जीवद्रव्य, [**ससरूवत्थो वट्टमाणं पि**] अपने चैतन्यस्वरूप

में स्थित होता हुआ [**खित्ते एकम्मि ठिदो**] अपने ही क्षेत्र में स्थित रहकर [**णियदव्वे संठिदो चेव**] अपने ही द्रव्य में रहता हुआ [**कज्जं साहेदि**] अपने परिणमनरूप समय में अपने पर्यायस्वरूप कार्य को सिद्ध करता है।

भावार्थ : [१]परमार्थ से विचार करें तो अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावस्वरूप होता हुआ जीव, पर्यायस्वरूप-कार्यरूप परिणमन करता है; परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव है, वे तो निमित्तमात्र है।

अब, यदि जीव, अन्यस्वरूप होकर कार्य करे तो उसमें दोष दिखाते हैं —

ससरूवत्थो जीवो, अण्णसरूवम्मि गच्छदे जदि हि।
अण्णोण्णमेलणादो, एक्क-सरूवं हवे सव्वं ॥२३३॥

निज रूप स्थित जीव यदि, पररूप में भी परिणमे।
सब द्रव्य एक स्वरूप होवें, परस्पर सम्मिलन से ॥२३३॥

अन्वयार्थ : [**जदि हि**] यदि [**जीवो**] जीव [**ससरूवत्थो**] अपने स्वरूप में रहता हुआ [**अण्णसरूवम्मि गच्छदे**] पर स्वरूप में जाए तो [२][**अण्णोण्णमेलणादो**] परस्पर मिलने से एकत्व हो जाने से [**सव्वं**] सब द्रव्य [**एक्कसरूवं हवे**] एक स्वरूप हो जाएँ, तब तो बड़ा दोष आवे परन्तु एक स्वरूप कभी भी नहीं होता है, यह प्रगट है।

अब, सर्वथा एक स्वरूप मानने में दोष दिखाते हैं —

अहवा बंभसरूवं, एक्कं सव्वं पि मण्णदे जदि हि।
चंडालबंभणाणं, तो ण विसेसो हवे को वि ॥२३४॥

यदि एक ब्रह्म स्वरूप ही, सब रूप — ऐसा मान लें।
चाण्डाल-ब्राह्मण में कभी कुछ, भेद फिर रहता नहीं ॥२३४॥

अन्वयार्थ : [**जदि हि अहवा बंभसरूवं एक्कं सव्वं पि मण्णदे**] यदि सर्वथा एक ही वस्तु मानकर ब्रह्मास्वरूपरूप सर्व माना जाए तो [**चंढालबंभाणाणं तो ण**

१. ऐसा अनेकान्त स्वरूप है अतः।
२. अर्थात् पर का कुछ कर सकता है ऐसा माना जाये तो।

विसेसो हवे कोवि] ब्राह्मण और चाण्डाल में कुछ भी विशेषता (भेद) न ठहरे।

भावार्थ : एक ब्रह्मस्वरूप सब जगत को माना जाए तो अनेकरूप न ठहरे। यदि अविद्या से अनेकरूप दिखाई देता हुआ माना जाए तो अविद्या उत्पन्न किससे हुई? यदि ब्रह्म से हुई तो उसमें भिन्न हुई या अभिन्न हुई? अथवा सत्रूप है या असत्रूप है? एकरूप है या अनेकरूप है? इस तरह विचार करने पर कहीं भी अन्त नहीं आता है; इसलिए वस्तु का स्वरूप अनेकान्त ही सिद्ध होता है और यह ही सत्यार्थ है।[१]

अब, अणुमात्र तत्त्व को मानने में दोष दिखाते हैं —

अणुपरिमाणं तच्चं, अंसविहीणं च मण्णदे जदि हि।
तो संबंधाभावो, तत्तो वि ण कज्जसंसिद्धि॥२३५॥

यदि वस्तु को अणु मात्र, अंश विहीन माना जाए तो।
अंश पूर्वोत्तर रहें सम्बन्ध बिन, नहिं कार्य हो॥२३५॥

अन्वयार्थ : [जदि हि अंसविहीणं अणुपरिमाणं तच्चं मण्णदे] यदि एक वस्तु सर्वगत व्यापक न मानी जाए और अंशरहित अणुपरिमाण तत्त्व माना जाए **[तो संबंधाभावो तत्तो वि ण कज्जसंसिद्धि]** तो दो अंश के तथा पूर्वोत्तर अंश के सम्बन्ध के अभाव से अणुमात्र वस्तु से कार्य की सिद्धि नहीं होती है।

भावार्थ : निरंश, क्षणिक, निरन्वयी वस्तु के अर्थक्रिया नहीं होती है, इसलिए सांश, नित्य, अन्वयी वस्तु कथञ्चित्त मानना योग्य है।

अब, द्रव्य के एकत्वपने का निश्चय करते हैं —

सव्वाणं दव्वाणं, दव्वसरूवेण होदि एयत्तं।
णियणियगुणभेएण हि, सव्वाणि वि होंति भिण्णाणि॥२३६॥

सब द्रव्य में एकत्व है, सामान्य द्रव्य स्वरूप से।
निज-निज गुणों के भेद से, भिन्न-भिन्न रहें सभी॥२३६॥

---

१. प्रत्येक वस्तु का स्वरूप अपने ही द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावस्वरूप से है-परस्वरूप से कभी भी नहीं है ऐसा सम्यक् अनेकान्त ही प्रत्येक वस्तु को बनोय रखता है।

अन्वयार्थ : [**सव्वाणं दव्वाणं दव्वसरूवेण एयत्तं होदि**] सब ही द्रव्यों के दव्यस्वरूप से तो एकत्व होता है [**णियणियगुणभेएण हि सव्वाणि वि भिण्णाणि होंति**] और अपने-अपने गुण के भेद से सब द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं।

भावार्थ : द्रव्य का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यास्वरूप सत् है। इस स्वरूप से तो सबके एकत्व है और अपने-अपने गुण, चेतनत्व-जड़त्व आदि भेदरूप हैं; इसलिए गुणों के भेद से सब द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं तथा एक द्रव्य की त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायें हैं, सो सब पर्यायों में द्रव्यस्वरूप से तो एकता ही है। जैसे, चेतन की पर्यायें सब ही चेतनस्वरूप हैं, पर्यायें अपने-अपने स्वरूप से भिन्न भी है, भिन्न कालवर्ती भी है, इसलिए भिन्न-भिन्न भी कहते हैं किन्तु उनके प्रदेशभेद तो कभी भी नहीं हैं, इसलिए एक ही द्रव्य की अनेक पर्यायें होती है; इसमें विरोध नहीं आता।

अब, द्रव्य के गुण-पर्यायस्वभावपना दिखाते है —

जो अत्थो पडिसमयं, उप्पादव्वयधुवत्तसब्भावो।
गुणपज्जयपरिणामो, सो सत्तो भण्णदे समये॥२३७॥

उत्पाद-व्यय अरु ध्रुवस्वभावी, प्रति समय सब द्रव्य हैं।
पर्याय-गुण-परिणाममय हैं, सत् कहें सिद्धान्त में॥२३७॥

अन्वयार्थ : [**जो अत्थो पडिसमयं उप्पादव्वयधुवत्तसब्भावो**] जो अर्थ अर्थात् वस्तु प्रति समय उत्पाद-व्यव-ध्रुवत्व के स्वभावरूप है, [**सो गुणपज्जयपरिणामो सत्तो समये भण्णदे**], सो गुणपर्यायपरिणामस्वरूप सत्व सिद्धान्त में कहते हैं।

भावार्थ : जो जीव आदि वस्तुएँ हैं, वे उत्पन्न होना, नष्ट होना और स्थिर रहना — इन तीनों भावमयी हैं और जो वस्तु गुणपर्यायपरिणामस्वरूप है, सो ही सत् है। जैसे, जीवद्रव्य का चेतनागुण है, उसका स्वभाव-विभावरूप परिणमन है; इसी तरह समय-समय परिणमे (बदले), सो पर्याय है। ऐसे ही पुद्गल के स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण गुण हैं, वे स्वभाव -विभवरूप प्रतिसमय परिणमते हैं, सो पर्यायें हैं। इस तरह से सब द्रव्य, गुणपर्यायपरिणामस्वरूप प्रगट हैं।

अब, द्रव्यों के व्यय-उत्पाद क्या हैं ? सो कहते हैं —

पडिसमयं परिणामो, पुव्वो णस्सेदि जायदे अण्णो।
वत्थुविणासो पढमो, उववादो भण्णदे विदिओ॥२३८॥

प्रति समय परिणाम पहिला, नष्ट हो फिर अन्य हो।
नष्ट होना पूर्व का व्यय, दूसरा उत्पाद है॥२३८॥

अन्वयार्थ : [**परिणामो**] जो वस्तु का परिणाम [**पडिसमयं**] प्रति समय [**पुव्वो णस्सेदि अण्णो जायदे**] पहिला तो नष्ट होता है और दूसरा उत्पन्न होता है, [**पढमो वत्थुविणासो**] सो पहिले परिणामस्वरूप वस्तु का तो नाश (व्यय) है [**विदिओ उववादो मण्णदे**] और दूसरा परिणाम जो उत्पन्न हुआ, उसको उत्पाद कहते हैं; इस प्रकार व्यय और उत्पाद होते हैं।

अब, द्रव्य के ध्रुवत्व का निश्चय कहते हैं —

णो उप्पज्जदि जीवो, दव्वसरूवेण णेय णस्सेदि।
तं चेव दव्वमित्तं, णिच्चत्तं जाण जीवस्स॥२३९॥

उत्पन्न हो नहिं जीव द्रव्य, स्वरूप से नहिं नष्ट हो।
इसलिए नित्यत्व जानो, जीव का द्रव्यत्व से॥२३९॥

अन्वयार्थ : [**जीवो दव्वसरूवेण णेय णस्सेदि णो उप्पज्जदि**] जीवद्रव्य, द्रव्यस्वरूप से न नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है; [**तं चेव दव्वमित्तं जीवस्स णिच्चत्तं जाण**] अत: द्रव्यमात्र से जीव के नित्यत्व जानना चाहिए।

भावार्थ : जीव, सत्ता और चेतना से उत्पन्न और नष्ट नहीं होता है, न तो नवीन जीव कोई उत्पन्न ही होता है और न नष्ट ही होता है, यह ही ध्रुवत्व कहलाता है।

अब, द्रव्यपर्याय का स्वरूप कहते हैं —

अण्णइरूवं दव्वं, विसेसरूवो हवेइ पज्जाओ।
दव्वं पि विसेसेण हि, उप्पज्जदि णस्सदे सददं॥२४०॥

द्रव्य अन्वयरूप से, पर्याय व्यतिरेकी कही।
पर्याय से उत्पन्न और, विनष्ट होता है सदा॥२४०॥

अन्वयार्थ : [**अण्णइरूवं दव्वं**] जीवादिक वस्तु, अन्वयरूप से द्रव्य हैं, [**विसेसरूवो पज्जाओ हवेइ**] वह ही विशेषरूप से पर्याय है [**विसेसेण हि दव्वं पि सददं उप्पज्जदि णस्सदे**] और विशेषरूप से द्रव्य भी निरन्तर उत्पन्न और नष्ट होता है।

भावार्थ : अन्वयरूप पर्यायों में नित्य सामान्यभाव को द्रव्य कहते हैं और जो अनित्य विशेषभाव हैं, वे पर्यायें हैं। सो विशेषरूप से द्रव्य भी उत्पादव्ययस्वरूप कहा जाता है किन्तु ऐसा नहीं कि पर्याय, द्रव्य से भिन्न ही उत्पन्न होता है; भेदविवक्षा से भिन्न भी कहा जाता है।

अब, गुण का स्वरूप कहते हैं —

सरिसो जो परिणामो, अणाइणिहणो हवे गुणो सो हि।
सो सामण्णसरूवो, उप्पज्जदि णस्सदे णेय॥२४१॥

द्रव्य का परिणाम जो, सदृश अनादि अनन्त है।
है गुण वही सामान्यतः, उत्पन्न — नष्ट न हो कभी॥२४१॥

अन्वयार्थ : [**जो परिणामो सरिसो अणाइणिहणो सो हि गुणो हवे**] जो द्रव्य का परिणाम सदृश अर्थात् पूर्व उत्तर सब पर्यायों में समान होता है, अनादिनिधन होता है, वही गुण है, [**सो सामण्णसरूवो उप्पज्जदि णस्सदे णेय**] वह सामान्यस्वरूप से उत्पन्न व नष्ट भी नहीं होता है।

भावार्थ : जैसे, जीव द्रव्य का चैतन्यगुण, सब पर्यायों में विद्यमान है, अनादिनिधन है, वह सामान्यस्वरूप से उत्पन्न व नष्ट नहीं होता है, विशेषरूप से पर्यायों में व्यक्तरूप होता ही है — ऐसा गुण है। इसी प्रकार अपने-अपने साधारण-असाधारणगुण सब द्रव्यों में जानना चाहिए।

अब कहते हैं कि गुणाभास विशेषस्वरूप से उत्पन्न व नष्ट होता है, गुणपर्यायों का एकत्व है, सो ही द्रव्य है —

सो वि विणस्सदि जायदि, विसेसरूवेण सव्वदव्वेसु।
दव्वगुणपज्जयाणं, एयत्तं वत्थु परमत्थं॥२४२॥

उत्पन्न और विनष्ट हों, गुण भी विशेष स्वरूप से।
यह द्रव्य-गुण-पर्याय का, एकत्व ही परमार्थ है॥२४२॥

अन्वयार्थ : [सो वि सव्वदव्वेसु विसेसरूवेण विणस्सदि जायदि] गुण भी द्रव्यों में विशेषरूप से उत्पन्न व नष्ट होता है, **[दव्वगुणपज्जयाणं एयत्तं]** इस तरह से द्रव्य-गुण-पर्यायों का एकत्व है, **[परमत्थं वत्थु]** वह ही परमार्थभूत वस्तु है।

भावार्थ : गुण का स्वरूप, वस्तु से भिन्न ही नहीं है, नित्यरूप सदा रहता है; गुण-गुणी के कथञ्चित् अभेदपना है; इसलिए जो पर्यायें उत्पन्न व नष्ट होती हैं, वे गुण-गुणी के विकार हैं; इसलिए गुण उत्पन्न होते हैं व नष्ट होते हैं — ऐसे भी कहा जाता है। इस तरह की नित्यानित्यात्मक वस्तु का स्वरूप है, ऐसे द्रव्य-गुण-पर्यायों की एकता ही परमार्थरूप वस्तु है।

अब, आशङ्का उत्पन्न होती है कि द्रव्यों में पर्यायें विद्यमान उत्पन्न होती हैं या अविद्यमान उत्पन्न होती हैं ? ऐसी आशङ्का को दूर करते हैं —

जदि दव्वे पज्जाया, वि विज्जमाणा तिरोहिदा संति।
ता उप्पत्ती विहला, पडिपिहिदे देवदत्तेव्व॥२४३॥

यदि विद्यमान ढ़की हुई, पर्याय हों सब द्रव्य में।
उत्पत्ति उनकी विफल है, ज्यों वस्त्र पहिने व्यक्ति में॥२४३॥

अन्वयार्थ : [जदि दव्वे पज्जाया] जो द्रव्यों में पर्यायें हैं, वे **[वि विज्जमाणा तिरोहिदा संति]** विद्यमान और तिरोहित/ढकी हुई हैं — ऐसा माना जाए **[ता उप्पत्ती विहला]** तो उत्पत्ति कहना विफल है, **[पडिपिहिदे देवदत्तेव्व]** जैसे, दैवदत्त कपड़े से ढ़का हुआ था, कपड़े को हटा देने पर यह कहा जाए कि यह उत्पन्न हुआ; इस तरह से उत्पत्ति कहना परमार्थ (सत्य) नहीं, विफल है। इसी तरह ढकी हुई द्रव्यपर्याय के प्रगट होने पर उसकी उत्पत्ति कहना परमार्थ नहीं है; इसलिए अविद्यमान पर्याय की ही उत्पत्ति कही जाती है।

सव्वाण पज्जयाणं, अविज्जमाणाण होदि उप्पत्ती।
कालाईलद्धीए, अणाइणिहणम्मि दव्वम्मि॥२४४॥

अनादि-अनिधन द्रव्य में, कालादि लब्धि से सभी।
पर्याय की उत्पत्ति हो, जो विद्यमान नहीं अभी॥२४४॥

अन्वयार्थ : [**अणाइणिहणाम्मि दव्वम्मि**] अनादिनिधन द्रव्यों में [**कालाई-लद्धीए**] कालादि लब्धि से [**सव्वाण**] सब [**अविज्जमाणाण**] अविद्यमान [**पज्जयाणं**] पर्यायों की [**उप्पत्ती**] होदि होती है।

भावार्थ : आनादिनिधन द्रव्य में काल आदि लब्धि से अविद्यमान पर्यायें उत्पन्न होती हैं; ऐसा नहीं है कि सब पर्यायें एक ही समय में विद्यमान हों और वे ढ़कती जाती हैं, समय-समय क्रम से नवीन-नवीन ही उत्पन्न होती हैं। द्रव्य त्रिकालवर्ती सब पर्यायों का समुदाय है, कालभेद से क्रम से पर्यायें होती हैं।

अब, द्रव्य और पर्यायों के कथञ्चित् भेद व कथञ्चित् अभेद दिखाते हैं —

दव्वाणपज्जयाणं, धम्मविवक्खाइ कीरए भेओ।
वत्थुसरूवेण पुणो, ण हि भेओ सक्कदे काउं॥२४५॥

है भेद धर्मों की अपेक्षा, द्रव्य अरु पर्याय में।
किन्तु वस्तु स्वरूप से नहिं, भेद कर सकते कभी॥२४५॥

अन्वयार्थ : [**दव्वाणपज्जयाणं**] द्रव्य और पर्यायों के [**धम्मविवक्खाइ**] धर्म-धर्मी की विवक्षा से [**भेओ कीरए**] भेद किया जाता है; [**वत्थुसरूवेण पुणो**] वस्तुस्वरूप से [**भेओ काउं ण हि सक्कदे**] भेद करने को समर्थ नहीं है।

भावार्थ : द्रव्य-पर्याय के धर्म-धर्मी की विवक्षा से भेद किया जाता है। द्रव्य, धर्मी है; पर्याय, धर्म है और वस्तु से अभेद ही हैं। कई नैयायिकादि, धर्म और धर्मी के सर्वथा भेद मानते हैं, उनका मत प्रमाण से बाधित है।

अब, द्रव्य और पर्याय के सर्वथा भेद मानते हैं, उनको दोष दिखाते हैं —

जदि वत्थुदो विभेदो, पज्जयदव्वाण मण्णसे मूढ़।
तो णिरवेक्खा सिद्धी, दोणहं पि य पावदे णियमा॥२४६॥

द्रव्य अरु पर्याय को, यदि भिन्न माने सर्वथा।
रे मूढ़! दोनों नियम से, निरपेक्ष वस्तु सिद्ध हो॥२४६॥

अन्वयार्थ : द्रव्य-पर्याय के भेद मानता है, उसको कहते हैं कि [**मूढ़**] हे मूढ़! [**जदि**] यदि तू [**पज्जयदव्वाण**] द्रव्य और पर्याय के [**वत्थुदो विभेदो**] वस्तु से भी भेद [**मण्णसे**] मानता है [**तो**] तो [**दोण्हं पि य**] द्रव्य और पर्याय दोनों के [**णिरवेक्खा सिद्धी**] निरपेक्ष सिद्धि [**णियमा**] नियम से [**पावदे**] प्राप्त होती है।

भावार्थ : द्रव्य और पर्याय, भिन्न-भिन्न वस्तुएँ सिद्ध होती हैं; धर्म-धर्मीपना सिद्ध नहीं होता है।

अब, जो विज्ञान को ही अद्वैत कहते हैं और बाह्य पदार्थ को नहीं मानते हैं, उनका दोष बताते हैं —

जदि सव्वमेव णाणं, णाणारूवेहि संठिदं एक्कं।
तो ण वि किं पि विणेयं, णेयेण विणा कहं णाणं ॥२४७॥

यदि ज्ञान ही सब वस्तुओं के, विविध रूपों में रहे।
तो ज्ञेय कुछ नहिं सिद्ध हो, बिन ज्ञेय ज्ञान नहीं रहे ॥२४७॥

अन्वयार्थ : [**जदि सव्वमेव एक्कं णाणं**] यदि सब वस्तुएँ, एक ज्ञान ही हैं, [**णाणारूवेहि संठिदं**] वह ही अनेक रूपों से स्थित है; [**तो ण वि किं पि विणेयं**] यदि ऐसा माना जाए तो ज्ञेय कुछ भी सिद्ध नहीं होता है [**णेयेण विणा कहं णाणं**] और ज्ञेय के बिना ज्ञान कैसे सिद्ध होवे?

भावार्थ : विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धमती कहते हैं कि ज्ञानमात्र ही तत्त्व है, वह ही अनेकरूप स्थित है। उसको कहते हैं कि यदि ज्ञानमात्र ही है तो ज्ञेय कुछ भी नहीं है और ज्ञेय नहीं है, तब ज्ञान कैसे कहा जावे? जो ज्ञेय को जानता है, वह ज्ञान कहलाता है। ज्ञेय के बिना ज्ञान नहीं होता है।

घड़पड़जड़दव्वाणि हि, णेयसरूवाणि सुप्पसिद्धाणि।
णाणं जाणेदि जदो, अप्पादो भिण्णरूवाणि ॥२४८॥

घट-पटादिक द्रव्य जड़, सब ज्ञेयरूप प्रसिद्ध हैं।
क्योंकि उनको ज्ञान जाने, ज्ञान से वे भिन्न हैं ॥२४८॥

अन्वयार्थ : [**घड़पड़जड़दव्वाणि हि**] घट पट आदि समस्त जड़द्रव्य [**णेयसरूवाणि सुप्पसिद्धाणि**] ज्ञेयस्वरूप से भले प्रकार प्रसिद्ध हैं [**जदो णाणं जाणेदि**] क्योंकि ज्ञान उनको जानता है, [**अप्पादो भिण्णरूवाणि**] इसलिए वे आत्मा से-ज्ञान से भिन्नरूप रहते हैं।

भावार्थ : ज्ञेयपदार्थ-जड़द्रव्य, भिन्न-भिन्न, आत्मा से भिन्नरूप प्रसिद्ध हैं। उनका लोप कैसे किया जाए? यदि न मानें तो ज्ञान भी सिद्ध नहीं होवे, जाने बिना ज्ञान किसका?

जं सव्वलोयसिद्धं, देहं गेहादिबाहिरं अत्थं।
जो तं पि णाण मण्णदि, ण मुणदि सो णाणणामं पि॥२४९॥

यदि सर्व लोक प्रसिद्ध तन घर, आदि बाह्य पदार्थ को।
तू ज्ञान ही माने न जाने, नाम भी तू ज्ञान का॥२४९॥

अन्वयार्थ : [**जं**] जो [**देहं गेहादिबाहिरं अत्थं**] देह, गेह आदि बाह्य पदार्थ [**सव्वलोयसिद्धं**] सर्व लोक प्रसिद्ध हैं, [**जो तं पि णाण मण्णदि**] उनको भी यदि ज्ञान ही माने तो [**सो णाणणामं पि**] वह वादी, ज्ञान का नाम भी [**ण मुणदि**] नहीं जानता है।

भावार्थ : बाह्य पदार्थ को भी ज्ञान ही माननेवाला, ज्ञान के स्वरूप को नहीं जानता है, सो तो दूर ही रहो, वह तो ज्ञान का नाम भी नहीं जानता है।

अब, नास्तित्त्ववादी के प्रति कहते हैं —

अच्छीहिं पिच्छमाणो, जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं।
जो भणदि णत्थि किंचि वि, सो भुट्ठाणं महाझुट्ठो॥२५०॥

प्रत्यक्ष दिखते हुए भी, जीवादि बाह्य पदार्थ की।
है नास्ति जिनकी जो कहे, सरदार झूठों का वही॥२५०॥

अन्वयार्थ : [**जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं**] नास्तिकवादी, जीव-अजीव आदि बहुत प्रकार के पदार्थों को [**अच्छीहिं पिच्चमाणो**] प्रत्यक्ष नेत्रों से देखता हुआ भी [**जो भणदि**] जो कहता है कि [**किंचि वि णत्थि**] कुछ भी नहीं है, [**सो झुट्ठाणं महाझुट्ठो**] वह असत्यवादियों में महा-असत्यवादी है।

भावार्थ : दीखती हुई वस्तु को भी नहीं बताता है, वह महा-झूठा है।

जं सव्वं पि य संतं, तासो वि असंतओ कहं होदि।
णत्थित्ति किंचि तत्तो, अहवा सुण्णं कहं मुणदि॥२५१॥

सब वस्तुएँ सत्‌रूप हैं, कैसे असत् वे हो सकें।
कुछ भी नहीं यदि जगत में तो, 'शून्य है' क्यों मानते॥२५१॥

अन्वयार्थ : [**जं सव्वं पि य संतं**] जो सब वस्तुएँ सत्‌रूप हैं — विद्यमान हैं, [**तासो वि असंतओं कहं होदि**] वे वस्तुएँ असत्‌रूप-अविद्यमान कैसे हो सकती हैं? [**णत्थित्ति किंचि तत्तो अहवा सुण्णं कहं मुणदि**] अथवा कुछ भी नहीं है, तो शून्य है —ऐसा भी किस प्रकार मान सकते हैं?

भावार्थ : विद्यमान वस्तु, अविद्यमान कैसे हो सकती है? तथा कुछ भी नहीं है (यदि ऐसा कहा जाए) तो ऐसा कहनेवाला/जाननेवाला भी सिद्ध नहीं होता है, तब शून्य है—ऐसा भी कौन जानेगा?

किं बहुणा उत्तेण य, जेत्तियमेत्ताणि संति णामाणि।
तित्तियमेत्ता अत्था, संति हि णियमेण परमत्था॥२५२॥

बहु कथन से क्या लाभ है, हैं नाम जितने जगत में।
हैं नियम से परमार्थ रूप, पदार्थ उतने जगत में॥२५२॥

अन्वयार्थ : [**किं बहुणा उत्तेण य**] बहुत कहने से क्या? [**जेत्तियमेत्ताणि णामाणि संति**] जितने नाम हैं, [**तित्तियमेत्ता**] उतने [**हि**] ही [**णियमेण**] नियम से [**अत्था**] पदार्थ [**परमत्था**] परमार्थरूप [**संति**] हैं।

भावार्थ : जितने नाम है, उतने ही सत्यार्थ पदार्थ हैं, बहुत करने से क्या? — ऐसे पदार्थों के स्वरूप का वर्णन किया।

अब, उन पदार्थों को जाननेवाला ज्ञान है, उसका स्वरूप कहते हैं —

णाणाधम्मेहिं जुदं, अप्पाणं तह परं पि णिच्छयदो।
जं जाणेदि सजोगं, तं णाणं भण्णदे समये॥२५३॥

विविध धर्मों सहित जो, निज को तथा परद्रव्य को।
निज योग्यता से जानता, वह ज्ञान है सिद्धान्त में॥२५३॥

अन्वयार्थ : [**जं**] जो [**णाणाधम्मेहिं जुदं अप्पाणं तह परं पि**] अनेक धर्मयुक्त आत्मा तथा परद्रव्यों को [**सजोगं जाणेदि**] अपनी योग्यता से जानता है, [**तं**] उसको [**णिच्छयदो**] निश्चय से [**समये**] सिद्धान्त में [**णाणं भण्णदे**] ज्ञान कहते हैं।

भावार्थ : जो आपको तथा पर को, अपने आवरण के क्षयोपशम तथा क्षय के अनुसार, जानने योग्य पदार्थ को जानता है, वह ज्ञान है। यह सामान्यज्ञान का स्वरूप कहा गया है।

अब, सकलप्रत्यक्ष केवलज्ञान का स्वरूप कहते हैं —

जं सव्वं पि पयासदि, दव्वपज्जायसंजुदं लोयं।
तह य अलोयं सव्वं, तं णाणं सव्वपच्चक्खं॥२५४॥

जो द्रव्य अरु पर्याय संयुत, लोक और अलोक को।
करता प्रकाशित ज्ञान, सकल प्रत्यक्ष जिन कहते अहो॥२५४॥

अन्वयार्थ : [**जं**] जो ज्ञान, [**दव्वपज्जायसंजुदं**] द्रव्यपर्यायसंयुक्त [**सव्वं पि**] सब ही [**लोयं**] लोक को [**तह य सव्वं अलोयं**] तथा सब अलोक को [**पयासदि**] प्रकाशित करता है/जानता है, [**तं सव्वपच्चक्खं णाणं**] वह सर्व प्रत्यक्ष केवलज्ञान है।

अब, ज्ञान को सर्वगत कहते हैं —

सव्वं जाणदि जम्हा, सव्वगयं तं पि वुच्चदे तम्हा।
ण य पुण विसरदि णाणं, जीवं चइऊण आण्णत्थ॥२५५॥

सर्वगत है ज्ञान क्योंकि, सर्व को जाने अहो।
जाता न ज्ञेय पदार्थ में, छोड़े नहीं निज आत्म को॥२५५॥

अन्वयार्थ : [**जम्हा सव्वं जाणदि**] क्योंकि ज्ञान, सब लोकालोक को जानता है, [**तम्हा तं पि सव्वगयं वुच्चदे**] इसलिए ज्ञान को सर्वगत भी कहते हैं [**पुण**] और [**णाणं जीवं चइऊण अण्णत्थ**] ज्ञान, जीव को छोड़कर अन्य ज्ञेयपदार्थों में [**ण य विसरदि**] नहीं जाता है।

भावार्थ : ज्ञान, सब लोकालोक को जानता है, इस अपेक्षा ज्ञान सर्वगत तथा सर्वव्यापक कहलाता है परन्तु ज्ञान तो जीवद्रव्य का गुण है; इसलिए जीव को छोड़कर अन्य पदार्थों में नहीं जाता है।

अब, ज्ञान, जीव के प्रदेशों में रहता हुआ ही सबको जानता है — ऐसा कहते हैं —

णाणं ण जादि णेयं, णेयं पि ण जादि णाणदेसम्मि।
णियणियदेसठियाणं, ववहारो णाणणेयाणं ॥२५६॥

जाता न ज्ञान पदार्थ में, नहिं ज्ञेय आते ज्ञान में।
निज-निज प्रदेशों में रहें, व्यवहार ज्ञायक-ज्ञेय का ॥२५६॥

अन्वयार्थ : [**णाणं णेयं ण जादि**] ज्ञान, ज्ञेय में नहीं जाता है [**णेयं पि णाणदेसम्मि ण जादि**] और ज्ञेय भी ज्ञान के प्रदेशों में नहीं जाता है। [**णियणियदेसठियाणं**] अपने-अपने प्रदेशों में रहते हैं [**ववहारो णाण णाणणेयाणं**] तो भी ज्ञान और ज्ञेय के ज्ञेय-ज्ञायक व्यवहार है।

भावार्थ : जैसे, दर्पण अपने स्थान पर है, घटादिक वस्तुएँ अपने स्थान पर हैं तो भी दर्पण की स्वच्छता ऐसी है, मानों कि दर्पण में घट आकर ही बैठा है — ऐसे ही ज्ञान-ज्ञेय का व्यवहार जानना चाहिए।

अब, मन:पर्यायज्ञान, अवधिज्ञान, तथा मति और श्रुतज्ञान की सामर्थ्य कहते हैं —

मणपज्जयविण्णाणं, ओहीणाणं च देसपच्चक्खं।
मइसुयणाणं कमसो, विसदपरोक्खं परोक्खं च ॥२५७॥

मन:पर्ययज्ञान अवधिज्ञान, देश प्रत्यक्ष हैं।
क्रमशः मतिश्रुतज्ञान विशद, परोक्ष और परोक्ष हैं ॥२५७॥

अन्वयार्थ : [**मणपज्जयविण्णाणं ओहीणाणं च देसपच्चक्खं**] मन:पर्ययज्ञान और अवधिज्ञान — ये दोनों तो देशप्रत्यक्ष है, [**मइसुयणाणं कमसो विसदपरोक्खं परोक्खं च**] मतिज्ञान और श्रुतज्ञान क्रम से प्रत्यक्षपरोक्ष और परोक्ष हैं।

भावार्थ : मन:पर्ययज्ञान, अवधिज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष हैं क्योंकि जितना इनका

विषय है, उतना विशद (स्पष्ट) जानते हैं, सबको नहीं जानते हैं; इसलिए एकदेश कहलाते हैं। मतिज्ञान, इन्द्रिय व मन से उत्पन्न होता है, इसलिए व्यवहार से (इन्द्रियों के सम्बन्ध से) विशद भी कहा जाता है, इस कारण से प्रत्यक्ष भी है; परमार्थ से (निश्चय से) परोक्ष ही है। श्रुतज्ञान परोक्ष ही है क्योंकि यह विशद (स्पष्ट) नहीं जानता है।

अब, इन्द्रियज्ञान, योग्य विषय को जानता है — ऐसा कहते हैं —

इन्दियजं मदिणाणं, जोग्गं जाणेदि पुग्गलं दव्वं।
माणसणाणं च पुणो, सुयविसयं अक्खविसयं च ॥२५८॥

मतिज्ञान इन्द्रियजनित जाने, योग्य पुद्‌गल द्रव्य को।
अरु ज्ञान-मानस जानता श्रुत विषय, इन्द्रिय विषय को ॥२५८॥

अन्वयार्थ : [**इंदियजं मदिणाणं**] इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ मतिज्ञान, [**जोग्गं पुग्गलं दव्वं जाणेदि**] अपना योग्य विषय जो पुद्‌गलद्रव्य, उसको जानता है। जिस इन्द्रिय का जैसा विषय है, वैसा ही जानता है। [**माणसणाणं च पुणो**] और मनसम्बन्धी ज्ञान [**सुयविसयं अक्खविसयं च**] श्रुतविषय (शास्त्र का वचन सुनकर, उसके अर्थ को जानता है) और इन्द्रियों से जानने योग्य विषय को भी जानता है।

अब, इन्द्रियज्ञान के उपयोग की प्रवृत्ति अनुक्रम से है — ऐसा कहते है —

पंचेदियणाणाणं, मज्झे एगं च होदि उवजुत्तं।
मणणाणे उवजुत्ते, इंदियणाणं ण जाणेदि ॥२५९॥

पञ्चेन्द्रियों से ज्ञान हो, एकेन्द्रि से इक काल में।
मन ज्ञान का उपयोग हो, तब इन्द्रियों से हो नहीं ॥२५९॥

अन्वयार्थ : [**पंचेदियणाणाणं मज्झे एगं च उवजुत्तं होदि**] पाँचो ही इन्द्रियों से ज्ञान होता है लेकिन एक काल एकेन्द्रिय द्वार से ज्ञान उपयुक्त होता है। पाँचों ही एक काल उपयुक्त नहीं होते हैं। [**मणणाणे उवजुत्ते**] और जब मन, ज्ञान से उपयुक्त हो, [**इंदियणाणं ण जाणेदि**] तब इन्द्रियज्ञान उत्पन्न नहीं होता है।

भावार्थ : इन्द्रिय, मन सम्बन्धी ज्ञानों की प्रवृत्ति युगपत् (एकसाथ) नहीं होती है,

एक समय में एक से ही ज्ञान उपयुक्त होता है। जब यह जीव, घट को जानता है, उस समय पट (वस्त्र) को नहीं जानता है, इस तरह (इन्द्रियज्ञान) ज्ञान क्रमपूर्वक है।

पूर्व में इन्द्रिय-मन सम्बन्धी ज्ञान की प्रवृत्ति कही है, यहाँ आशङ्का उत्पन्न होती है कि इन्द्रियों का ज्ञान एक काल है या नहीं? इस आशङ्का को दूर करने को कहते है —

एक्के काले एगं, णाणं जीवस्स, होदि उवजुत्तं।
णाणाणाणाणि पुणो, लद्धि-सहावेण वुच्चंति॥२६०॥

इक काल में इक ज्ञान ही, उपयुक्त होता जीव का।
किन्तु लब्धि स्वभाव से, बहुज्ञान हों इक काल में॥२६०॥

अन्वयार्थ : [जीवस्स एक्के काले एगं णाणं उवजत्तं होदि] जीव के एक काल में एक ही ज्ञान उपयुक्त अर्थात् उपयोग की वृत्तिरूप होता है **[पुणो लद्धि-सहावेण णाणाणाणाणि वुच्चंति]** और लब्धिस्वभाव से एक काल में अनेक ज्ञान कहे गये है।

भावार्थ - भावेन्द्रिय दो प्रकार की कही गई है, १. लब्धिरूप, २. उपयोगरूप। ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से आत्मा के जानने की शक्ति होती है, वह लब्धि कहलाती है; वह तो पाँच इन्द्रिय और मन द्वारा जानने की शक्ति एक काल ही रहती है और उनकी व्यक्तिरूप उपयोग की प्रवृत्ति ज्ञेय से उपयुक्त होती है, तब एक काल एक ही से होती है — ऐसी ही क्षयोपशम की योग्यता है।

अब, वस्तु के अनेकात्मता है तो भी अपेक्षा से एकात्मता भी है, ऐसा दिखाते हैं —

जं वत्थु अणयंतं, एयंतं तं पि होदि सविपेक्खं।
सुयणाणेण णयेहि य, णिरवेक्खं दीसदे णेव॥२६१॥

अनेकान्त पदार्थ भी, सापेक्ष से एकान्त है।
श्रुतज्ञान से नयरूप है, निरपेक्ष नय होता नहीं॥२६१॥

अन्वयार्थ : [जं वत्थु अणेयंतं] जो वस्तु अनेकान्त है, **[तं सविपेक्खं एयंतं पि होदि]** वह अपेक्षासहित एकान्त भी है। **[सुयणाणेण णयेहि य णिरवेक्खं दीसदे णेव]** श्रुतज्ञान प्रमाण से सिद्ध किया जाए तो अनेकान्त ही है और श्रुतज्ञान प्रमाण के अंश

नयों से सिद्ध किया जाए तब एकान्त भी है। वह अपेक्षारहित नहीं है क्योंकि निरपेक्षनय मिथ्या हैं, निरपेक्षा से वस्तु का रूप नहीं देखा जाता है।

भावार्थ : प्रमाण तो वस्तु के सब धर्मों को एक काल सिद्ध करता है और नय, एक-एक धर्म ही को ग्रहण करते हैं; इसलिए एक नय के दूसरे नय की सापेक्षा होवे तो वस्तु सिद्ध होती है और अपेक्षारहित नय वस्तु को सिद्ध नहीं करता है; इसलिए अपेक्षा से वस्तु अनेकान्त भी है — ऐसा जानना ही सम्यग्ज्ञान है।

अब, श्रुतज्ञान परोक्षरूप से सबको प्रकाशित करता है, यह कहते हैं —

सव्वं पि अणेयंतं, परोक्खरूवेण जं पयासेदि।
तं सुयणाणं भण्णदि, संसयपहुदीहि परिचित्तं ॥२६२॥

अनेकान्त स्वरूप सबको, जानता अप्रत्यक्ष से।
संशय विपर्यय मोह बिन, श्रुतज्ञान कहते हैं उसे॥२६२॥

अन्वयार्थ : [जं सव्वं पि अणेयंतं परोक्खरूवेण पयासेदि] जो ज्ञान सब वस्तुओं को अनेकान्त, परोक्षरूप से प्रकाशित करता है - जानता है - कहता है और जो **[संसयपहुदीहि परिचित्तं]** संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय से रहित है, **[तं सुयणाणं भण्णदि]** उसको श्रुतज्ञान कहते हैं — ऐसा सिद्धान्त में कथन है।

भावार्थ : जो सब वस्तुओं को परोक्षरूप से 'अनेकान्त' प्रकाशित करता है, वह श्रुतज्ञान है। शास्त्र के वचन को सुनकर अर्थ को जानता है, वह परोक्ष ही जानता है और शास्त्र में सब ही वस्तुओं का स्वरूप अनेकान्तात्मकरूप कहा गया है, सो सब ही वस्तुओं को जानता है तथा गुरुओं के उपदेशपूर्वक जानता है, तब संशयादिक भी नहीं रहते हैं।

अब, श्रुतज्ञान के विकल्प अर्थात् भेद, वे नय हैं, उनका स्वरूप कहते हैं —

लोयाणं ववहारं, धम्मविवक्खाइ जो पसाहेदि।
सुयणाणस्स वियप्पो, सो वि णओ लिंगसंभूदो॥२६३॥

विवक्षा से धर्म की, साधे जगत — व्यवहार को।
श्रुतज्ञान का वह भेद नय है, हेतु से उत्पन्न हो॥२६३॥

अन्वयार्थ : [**जो लोयाणं ववहारं**] जो लोकव्यवहार को [**धम्मविवक्खाई पसाहेदि**] वस्तु के एक धर्म की विवक्षा से सिद्ध करता है, [**सुयणाणस्स वियप्पो**] श्रुतज्ञान का विकल्प है, [**लिंगसंभूदो**] लिङ्ग से उत्पन्न हुआ है, [**सो वि णओ**] वह नय है।

भावार्थ : वस्तु के एक धर्म की विवक्षा लेकर लोकव्यवहार को साधता है, वह श्रुतज्ञान का अंश नय है। वह साध्यधर्म को हेतु से सिद्ध करता है, जैसे वस्तु के सत्धर्म को ग्रहणकर इसको हेतु से सिद्ध करता है कि 'अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से वस्तु सत्रूप है' — ऐसे नय, हेतु से उत्पन्न होता है।

अब, एक धर्म को नय कैसे ग्रहण करता है, सो कहते हैं —

णाणाधम्मजुदं पि य, एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं।
तस्सेयविविक्खादो, णत्थि विवक्खा हु सेसाणं॥२६४॥

बहु धर्म युक्त पदार्थ है, पर एक धर्ममयी कहे।
उसकी विवक्षा में नहीं, होती विवक्षा अन्य की॥२६४॥

अन्वयार्थ : [**णाणाधम्मजुदं पि य एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं**] अनेक धर्मों से युक्त पदार्थ हैं तो भी एक धर्मरूप पदार्थ को कहता है, [**तस्सेयविवक्खादो हु सेसाणं विवक्खा णत्थि**] क्योंकि जहाँ एक धर्मकी विवक्षा करते हैं, वहाँ उस ही धर्म को कहते है, अवशेष (बाकी) सब धर्मों की विवक्षा नहीं करते हैं।

भावार्थ : जैसे जीववस्तु में अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व, चेतनत्व, अमूर्तत्त्व आदि अनेक धर्म हैं, उनमें एक धर्म की विवक्षा से कहता है कि जीव चेतनस्वरूप ही है इत्यादि, वहाँ अन्य धर्म की विवक्षा नहीं करता है; इसलिए ऐसा नहीं जानना कि अन्य धर्मों का अभाव है किन्तु प्रयोजन के आश्रय से एक धर्म को मुख्य करके कहता है; अत: विवक्षित को मुख्य कहा है, अन्य की विवक्षा नहीं है।

अब, वस्तु के धर्म को, उसके वाचक शब्द को और उसके ज्ञान को नय कहते हैं —

सो चिय इक्को धम्मो, वाचयसद्दो वि तस्स धम्मस्स।
तं जाणदि तं णाणं, ते तिण्णि वि णयविसेसा य॥२६५॥

वस्तु का इक धर्म एवं, शब्द जो उसको कहे।
अरु ज्ञान जो जाने उन्हें, ये तीन नय के भेद हैं॥२६५॥

अन्वयार्थ : [**सो चिय इक्को धम्मो**] जो वस्तु का एक धर्म, [**तस्स धम्मस्स वाचयसद्दो वि**] उस धर्म का वाचक शब्द [**तं जाणदि तं णाणं**] और उस धर्म को जाननेवाला ज्ञान, [**ते तिण्णि वि णयविसेसा य**] ये तीनों ही नय के विशेष हैं।

भावार्थ : वस्तु का ग्राहक ज्ञान, उसका वाचक शब्द और वस्तु, इनको जैसे प्रमाणवस्तु कहते हैं, वैसे ही नय भी कहते हैं।

अब पूछते हैं कि वस्तु का एक धर्म ही ग्रहण करता है — ऐसा जो एक नय, उसको मिथ्यात्व कैसे कहा है, उसका उत्तर कहते हैं —

ते सावेक्खा सुणया, णिरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति।
सयलववहारसिद्धी, सुणयादो होदि णियमेण॥२६६॥

सापेक्ष नय ही सुनय हैं, निरपेक्ष नय दुर्नय कहे।
सुनय से ही नियम से, व्यवहार सिद्धि सभी कही॥२६६॥

अन्वयार्थ : [**ते सावेक्ख सुणया**] वे पहले कहे हुए तीन प्रकार के नय, परस्पर में अपेक्षासहित होते हैं, तब तो सुनय हैं [**णिरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति**] और वे ही जब अपेक्षारहित सर्वथा एक-एक ग्रहण किये जाते हैं, तब दुर्नय हैं [**सुणयादो सयलववहारसिद्धी णियमेण होदि**] और सुनयों से सर्व व्यवहार वस्तु के स्वरूप की सिद्धि नियम से होती है।

भावार्थ : नय सब ही, सापेक्ष तो सुनय और निरपेक्ष कुनय हैं। सापेक्ष से सर्व वस्तु व्यवहार की सिद्धि है, सम्यग्ज्ञानस्वरूप है और कुनयों से सर्व लोक व्यवहार का लोप होता है, मिथ्याज्ञानरूप है।

अब, परोक्षज्ञान में अनुमानप्रमाण भी है, उसका उदाहरणपूर्वक स्वरूप कहते हैं—

जं जाणिज्जइ जीवो, इन्दियवावारकायचिट्ठाहिं।
तं अणुमाणं भण्णदि, तं पि णयं बहुविहं जाण॥२६७॥

व्यापार इन्द्रिय का तथा, तन चेष्टा से जीव का।
जो ज्ञान वह अनुमान बहुविध, उसे भी नय जानना॥२६७॥

अन्वयार्थ : [**जं इंदियवावारकायचिट्ठाहिं जीवो जाणिज्जइ**] जो इन्द्रियों के व्यापार और काय की चेष्टाओं से शरीर में जीव को जानते हैं, [**तं अणुमाणं भण्णदि**] उसको अनुमानप्रमाण कहते हैं।[**तं पि णयं बहुविहं जाण**] वह अनुमानज्ञान भी नय है और अनेक प्रकार का है।

भावार्थ : पहले श्रुतज्ञान के विकल्प, नय कहे थे, यहाँ अनुमान का स्वरूप कहा कि शरीर में रहता हुआ जीव, प्रत्यक्ष ग्रहण में नही आता है, इसलिए इन्द्रियों का व्यापार-स्पर्श करना, स्वाद लेना, बोलना, सूँघना, सुनना, देखना, चेष्टा तथा गमन आदिक चिह्नों से जाना जाता है कि शरीर में जीव है, सो यह अनुमान है क्योंकि साधन से साध्य का ज्ञान होता है, वह अनुमान कहलाता है। यह भी नय ही है। परोक्ष-प्रमाण के भेदों में कहा है, सो परमार्थ से नय ही है। वह स्वार्थ तथा परार्थ के भेद से और हेतु तथा चिह्नों के भेद से अनेक प्रकार का कहा गया है।

अब, नय के भेदों को कहते हैं —

सो संगहेण एक्को, दुविहो वि य दव्वपज्जएहिंतो।
तेसिं च विसेसादो, णइगमपहुदी हवे णाणं॥२६८॥

सामान्य से नय एक हैं, दो द्रव्य-पर्यायार्थिक।
इनके अनेक विशेष नैगम, आदि नय सब ज्ञान हैं॥२६८॥

अन्वयार्थ : [**सो संगहेण एक्को**] वह नय संग्रह करके कहिये तो (सामान्यतया) एक है [**य दव्वपज्जएहिंतो दुविहो वि**] और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक के भेद से दो प्रकार का है [**तेसिं च विसेसादो णइगमपहुदी णाणं हवे**] और विशेषकर उन दोनों की विशेषता से नैगमनय को आदि देकर हैं, सो नय हैं और वे ज्ञान ही हैं।

अब, द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय का स्वरूप कहते हैं —

जो साहदि सामण्णं, अविणाभूदं विसेसरूवेहिं।
णाणाजुत्तिबलादो, दव्वत्थो, सो णओ होदि॥२६९॥
जो साहेदि विसेसे, बहुविह-सामण्ण संजुदे सव्वे।
साहणलिंगवसादो, पज्जयविसयो णओ होदि॥२७०॥

साधता सामान्य, अविनाभूतरूप विशेष का।
बहुभाँति युक्ति द्वार से, द्रव्यार्थिक नय जानना॥२६९॥
बहुभाँतिमय सामान्य सहित, विशेष को जो जानता।
लिङ्ग द्वारा साधना, पर्याय — अर्थी नय कहा॥२७०॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो नय वस्तु को [**विसेसरूवेहिं**] विशेषरूप से [**अविणाभूदं**] अविनाभूत [**सामण्णं**] सामान्यस्वरूप को [**णाणाजुत्तिबलादो**] अनेक प्रकार की युक्ति के बल से [**साहदि**] सिद्ध करता है, [**सो दव्वत्थो णओ होदि**] वह द्रव्यार्थिकनय है।

[**जो**] जो नय [**बहुविहसामण्ण संजुदे सव्वे विसेसे**] अनेक प्रकार सामान्यसहित सर्व विशेष को, [**साहणलिंगवसादो साहेदि**] उनके साधन के लिङ्ग के वश से सिद्ध करता है, [**पज्जयविसयो णओ होदि**] वह पर्यायार्थिकनय है।

भावार्थ : वस्तु का स्वरूप, सामान्य-विशेषात्मक है। विशेष के बिना सामान्य नहीं होता; इस प्रकार युक्ति के बल से सामान्य को साधनेवाला, द्रव्यार्थिकनय है।

जो सामान्यसहित विशेषों को हेतु से सिद्ध करता है, वह पर्यायार्थिकनय है; जैसे, सत् सामान्यसहित चेतन-अचेतनत्व विशेष है, चित् सामान्य से संसारी-सिद्ध जीवत्व विशेष है, संसारीत्व सामान्यसहित त्रस-स्थावर जीवत्व विशेष है, इत्यादि। अचेतन सामान्यसहित पुद्गल आदि पाँच द्रव्य, विशेष हैं। पुद्गल सामान्यसहित अणु-स्कन्ध, घट-पट आदि विशेष हैं — इत्यादि पर्यायार्थिकनय हेतु से सिद्ध करता है।

अब, द्रव्यार्थिकनय के भेदों को कहेंगे। उनमें पहिले नैगमनय का स्वरूप कहते हैं —

जो साहेदि अदीदं, वियप्परूवं भविस्समट्ठं च।
संपडिकालाविट्ठं सो हु णओ णेगमो णेयो॥२७१॥

जो साधता है भूत-भावी, और सम्प्रतिकाल को।
सङ्कल्पग्राही मात्र नैगम नय, उसे तुम जान लो॥२७१॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो नय [**अदीदं**] अतीत [**भविस्समट्ठं च**] भविष्यत [**संपडिकालाविट्ठं**] तथा वर्तमान को [**वियप्परूवं साहेदि**] सङ्कल्पमात्र सिद्ध करता है, [**सो हु णआ णेगमो णेयो**] वह नैगमनय है।

भावार्थ : द्रव्य, तीन काल की पर्यायों से अन्वयरूप है, उसको अपना विषयकर अतीतकाल पर्याय को भी वर्तमानवत् सङ्कल्प में ले; आगामी पर्याय को भी वर्तमानवत् सङ्कल्प में लें; वर्तमान में निष्पन्न को तथा अनिष्पन्न को निष्पन्नरूप सङ्कल्प में लें, ऐसे ज्ञान तथा वचन को नैगमनय कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं।

सब नयों के विषयों को मुख्य-गौण कर अपना सङ्कल्परूप विषय करता है। उदाहरण - जैसे, इस मनुष्य नामक जीवद्रव्य के संसारपर्याय है, सिद्धपर्याय है, और यह मनुष्यपर्याय है, ऐसा कहें तो संसार अतीत, अनागत, वर्तमान तीन काल सम्बन्धी भी है, सिद्धत्व अनागत ही है, मनुष्यत्व वर्तमान ही है परन्तु इस नय के अभिप्राय में विद्यमान सङ्कल्प करके परोक्ष अनुभव में लेकर कहते हैं कि इस द्रव्य में मेरे ज्ञान में अभी यह पर्याय भासती है — ऐसे सङ्कल्प को नैगमनय का विषय कहते हैं। इनमें से मुख्य-गौण किसी को कहते हैं।

अब, संग्रहनय का स्वरूप कहते हैं —

जो संगहेदि सव्वं, देसं वा विविहदव्वपज्जायं।
अणुगमलिंगविसिट्ठं, सो वि णयो संगहो होदि॥२७२॥

संग्रह करे जो द्रव्य पर्यायों, सहित सब भेद का।
विशिष्ट अन्वय लिङ्ग से जो, उसे संग्रहनय कहा॥२७२॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो नय, [**सव्वं**] सब वस्तुओं को [**वा**] तथा [**देसं**] देश

अर्थात् एक वस्तु के भेदों को [**विविहदव्वपज्जायं**] अनेक प्रकार द्रव्यपर्यायसहित [**अणुगमलिंगविसिट्ठं**] अन्वय लिङ्ग से विशिष्ट [**संगहेदि**] संग्रह करता है — एक स्वरूप कहता है, [**सो वि णयो संगहो होदि**] वह संग्रहनय है।

भावार्थ : सब वस्तुएँ, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यलक्षण सत् के द्वारा द्रव्य-पर्यायों से अन्वयरूप एक सत्मात्र हैं। सामान्य सत्स्वरूप द्रव्यमात्र है, विशेष सत्रूप पर्यायमात्र है; जीववस्तु (द्रव्य) चित् सामान्य से एक है, सिद्धत्व सामान्य से सब सिद्ध एक हैं, संसारित्त्व सामान्य से सब संसारी जीव एक हैं, इत्यादि। अजीव सामान्य से पुद्गलादि पाँच द्रव्य एक अजीव द्रव्य हैं, पुद्गलत्व सामान्य से अणु-स्कन्ध-घटपटादि एक द्रव्य हैं इत्यादि संग्रहरूप कहता है, वह संग्रहनय है।

अब, व्यवहारनय का स्वरूप कहते हैं —

जो संगहेण गहिदं, विसेसरहिदं पि भेददे सददं।
परमाणूपज्जंतं, ववहारणओ हवे सो हु॥२७३॥

संग्रह ग्रहीत विशेष विरहित, वस्तु को जो नय सदा।
है भेदता परमाणु तक, व्यवहारनय वह जानना॥२७३॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जिस नय ने [**संगहेण**] संग्रहनय से [**विसेसरहिदं पि**] विशेषरहित वस्तु को [**गहिदं**] ग्रहण किया था, उसको [**परमाणूपज्जंतं**] परमाणु पर्यन्त [**सददं**] निरन्तर [**भेददे**] भेदता है, [**सो हु ववहारणओ हवे**] वह व्यवहारनय है।

भावार्थ : संग्रहनय, सर्व सत् सबको कहा है, वहाँ व्यवहार भेद करता है, सो सत्द्रव्यपर्याय है। संग्रहनय, द्रव्यसामान्य को ग्रहण करे, उसमें व्यवहारनय भेद करता है। द्रव्य, जीव-अजीव दो भेदरूप हैं। संग्रहनय, जीवसामान्य को ग्रहण करता है, उसमें व्यवहार भेद करता है। जीव, संसारी-सिद्ध दो भेदरूप है इत्यादि। संग्रहनय, पर्यायसामान्य को संग्रहण करता है, उसमें व्यवहार भेद करता है। पर्याय, अर्थपर्याय-व्यञ्जनपर्याय दो भेदरूप है, ऐसे ही संग्रहनय, अजीवसामान्य को ग्रहण करे, उसमें व्यवहारनय भेद करके, अजीव पुद्गलादि पाँच द्रव्य भेदरूप कहता है। संग्रहनय, पुद्गलसामान्य को ग्रहण करता है, उसमें व्यवहारनय अणु-स्कन्ध, घट-पट आदि भेदरूप कहता है। इस तरह, जिसको

संग्रहनय ग्रहण करे, उसमें जहाँ तक भेद हो सके, करता चला जाए, वहाँ तक संग्रह व्यवहार का विषय है। इस तरह तीन द्रव्यार्थिकनय के भेद में दो का वर्णन किया।

अब, पर्यायार्थिकनय के भेद कहेंगे, उनमें पहले ही ऋजुसूत्रनय का स्वरूप कहते हैं —

जो वट्टमाणकाले, अत्थपज्जायपरिणदं अत्थं।
संतं साहदि सव्वं, तं वि णयं रिजुणयं जाण॥२७४॥

जो वस्तु अर्थपर्यायमय, परिणमित है वर्तमान में।
सत्‌रूप को जो साधता, ऋजुसूत्रनय वह जानिये॥२७४॥

अन्वयार्थ : [**जो वट्टमाणकाले**] जो नय, वर्तमानकाल में [**अत्थपज्जायपरिणदं अत्थं**] अर्थपर्यायरूप परिणत पदार्थ को [**सव्वं संतं साहदि**] सबको सत्‌रूप सिद्ध करता है, [**तं वि णयं रिजुणयं जाण**] वह ऋजुसूत्रनय है।

भावार्थ : वस्तु, समय समय परिणमन करती है; अतः एक समय की वर्तमानपर्याय को अर्थपर्याय कहते हैं, यह इस ऋजुसूत्रनय का विषय है। यह नय, इतनीमात्र ही वस्तु को कहता है। घड़ी मुहूर्त आदि काल को भी व्यवहार में वर्तमान कहते हैं, वह उस वर्तमान कालस्थायी पर्याय को भी सिद्ध करता है; इसलिए स्थूल ऋजुसूत्र संज्ञा है।

इस प्रकार तीन तो पूर्वोक्त और एक ऋजुसूत्रनय — यह चार नय तो अर्थनय कहलाते हैं।

अब, तीन शब्दनय कहेंगे, उनमें पहले शब्दनय का स्वरूप कहते हैं —

सव्वेसिं वत्थुणं, संखालिंगादि वहुपयारेहिं।
जो साहदि णाणत्तं, सद्दणयं तं वियाणेह॥२७५॥

सब वस्तुओं के लिङ्ग संख्या, आदि विविध प्रकार को।
जो सिद्ध करता है उसे, तुम शब्दनय पहचान लो॥२७५॥

अन्वयार्थ : [**जो सव्वेसिं वत्थुणं**] जो नय, सब वस्तुओं के [**संखालिंगादि बहुपयारेहिं**] संख्या, लिङ्ग आदि अनेक प्रकार से [**णाणत्तं**] अनेकत्व को [**साहदि**] सिद्ध करता है, [**तं सद्दणयं वियाणेह**] उसको शब्दनय जानना चाहिए।

भावार्थ : संख्या अर्थात् एकवचन-द्विवचन-बहुवचन; लिङ्ग अर्थात् स्त्री-पुरुष -नंपुसक; तथा आदि शब्द से काल, कारण, पुरुष, उपसर्ग लेने चाहिए। इनके द्वारा जो व्याकरण के प्रयोग पदार्थ को भेदरूप से कहते हैं, वह शब्दनय हैं। जैसे - पुष्प, तारका, नक्षत्र — एक ज्योतिषी विमान के तीनों लिङ्ग कहे लेकिन वहाँ व्यवहार में विरोध दिखाई देता है क्योंकि वही पुरुष लिङ्ग और वही स्त्री, नपुंसकलिङ्ग किस प्रकार होता है ? तथापि शब्दनय का यही विषय है, जो जैसा शब्द कहता है, वैसे ही अर्थ को भेदरूप मानना।

अब, समभिरूढ़नय का स्वरूप कहते हैं —

जो एगेगं अत्थं, परिणदिभेदेण साहदे णाणं।
मुक्खत्थं वा भासदि, अहिरूढं तं णयं जाण ॥२७६ ॥

बहुभाँति परिणति भेद से, वस्तु को जो जाने पृथक्।
या मुख्य अर्थ करे ग्रहण, वह समभिरूढ़ सुजानिये ॥२७६ ॥

अन्वयार्थ : [**जो अत्थं**] जो नय, वस्तु को [**परिणदिभेदेण एगेगं साहदे**] परिणाम के भेद से एक-एक भिन्न-भिन्न भेदरूप सिद्ध करता है [**वा मुक्खत्थं भासदि**] अथवा उनमें मुख्य अर्थ ग्रहण कर सिद्ध करता है, [**तं अहिरूढं णयं जाण**] उसको समभिरूढ़नय जानना चाहिए।

भावार्थ : शब्दनय, वस्तु के पर्याय नाम से भेद नहीं करता है और यह समभिरूढ़नय, एक वस्तु के पर्याय नाम हैं, उनके भेदरूप भिन्न-भिन्न पदार्थ ग्रहण करता है; जिसको मुख्यकर ग्रहण करता है, उसको सदा वैसा ही कहता है; जैसे, गौ शब्द के अनेक अर्थ हैं तथा गौ पदार्थ के अनेक नाम हैं; उन सबको यह नय, भिन्न-भिन्न पदार्थ मानता है, उसमें से मुख्यकर गौ को ग्रहण करता है, उसको चलते, बैठते और सोते समय गौ ही कहा करता है — ऐसा समभिरूढ़नय है।

अब, एवंभूतनय का स्वरूप कहते हैं —

जेण सहावेण जदा, परिणदरूवम्मि तम्मयत्तादो।
तप्परिणामं साहदि, जो वि णओ सो हु परमत्थो ॥२७७॥

जिस भावमय परिणमित हो, उस भाव से तन्मय रहे।
साधता वह भाव, एवंभूतनय परमार्थ है॥२७७॥

अन्वयार्थ : [**जदा जेण सहावेण**] वस्तु, जिस समय, जिस स्वभाव से [**परिणदरूवम्मि तम्मयत्तादो**] परिणमनरूप होती है, उस समय, उस परिणाम से तन्मय होती है; [**तप्परिणामं साहदि**] इसलिए उस ही परिणामरूप सिद्ध करता है – कहता है, [**जो वि णओ**] वह एवं भूतनय है, [**सो हु परमत्थो**] यह नय, परमार्थरूप है।

भावार्थ : वस्तु का जिस धर्म की मुख्यता से नाम होता है, उस ही अर्थ के परिणमनरूप जिस समय परिणमन करती है, उसको उस नाम से कहना, वह एवंभूतनय है; इसको निश्चय भी कहते हैं; जैसे, गौ को चलते समय गौ कहना अन्य समय कुछ नहीं कहना।

अब, नयों के कथन का सङ्कोच करते हैं —

एवं विविहणएहिं, जो वत्थु ववहरेदि लोयम्मि।
दंसणणाणचरित्तं, सो साहदि सग्गमोक्खं च॥२७८॥

विविधनय से वस्तु का, व्यवहार करता लोक में।
वह ज्ञान दर्शन चरित पाकर, लहे स्वर्ग विमोक्ष को॥२७८॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो पुरुष, [**लोयम्मि**] लोक में [**एवं विविहणएहिं**] इस तरह अनेक नयों से [**वत्थु ववहरेदि**] वस्तु को व्यवहाररूप कहता है, सिद्ध करता है और प्रवृत्ति कराता है, [**सो**] वह पुरुष [**दंसणणाणचरित्तं**] दर्शन-ज्ञान-चारित्र को [**च**] और [**सग्गमोक्खं**] स्वर्ग-मोक्ष को [**साहदि**] सिद्ध करता है — प्राप्त करता है।

भावार्थ : प्रमाण और नयों से वस्तु का स्वरूप यथार्थ सिद्ध होता है। जो पुरुष, प्रमाण और नयों का स्वरूप जानकर वस्तु को यथार्थ व्यवहाररूप प्रवृत्ति कराता है, उसके सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र की और उसके फल स्वर्ग — मोक्ष की सिद्धि होती है।

अब, कहते हैं कि तत्त्वार्थ को सुनने, जानने, धारणा और भावना करनेवाले विरले हैं —

विरला णिसुणहि तच्चं, विरला जाणंति तच्चदो तच्चं।
विरला भावहिं तच्चं, विरलाणं धारण होदि॥२७९॥

विरले सुने इस तत्त्व को, अरु जानते विरले अहो।
भावना भाते विरल अरु, धारण विरले करें॥२७९॥

अन्वयार्थ : [**विरला तच्चं णिसुणहि**] संसार में विरले पुरुष, तत्त्व को सुनते हैं, [**तच्चं तच्चदो विरला जाणंति**] सुनकर भी तत्त्व को यथार्थ विरले ही जानते हैं, [**विरला तच्चं भावहिं**] जानकर भी विरले ही तत्त्व की भावना अर्थात् बारम्बार अभ्यास करते हैं और [**विरलाणं धारण होदि**] अभ्यास करने पर भी तत्त्व की धारणा विरलों के ही होती है।

भावार्थ : तत्त्वार्थ का यथार्थ स्वरूप सुनना, जानना, भावना करना और धारणा करना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। इस पञ्चम काल में तत्त्व के यथार्थ कहनेवाले दुर्लभ हैं और धारण करनेवाले भी दुर्लभ हैं।

अब, कहते हैं कि जो कहे हुए तत्त्व को सुनकर निश्चलभावों से भाता है, वह तत्त्व को जानता है —

तच्चं कहिज्जमाणं, णिच्चलभावेण गिण्हदे जो हि।
तं चिय भावेदि सया, सो वि य तच्चं वियाणेइ॥२८०॥

ग्रहण करता जो पुरुष, यह तत्त्व निश्चल भाव से।
भावे यही त्यज अन्य को, जाने वही नर तत्त्व को॥२८०॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो पुरुष, [**कहिज्जमाणं तच्चं**] गुरुओं के द्वारा कहे हुए तत्त्वों के स्वरूप को [**णिच्चलभावेण गिण्हदे**] निश्चलभाव से ग्रहण करता है, [**तं चिय भावेदि सया**] अन्य भावनाओं को छोड़कर उसी की निरन्तर भावना करता है, [**सो वि य तच्चं वियाणेइ**] वही पुरुष, तत्त्व को जानता है।

अब, कहते हैं कि जो तत्त्व की भावना नहीं करता है, वह स्त्री आदि के वश में कौन नहीं है? अर्थात् सब लोक है —

को ण वसो इत्थि-जणे, कस्स ण मयणेण खंडियं माणं।
को इन्दिएहिं ण जिओ, को ण कसाएहिं संतत्तो॥२८१॥

नर कौन नारी वश नहीं, विचलित न मन हो काम से।
कौन इन्द्रिय वश नहीं, नहिं कौन तप्त कषाय से॥२८१॥

अन्वयार्थ : [**इत्थिजणे वसो को ण**] इस लोक में स्त्रीजन के वश कौन नहीं है ? [**कस्स ण मयणेण खंडियं माणं**] काम से जिसका मन खण्डित न हुआ हो — ऐसा कौन है ? [**को इन्दिएहिं ण जिओ**] जो इन्द्रियों से न जीता गया है — ऐसा कौन है ? [**को ण कसाएहिं संतत्तो**] और कषायों से तप्तायमान न हो — ऐसा कौन है ?

भावार्थ : विषय-कषायों के वश में सब लोक हैं और तत्त्वों की भावना करनेवाले विरले ही हैं।

अब, कहते हैं कि जो तत्त्वज्ञानी, सब परिग्रह का त्यागी होता है, वह स्त्री आदि के वश नहीं होता है —

सो ण वसो इत्थिजणे, सो ण जिओ इन्दिएहिं मोहेण।
जो ण य गिण्हदि गंथं, अब्भंतर बाहिरं सव्वं॥२८२॥

वह पुरुष नारी वश नहीं, वश नहीं इन्द्रिय मोह से।
जो पुरुष जाने तत्त्व अरु, अन्तर बहिः परिग्रह तजे॥२८२॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो पुरुष, तत्त्व का स्वरूप जानकर [**अब्भंतर बाहिरं सव्वं गंथं ण य गिण्हदि**] बाह्य और अभ्यन्तर सब परिग्रह को ग्रहण नहीं करता है, [**सो ण वसो इत्थिजणे**] वह पुरुष, स्त्रीजन के वश में नहीं होता; [**सो ण जिओ इंदिएहिं मोहेण**] वह ही पुरुष, इन्द्रियों से और मोह (मिथ्यात्व) कर्म से पराजित नहीं होता है।

भावार्थ : संसार का बन्धन परिग्रह है; इसलिए जो सब परिग्रह को छोड़ता है, वह ही स्त्री, इन्द्रिय कषायादि के वशीभूत नहीं होता है। सर्व त्यागी होकर शरीर का ममत्व नहीं रखता है, तब निजस्वरूप में ही लीन होता है।

अब, लोकानुप्रेक्षा के चिन्तवन का माहात्म्य प्रगट करते हैं —

एवं लोयसहावं, जो झायदि उवसमेक्कसब्भाओ।
सो खविय कम्मपुंजं, तस्सेव सिहामणी होदि॥२८३॥

इस तरह लोक स्वरूप ध्यावे, एक उपशमभावमय।
वह पुरुष कर्म समूह क्षय कर, शिखामणि हो लोक का॥२८३॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो पुरुष [**एवं लोयसहावं**] इस प्रकार लोक के स्वरूप को [**उवसमेक्कसब्भावो**] उपशम से एक स्वभावरूप होता हुआ [**झायदि**] ध्याता है – चिन्तवन करता है, [**सो कम्मपुंजं खविय**] वह पुरुष कर्मसमूह का नाश करके, [**तस्सेव सिहामणी होदि**] उस ही लोक का शिखामणि होता है।

भावार्थ : इस तरह जो पुरुष साम्यभाव से लोकानुप्रेक्षा का चिन्तवन करता है, वह पुरुष, कर्मों का नाश करके लोकशिखर पर जा विराजमान हो जाता है; वहाँ अनन्त, अनुपम, बाधारहित, स्वाधीन, ज्ञानानन्दस्वरूप सुख को भोगता है।

यहाँ लोकभावना का कथन विस्तार से करने का आशय यह है कि जो अन्यमतवाले लोक का स्वरूप, जीव का स्वरूप तथा हिताहित का स्वरूप अनेक प्रकार से अन्यथा, असत्यार्थ प्रमाणविरुद्ध कहते हैं, सो कोई जीव तो सुनकर विपरीत श्रद्धा करते हैं, कोई संशयरूप होते हैं और कोई अनध्यवसायरूप होते हैं। उनके विपरीतश्रद्धा से चित्त स्थिरता को नहीं पाता है और चित्त स्थिर (निश्चित) हुए बिना यथार्थ ध्यान की सिद्धि नहीं होती है। ध्यान के बिना कर्मों का नाश नहीं होता है; इसलिए विपरीतश्रद्धान को दूर करने के लिए यथार्थ लोक का तथा जीवादि पदार्थों का स्वरूप जानने के लिए विस्तार से कथन किया है। उसको जानकर, जीवादिक का स्वरूप पहचानकर, अपने स्वरूप में निश्चल चित्त कर, कर्मकलङ्क का नाश कर, भव्यजीव मोक्ष को प्राप्त होओ — ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है।

(कुण्डलिया)

लोकालोक विचारिकैं, सिद्धस्वरूपचितारि।
रागविरोध विडारिकैं, आतमरूपसंवारि॥
आतमरूपसंवारि, मोक्षपुर बसो सदा ही।
आधिव्याधिजरमरन, आदि दुख ह्वै न कदा ही॥
श्रीगुरु शिक्षा धारि, टारि अभिमान कुशोका।
मनथिरकारन, यह विचारि निजरूप सुलोका॥१०॥

इति लोकानुप्रेक्षा समाप्ता॥१०॥

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा

जीवो अणंतकालं, वसइ णिगोएसु आइपरिहोणो।
तत्तो णीस्सरिऊणं, पुढवीकायादिओ होदि॥२८४॥

जीव रहता है अनादि से अनन्त काल निगोद में।
निकले वहाँ से और पृथ्वीकाय आदिक भव धरे॥२८४॥

अन्वयार्थ : [**जीवो आइपरिहीणो अणंतकालं णिगोएसु वसइ**] यह जीव, अनादि काल से लेकर (संसार में) अनन्त काल तक तो निगोद में रहता है, [**तत्तो णीस्सरिऊणं पुढवीकायादिओ होदि**] वहाँ से निकलकर पृथ्वीकायादिक पर्याय को धारण करता है।

भावार्थ : अनादि से अनन्त कालपर्यन्त तो नित्यनिगोद में जीव का निवास है। वहाँ एक शरीर में अनन्तानन्त जीवों का आहार, स्वासोच्छ्वास, जीवन, मरण समान है। श्वास के अठारहवें भाग आयु है। वहाँ से निकलकर कदाचित् पृथ्वी, अप, तेज, वायुकाय, वनस्पतिकाय पर्याय पाता है, सो यह पाना दुर्लभ है।

अब कहते हैं कि इससे निकलकर त्रसपर्याय पाना दुर्लभ है—

तत्थ वि असंखकालं, बायरसुहमेसु कुणइ परियत्तं।
चिंतामणि व्व दुलहं, तसत्तणं लहदि कट्ठेण॥२८५॥

सूक्ष्म-बादर भवों में भ्रमता असंख्यों काल तक।
प्राप्ति त्रस पर्याय दुर्लभ रत्न चिन्तामणि सम॥२८५॥

अन्वयार्थ : [**तत्थ वि बायरसुहमेसु असंखकालं परियत्तं कुणइ**] वहाँ पृथ्वीकाय आदि में सूक्ष्म तथा बादरों में असंख्यात काल तक भ्रमण करता है, [**तसत्तण चिंतामणि**

व्व कट्ठेण दुलहं लहदि] वहाँ से निकलकर त्रसपर्याय पाना चिन्तामणि रत्न के समान बड़े कष्ट से दुर्लभ है।

भावार्थ : पृथ्वी आदि स्थावरकाय से निकलकर चिन्तामणि रत्न के समान, त्रसपर्याय पाना दुर्लभ है।

अब कहते हैं कि त्रसों में भी पञ्चेन्द्रियपना दुर्लभ है—

वियलिंदिएसु जायदि, तत्थ वि अच्छेदि पुव्वकोडीओ।
तत्तो णीसरिदूणं, कहमवि पंचिंदिओ होदि॥२८६॥

दो-तीन, चौ इन्द्रिय बने तहाँ कोटि पूर्व समय रहे।
इनसे निकल पञ्चेन्द्रि होना महादुर्लभ जानिये॥२८६॥

अन्वयार्थ : [वियलिंदिएसु जायदि] स्थावर से निकल कर त्रस होता है, तब बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय शरीर पाता है, **[तत्थ वि पुव्वोकोडिओ अच्छेदि]** वहाँ भी कोटिपूर्व समय तक रहता है; **[तत्तो णीसरिदूणं कहमवि पंचिंदिओ होदि]** वहाँ से भी निकल कर पञ्चेन्द्रिय शरीर पाना बड़े कष्ट से दुर्लभ है।

भावार्थ : विकलत्रय से पञ्चेन्द्रियपना पाना दुर्लभ है। यदि विकलत्रय से फिर स्थावरकाय में जा उत्पन्न हो तो फिर बहुत काल बिताता है; इसलिए पञ्चेन्द्रियपना पाना अत्यन्त दुर्लभ है।

सो वि मणेण विहीणो, ण य अप्पाणं परं पि जाणेदि।
अह मणसहिदो होदि हु, तह वि तिरिक्खो हवे रुद्दो॥२८७॥

पञ्चेन्द्रि होवे मनरहित, नहिं भेद निज-पर जानता।
तिर्यञ्च यदि मनसहित हो तो क्रुर परिणामी हुआ॥२८७॥

अन्वयार्थ : [सो वि मणेण विहीणो] विकलत्रय से निकलकर पञ्चेन्द्रिय भी होवे तो असैनी (मनरहित) होता है, **[अप्पाणं परं पि ण य जाणेदि]** आप और पर का भेद नहीं जानता है। **[अह मणसहिदो होदि हु]** यदि मनसहित (सैनी) भी होवे तो **[तह वि तिरिक्खो हवे]** तिर्यञ्च होता है; **[रुद्दो]** रौद्र / क्रूरपरिणामी बिलाव, घूघू (उल्लू), सर्प, सिंह, मच्छ आदि होता है।

भावार्थ : कदाचित् पञ्चेन्द्रिय भी होवे तो असैनी होता है, सैनी होना दुर्लभ है। यदि सैनी भी हो जाए तो क्रूर तिर्यञ्च होवे, जिसके परिणाम निरन्तर पापरूप ही रहते हैं।

अब कहते हैं कि ऐसे क्रूरपरिणामी जीव नरक में जाते हैं —

सो तिव्वअसुहलेसो, णरये णिवडेइ दुक्खदे भीमे।
तत्थ वि दुक्खं भुञ्जदि, सारीरं माणसं पउरं॥२८८॥

वह तीव्र लेश्या अशुभ से गिरता भयानक नरक में।
वहाँ देहगत अरु मानसिक अति प्रचुर दुःख है भोगता॥२८८॥

अन्वयार्थ : [**सो तिव्वअसुहलेसो दुक्खदे भीमे णरये णिवडेइ**] वह क्रूर तिर्यञ्च तीव्र अशुभपरिणाम और अशुभलेश्यासहित मरकर दुःखदायक भयानक नरक में गिरता है, [**तत्थ वि सारीरं माणसं पउरं दुक्खं भुंजदि**] वहाँ शरीरसम्बन्धी तथा मनसम्बन्धी, प्रचुर दुःख भोगता है।

अब कहते हैं कि उस नरक से निकल तिर्यञ्च होकर दुःख सहता है —

तत्तो णीसरिदूणं, पुणरवि तिरिएसु जायदे पावो।
तत्थ वि दुक्खमणंतं, विसहदि जीवो अणेयविहं॥२८९॥

उस नरक में से निकल कर फिर जन्म ले तिर्यञ्च में।
बहु भाँति दुःख अनन्त भोगे पापमय होकर अहो॥२८९॥

अन्वयार्थ : [**तत्तो णीसरिदूणं पुणरवि तिरिएसु जायदे**] उस नरक से निकलकर फिर भी तिर्यञ्चगति में उत्पन्न होता है, [**तत्थ वि पावो जीवो अयोयविहं अणंतं दुक्खं विसहदि**] वहाँ भी पापरूप जैसे हो, वैसे यह जीव अनेक प्रकार का अनन्त दुःख विशेषरूप से सहता है।

अब कहते हैं कि मनुष्यपना पाना दुर्लभ है, (उसे पाकर) भी मिथ्यात्वी होकर पाप उत्पन्न करता है —

रयणं चउप्पहे पिव, मणुअत्तं सुट्ठु दुल्लहं लहिय।
मिच्छो हवेइ जीवो, तत्थ वि पावं समज्जेदि॥२९०॥

खोया हुआ ज्यों रत्न चौपथ पर मिले अति भाग्य से।
त्यों महादुर्लभ मनुज तन पा मूढ़ हो पापहि करे॥२९०॥

अन्वयार्थ : [**रयणं चउप्पहे पिव मणुअत्तं सुट्ठु दुल्लहं लहिय**] जैसे चौराहे में पड़ा हुआ रत्न बड़े भाग्य से हाथ लगता है; वैसे ही तिर्यञ्च से निकलकर मनुष्यगति पाना अत्यन्त दुर्लभ है – [**तत्थ वि जीवो मिच्छो हवेइ पावं समज्जेदि**] ऐसा दुर्लभ मनुष्य–शरीर पाकर भी मिथ्यादृष्टि हो, पाप ही करता है।

भावार्थ : मनुष्य होकर भी, म्लेच्छखण्ड आदि में तथा मिथ्यादृष्टियों की सङ्गति में उत्पन्न होकर पाप ही करता है।

अब कहते है कि मनुष्य भी होवे और आर्यखण्ड में भी उत्पन्न हो तो भी उत्तम कुल आदि का पाना अत्यन्त दुर्लभ है —

अह लहदि अज्जवंतं, तह ण वि पावेइ उत्तमं गोत्तं।
उत्तम कुले वि पत्ते, धणहीणो जायदे जीवो॥२९१॥
अह धन सहिओ होदि हु, इंदियपरिपुण्णदा तदो दुलहा।
अह इंदिय संपुण्णो, तह वि सरोओ हवे देहो॥२९२॥
अह णीरोओ होदि हु, तह वि ण पावेइ जीवियं सुइरं।
अह चिरकालं जीवदि, तो सीलं णेव पावेइ॥२९३॥
अह होदि सीलजुत्तो, तह वि ण पावेइ साहुसंसग्गं।
अह तं पि कह वि पावदि, सम्मत्तं तह वि अइदुलहं॥२९४॥

जन्में यदि कुल आर्य में पर गोत्र उत्तम नहिं लहे।
उच्च कुल भी पाए तो धनहीन होकर दु:ख लहे॥२९१॥
धनवान हो पर इन्द्रियों की पूर्णता पावे नहीं।
इन्द्रियाँ यदि पूर्ण हों तो रोगमय नरतन लहे॥२९२॥
यदि हो निरोग शरीर किन्तु दीर्घ आयु मिले नहीं।
चिरकाल तक जीवे परन्तु शीलगुण पाए नहीं॥२९३॥

यदि शीलयुत होवे तथापि साधु संगति नहिं लहे।
सत्संग भी यदि प्राप्त हो सम्यक्त्व दुर्लभ है अरे॥२९४॥

अन्वयार्थ : [**अह लहदि अज्जवंतं**] मनुष्य पर्याय पाकर यदि आर्यखण्ड में भी जन्म पावे तो [**तह वि उत्तमं गोत्तं ण पावेइ**] उत्तम गौत्र (ऊँचे कुल)नहीं पाता है; [**उत्तम कुले वि पत्ते**] यदि ऊँचा कुल भी प्राप्त हो जाए तो [**जीवो धणहीणो जायदे**] यह जीव धनहीन दरिद्री हो जाता है, उससे कुछ सुकृत नहीं बनता है; पाप ही में लीन रहता है।

[**अह धनसहिओ होदि हु**] यदि धनसहित भी होवे [**तदो इन्दियपरिपुण्णदा दुलहा**] तो इन्द्रियों की परिपूर्णता पाना अत्यन्त दुर्लभ है; [**अह इन्दिय संपुण्णो**] यदि इन्द्रियों की सम्पूर्णता भी पावे [**तह वि देहो सरोओ हवे**] तो देह, रोगसहित पाता है; निरोग होना दुर्लभ है।

[**अह णीरोओ होदि हु**] यदि निरोग भी हो जाए [**तह वि सुइरं जीवियं ण पावेइ**] तो दीर्घ जीवन (आयु) नहीं पाता है, इसका पाना दुर्लभ है; [**अह चिरकालं जीवदि**] यदि चिरकाल तक जीता है [**तो सीलं णेव पावेइ**] तो शील (उत्तम प्रकृति-भद्रपरिणाम) नहीं पाता है क्योंकि उत्तम स्वभाव पाना दुर्लभ है।

[**अह सीलजुत्तो होदि**] यदि शील (उत्तम) स्वभावसहित भी हो जाता है [**तह वि साहुसंसग्गं ण पावेइ**] तो साधु पुरुषों का संसर्ग (सङ्गति) नहीं पाता है; [**अह तं पि कह वि पावदि**] यदि वह भी पा जाता है [**तह वि सम्मत्तं अइदुलहं**] तो सम्यक्त्व पाना (श्रद्धान होना) अत्यन्त दुर्लभ होता है।

सम्मत्ते वि य लद्धे, चारित्तं णेव गिण्हदे जीवो।
अह कह वि तं पि गिण्हदि, तो पालेदुंण सक्केदि॥२९५॥

सम्यकत्व भी यदि प्राप्त हो तो ग्रहे नहिं चरित्र को।
चारित्र भी यदि ग्रहण हो पर पाल नहिं सकता उसे॥२९५॥

अन्वयार्थ : [**सम्मत्ते वि य लद्धे**] यदि सम्यक्त्व भी प्राप्त हो जाए तो [**जीवो चारित्तं गिण्हदे**] यह जीव, चारित्र ग्रहण नहीं करता है। [**अह कह वि तं पि गिण्हदि**]

यदि चारित्र भी ग्रहण करले [**तो पालेदूं ण सक्कदि**] तो उसको पाल नहीं सकता है।

रयणत्तये वि लद्धे, तिव्वकसायं करेदि जइ जीवो।
तो दुग्गईसु गच्छदि, पणट्ठरयणत्तओ होऊ॥२९६॥

यदि जीव रत्नत्रय लहे पर तीव्र राग करे अहो।
तो रत्नत्रय का नाश करके दुर्गति को प्राप्त हो॥२९६॥

अन्वयार्थ : [**जइ जीवो**] यदि यह जीव [**रयणत्तये वि लद्धे**] रत्नत्रय भी पाता है [**तिव्वकसायं करेदि**] और तीव्रकषाय करता है [**तो**] तो [**पणट्ठरयणत्तओ होऊ**] रत्नत्रय का नाश करके, [**दुग्गईसु गच्छदि**] दुर्गतियों में जाता है।

अब कहते हैं कि ऐसा मनुष्यपना दुर्लभ है, जिससे रत्नत्रय की प्राप्ति हो —

रयणु व्व जलहि-पडियं मणुयत्तं तं पि होदि अइदुलहं।
एवं सुणिच्छइत्ता, मिच्छकसाये य वज्जेह॥२९७॥

अति महादुर्लभ मनुजतन ज्यों प्राप्त हो मणि उदाधि से।
यह जानकर हे भव्य! तज मिथ्यात्व और कषाय सब॥२९७॥

अन्वयार्थ : [**जलहि पडियं रयणु व्व मणुयत्तं तं पि होदि अइदुलहं होइ**] समुद्र में गिरे हुए रत्न की प्राप्ति के समान, मनुष्यत्व की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है [**एवं सुणिच्छइत्ता**] – ऐसा निश्चय करके, हे भव्यजीवो! [**मिच्छाकसाये य वज्जेह**] मिथ्यात्व और कषायों को छोड़ो, ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है।

अब कहते हैं कि यदि ऐसा मनुष्यत्व पाकर शुभपरिणामों से देवत्व पावे तो वहाँ चारित्र नहीं पाता है —

अहवा देवो होदि हु, तत्थ वि पावेदि कह व सम्मत्तं।
तो तवचरणं ण लहदि, देसजमं सील लेसं पि॥२९८॥

यदि देव होकर भी कदाचित् प्राप्त हो सम्यकत्व को।
तो लेश भी पाता नहीं अणुव्रत तथा तप शील व्रत॥२९८॥

अन्वयार्थ : [**अहवा देवो होदि हु**] अथवा मनुष्यत्व में कदाचित् शुभपरिणाम

होने से देव भी हो जाए [**तत्थ वि कह व सम्मत्तं पावेदि**] और वहाँ कदाचित् सम्यक्त्व भी पा लेवे [**तो तवचरणं ण लहदि**] तो वहाँ तपश्चरण / चारित्र नहीं पाता है; [**देसजमं सीललेसं पि**] देशव्रत (श्रावकव्रत) शीलव्रत (ब्रह्मचर्य अथवा सप्तशील) का लेश भी नहीं पाता है।

अब कहते हैं कि इस मनुष्यगति में ही तपश्चरणादिक हैं, ऐसा नियम है —

मणुवुगईए वि तओ, मणुवुगईए महव्वदं सयलं।
मणुवगईए झाणं, मणुवगईए वि णिव्वाणं॥२९९॥

इस मनुजगति में ही महाव्रत इसी में हो तप अहो।
ध्यान होता मनुजगति में इसी में निर्वाण हो॥२९९॥

अन्वयार्थ : [**मणुवगईए वि तओ**] हे भव्यजीवों! इस मनुष्यगति में ही तप का आचरण होता है; [**मणुवगईए सयलं महव्वदं**] इस मनुष्यगति में ही समस्त महाव्रत होते हैं; [**मणुवर्गइए झाणं**] इस मनुष्यगति में ही धर्म, शुक्लध्यान होते हैं; [**मणुवर्गइए वि णिव्वाणं**] और इस मनुष्यगति में ही निर्वाण (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

इय दुलहं मणुयत्तं, लहिऊणं जे रमन्ति विसएसु।
ते लहिय दिव्वरयणं, भूइणिमित्तं पजालंति॥३००॥

दुर्लभ मनुजगति प्राप्त कर भी विषय में ही जो रमें।
दिव्य मणि को जलाते वे भस्म पाने के लिए॥३००॥

अन्वयार्थ : [**इय दुलहं मणुयत्तं लहिऊणं जे विसएसु रमन्ति**] ऐसा यह दुर्लभ मनुष्यत्व पाकर भी जो इन्द्रियों के विषयों में रमण करते हैं, [**ते दिव्वरयणं लहिय भूइणिमित्तं पजालंति**] वे दिव्य (अमूल्य) रत्न को पाकर, भस्म के लिये दग्ध करते हैं – जलाते हैं।

भावार्थ : अत्यन्त कठिनाई से पाने योग्य यह मनुष्यपर्याय, अमूल्य रत्न के समान है, उसको विषयों में रमणकर वृथा खोना उचित (योग्य) नहीं है।

अब कहते हैं कि इस मनुष्यपर्याय में रत्नत्रय को पाकर बड़ा आदर करो —

इय सव्वदुलहदुलहं, दंसण णाणं तहा चरित्तं च।
मुणिउण य संसारे, महायरं कुणह तिण्हं पि॥३०१॥

हैं दुर्लभों में महादुर्लभ ज्ञान दृग चारित्र ये।
संसार में यों मानकर इनका महा आदर करें॥३०१॥

अन्वयार्थ : [**इय**] इस प्रकार [**संसारे**] संसार में [**दंसण णाणं तहा चरित्तं च**] दर्शन, ज्ञान और चारित्र को [**सव्वदुलहदुलहं**] अति दुर्लभ से भी दुर्लभ (अत्यन्त दुर्लभ) [**मुणिउण य**] जानकर, [**तिण्हं पि**] दर्शन, ज्ञान, चारित्र — इन तीन का, हे भव्यजीवो! [**महायरं कुणह**] बड़ा आदर करो।

भावार्थ : निगोद से निकलकर, पहिले कहे अनुक्रम से (मनुष्यभव को) दुर्लभ से दुर्लभ जानो, उसमें भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ जानो। उसे पाकर भव्यजीवों को महान् आदर करना योग्य है।

छप्पय

बसि निगोदचिर निकसि खेद सहि धरनि तरुनि बहु।
पवनवोद जल अगि निगोद लहि जरन मरन सहु॥
लट गिंडोल उटकण मकोड तन भमर भमणकर।
जलविलोलपशु तन सुकोल, नभचर सर उरपर॥
फिरि नरकपात अति कष्टसहि, कष्ट कष्ट नरतन महत।
तहँ पाय रत्नत्रय चिगद जे, ते दुर्लभ अवसर लहत॥११॥

इति बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा समाप्ता॥११॥

धर्मानुप्रेक्षा

अब, धर्मानुप्रेक्षा का निरुपण करते हैं। पहले, धर्म के मूल सर्वज्ञदेव हैं, उनको प्रगट करते हैं —

जो जाणदि पच्चक्खं, तियालगुणपज्जएहि संजुत्तं।
लोयालोयं सयलं, सो सव्वणहू हवे देओ॥३०२॥

लोक और अलोक को, तिहुँ काल गुण-पर्याय युत।
प्रत्यक्ष से जो जानते, वे देव ही सर्वज्ञ हैं॥३०२॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो [**सयलं**] समस्त [**लोयालोयं**] लोक और अलोक को [**तियालगुणपज्जएहि संजुत्तं**] तीन काल गोचर समस्त गुण-पर्यायों से संयुक्त [**पच्चक्खं**] प्रत्यक्ष [**जाणदि**] जानते हैं, [**सो सव्वण्हू देओ हवे**] वे सर्वज्ञदेव हैं।

भावार्थ : इस लोक में जीवद्रव्य अनन्तानन्त हैं। उनसे अनन्तानन्तगुणे पुद्गलद्रव्य हैं। एक-एक आकाश, धर्म, अधर्मद्रव्य हैं। असंख्यात कालाणु द्रव्य हैं। लोक के बाहर अनन्त प्रदेशी आकाशद्रव्य अलोक है। इन सब द्रव्यों के अनन्त समयरूप अतीत काल से, आगामी काल अनन्तगुणा समयरूप है। उस काल के समय-समयवर्ती एक द्रव्य की अनन्त-अनन्त पर्यायें हैं। उन सब द्रव्य-पर्यायों को युगपत् एक समय में प्रत्यक्ष स्पष्ट भिन्न-भिन्न जैसे हैं, वैसे जाननेवाला ज्ञान जिसके है, वह सर्वज्ञ है, वह ही देव है। औरों को देव कहते हैं, सो कहनेमात्र है।

यहाँ कहने का तात्पर्य ऐसा है कि अब जो धर्म का स्वरूप कहेंगे, सो धर्म का स्वरूप यथार्थ इन्द्रियगोचर नहीं; अतीन्द्रिय है। उसका फल, स्वर्ग-मोक्ष है, वह भी अतीन्द्रिय है। छद्मस्थ के इन्द्रियज्ञान होता है; परोक्ष, इसके गोचर नहीं होता है। जो सब पदार्थों को प्रत्यक्ष देखता है, वह धर्म के स्वरूप को भी प्रत्यक्ष देखता है; इसलिए धर्म का

स्वरूप, सर्वज्ञ के वचन ही से प्रमाण है; अन्य छद्मस्थ का कहा हुआ प्रमाण नहीं है। अत: सर्वज्ञ के वचन की परम्परा से जो छद्मस्थ कहता है, सो प्रमाण है; इसलिए धर्म का स्वरूप कहने के लिए प्रारम्भ में सर्वज्ञ को स्थापन किया गया।

अब, जो सर्वज्ञ को नहीं मानते हैं, उनके प्रति कहते हैं —

जदि ण हवदि सव्वणहू, ता को जाणदि अदिदियं अत्थं।
इन्दियणाणं ण मुणदि, थूलं पि असेस पज्जायं॥३०३॥

कौन जाने अतीन्द्रिय को, यदि न हों सर्वज्ञ तो।
स्थूल जाने ज्ञान-इन्द्रिय, जानता नहिं सर्व को॥३०३॥

अन्वयार्थ : [**जदि सव्वण्हू ण हवदि**] हे सर्वज्ञ के अभाववादियों! यदि सर्वज्ञ नहीं होवे [**ता अदिदियं अत्थं को जाणदि**] तो अतीन्द्रिय पदार्थ, अर्थात् जो इन्द्रियगोचर नहीं हैं, को कौन जानता है? [**इंदियणाणं**] इन्द्रियज्ञान तो [**थूलं**] स्थूलपदार्थ, अर्थात् इन्द्रियों से सम्बन्धरूप वर्तमान को जानता है; [**असेस पज्जायं पि ण मुणदि**] उसकी समस्त पर्यायों को भी नहीं जानता।

भावार्थ : सर्वज्ञ का अभाव, मीमांसक और नास्तिक कहते हैं; उनका निषेध किया है कि यदि सर्वज्ञ न होवे तो अतीन्द्रिय पदार्थ को कौन जाने? क्योंकि धर्म और अधर्म का फल अतीन्द्रिय है, उसको सर्वज्ञ के बिना कोई नहीं जानता; इसलिए धर्म-अधर्म के फल को चाहनेवाले पुरुष, सर्वज्ञ को मानकर, उसके वचन से धर्म के स्वरूप का निश्चय कर, अङ्गीकार करो।

सर्वज्ञदेव द्वारा कथित धर्म का वर्णन करते हुए, गृहस्थधर्म के बारह भेदों का नाम कहते हैं —

तेणुवइट्ठो धम्मो, संगासत्ताण तह असंगाणं।
पढमो बारहभेओ, दसभेओ भासिओ बिदिओ॥३०४॥

सम्मदंसणसुद्धो, रहिओ मज्जाइथूलदोसेहिं।
वयधारी सामइउ, पव्ववई पासुयाहारी॥३०५॥

राईभोयणविरओ, मेहुणसारंभसंगचत्तो य।
कज्जाणुमोयविरदो, उद्दिट्ठारविरदो ॥३०६॥

जिन कहें द्वव विधि धर्म यह सागार अरु अनगार है।
है प्रथम बारह भेदमय दस भेद दुजे के कहे ॥३०४॥
शुद्ध सम्यग्दृष्टि अरु मद्यादि दोषों से रहित।
व्रती, सामायिक व्रती प्रासुकाहारी पर्वव्रती ॥३०५॥
रात्रि भोज विरत कामारम्भ संग विरत तथा।
कार्यानुमोदन विरत अरु उदिष्ट भोजन त्यागता ॥३०६॥

अन्वयार्थ : [**तेणुवइट्ठो धम्मो**] सर्वज्ञ के द्वारा उपदेश किया हुआ धर्म, दो प्रकार का है [**संगासत्ताण तह असगाणं**] (१) सङ्गासक्त (गृहस्थ) का, और (२) असङ्ग (मुनि) का [**पढमो बारहभेओ**] पहला गृहस्थ का धर्म तो बारह भेदरूप है; [**विदिओ दसभेओ**] दूसरा मुनि का धर्म, दस भेदरूप है।

(१) [**सम्मदंसणसुद्धो**] शुद्ध सम्यग्दृष्टि, (२) [**मज्जाइथूलदोसेहिं रहिओ**] मद्य आदि स्थूल दोषों से रहित दर्शनप्रतिमा का धारी, (३) [**वयधारी**] व्रतधारी (पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, इन बारह व्रतसहित), (४) [**सामइउ**] सामायिक व्रती, (५) [**पव्वई**] पर्वव्रती, (६) [**पासुयाहारी**] प्रासुकाहारी, (७) [**राईभोयण -विरओ**] रात्रिभोजन त्यागी; (८) [**मेहुणसारंभगंचत्तो य**] मैथुनत्यागी, (९) आरम्भ -त्यागी, और (१०) परिग्रहत्यागी, (११) [**कज्जाणुमोयविरदो**] कार्यानुमोदविरत, और (१२) [**उद्दिट्ठाहारविरदो य**] उद्दिष्टाहारविरत; इस प्रकार श्रावकधर्म के बारह भेद हैं।

भावार्थ : पहला भेद तो पच्चीत मल-दोषरहित शुद्ध अविरतसम्यग्दृष्टि है और ग्यारह भेद व्रतसहित प्रतिमाओं के होते हैं, वह व्रती श्रावक है।

अब, इन बारह धर्मों के स्वरूप आदि का व्याख्यान करेंगे। पहले, अविरतसम्यग्दृष्टि को कहेंगे। उसमें भी पहले, सम्यक्त्व की उत्पत्ति की योग्यता का निरूपण करते हैं —

चउगदिभव्वो सण्णी, सुविसुद्धो जग्गमाणपज्जत्तो।
संसारतडे, नियडो, णाणी पावेइ सम्मत्तं ॥३०७॥

चार गति में भव्य, संज्ञि, विशुद्ध, जागृत ज्ञानी को।
संसार तट हो निकट अरु पर्याप्त को सम्यकत्व हो॥३०७॥

अन्वयार्थ : [चउगदिभव्वो सण्णी] पहिले तो भव्यजीव होवे, क्योंकि अभव्य के सम्यक्त्व नहीं होता है। चारों ही गतियों में सम्यक्त्व उत्पन्न होता है परन्तु मनसहित (सैनी) के ही उत्पन्न हो सकता है; असैनी के उत्पन्न नहीं होता है। **[सुविसुद्धो]** उसमें भी विशुद्ध परिणामी हो, शुभलेश्यासहित हो; अशुभलेश्या में भी शुभलेश्या के समान, कषायों के स्थान होते हैं, उनको उपचार से विशुद्ध कहते हैं; संक्लेशपरिणामों में सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता है। **[जग्गमाण]** जगते हुए के होता है, सोये हुए के नहीं होता है। **[पज्जत्तो]** पर्याप्त (पूर्ण) के होता है; अपर्याप्त अवस्था में नहीं होता है। **[संसारतडे नियडो]** संसार का तट जिसके निकट आ गया हो; जिसका अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल से अधिक संसारभ्रमण शेष हो, उसको सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता है। **[णाणी]** ज्ञानी हो, अर्थात् साकार उपयोगवान् हो; निराकार दर्शनोपयोग में सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता है **[सम्मत्तं पावेइ]** ऐसे जीव के सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है।

अब, सम्यक्त्व तीन प्रकार का है, उनमें उपशमसम्यक्त्व और क्षायिकसम्यक्त्व की उत्पत्ति कैसे है? सो कहते हैं —

सत्तण्हं पयडीणं, उवसमदो होदि उवसमं सम्मं।
खयदो य होदि खइयं, केवलिमूले मणूसस्स॥३०८॥

उपशमित हो सात प्रकृति औपशम सम्यक्त्व हो।
जो क्षय करे नर लहे क्षायिक केवली के मूल में॥३०८॥

अन्वयार्थ : [सत्तण्हं पयडीणं उवसमदो उवसमं सम्मं होदि] मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ — इन सात मोहनीयकर्म की प्रकृतियों के उपशम होने से उपशमसम्यक्त्व होता है; **[य खयदो खइयं होदि]** और इन सातों मोहनीयकर्म की प्रकृतियों के क्षय होने से क्षायिकसम्यक्त्व उत्पन्न होता है, **[केवलिमूले मणूसस्स]** यह क्षायिकसम्यक्त्व, केवलज्ञानी अथवा श्रुतकेवली के निकट, कर्मभूमि के मनुष्य के ही उत्पन्न होता है।

भावार्थ : यहाँ ऐसा जानना चाहिए कि क्षायिकसम्यक्त्व का प्रारम्भ तो केवली-श्रुतकेवली के निकट, मनुष्य के ही होता है और निष्ठापन अन्य गति में भी होता है।

अब, क्षायोपशमिकसम्यक्त्व कैसे होता है? सो कहते हैं —

अणउदयादो छण्हं, सजाइरूवेण उदयमाणाणं।
सम्मत्तकम्मउदए, खयउवसमियं हवे सम्मं ॥३०९॥

नहिं उदय हो छह प्रकृति का अरु उदय हो सम जाति का।
समकित प्रकृति के उदय में, समकित क्षयोपशम है कहा ॥३०९॥

अन्वयार्थ : [**अणउदयादो छण्हं**] पूर्वोक्त सात प्रकृतियों में से छह प्रकृतियों का उदय न हो, [**सजाइरूवेण उदयमाणाणं**] सजाति (समानजातीय) प्रकृति से उदयरूप हो, [**सम्मत्तकम्मउदए**] सम्यक्कर्मप्रकृति का उदय होने पर [**खयउवसमियं सम्मं हवे**] क्षायोपशमिकसम्यक्त्व होता है।

भावार्थ : मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व के उदय का अभाव हो, सम्यक्त्वप्रकृति का उदय हो, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय का अभाव हो अथवा उनका विसंयोजन करके अप्रत्याख्यानावरण आदिकरूप से उदयमान हो, तब क्षायोपशमिकसम्यक्त्व उत्पन्न होता है। इन तीनों ही सम्यक्त्व की उत्पत्ति का विशेष कथन गोम्मटसार, लब्धिसार से जानना।

अब, औपशमिक-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व तथा अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन और देशव्रत - इनका पाना और छूट जाना, उत्कृष्टता से कहते हैं —

गिण्हदि मुञ्चदि जीवो, वे सम्मत्ते असंखवाराओ।
पढमकसायविणासं, देसवय कुणदि उक्किट्ठं ॥३१०॥

असंख्य बार ग्रहे तजे, उत्कृष्टता से जिन कहा।
प्रथम दो सम्यकत्व, प्रथम कषाय अणुव्रत को अहा ॥३१०॥

अन्वयार्थ : [**जीवो**] यह जीव [**वे सम्मत्ते**] औपशमिक, क्षायोपशमिक, ये दो तो सम्यक्त्व [**पढमकसायविणासं**] अनन्तानुबन्धी का विनाश, अर्थात् विसंयोजनरूप,

अप्रत्याख्यानादिकरूप परिणमाना [**देसवयं**] और देशव्रत इन चारों को [**असंखवाराओ**] असंख्यात बार [**गिण्हदि मुंचदि**] ग्रहण करता है और छोड़ता है, [**उक्किट्ठं**] यह उत्कृष्टता से कहा है।

भावार्थ : पल्य के असंख्यातवें भाग परिमाण जो असंख्यात, उतनी बार उत्कृष्टता से ग्रहण करता है और छोड़ता है, बाद में भी मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अब, सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ सम्यक्त्व किस प्रकार जाना जाता है ? ऐसे तत्त्वार्थश्रद्धान को नौ गाथाओं में कहते हैं —

जो तच्चमणेयंतं, णियमा, सद्दहदि सत्तभंगेहिं।
लोयाण पण्हवसदो, ववहारपवत्तणट्ठं च॥३११॥
जो आयरेण मण्णदि, जीवाजीवादि णवविहं अत्थं।
सुदणाणेण णएहि य, सो सद्दिट्ठी हवे सुद्धो॥३१२॥

तत्त्व अन्-एकान्त की श्रद्धा करे भंग सप्त से।
लोक प्रश्न वशात् जो व्यवहार वर्तन के लिए॥३११॥
श्रुतज्ञान या नय से ग्रहे जीवादि नव विध तत्त्व को।
आदरसहित जो मानता, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है॥३१२॥

अन्वयार्थ : [**जो सत्तभंगेहिं अणेयंतं तच्चं णियमा सद्दहदि**] जो पुरुष, सात भङ्गों से अनेकान्त तत्त्वों का नियम से श्रद्धान करता है, [**लोयाण पण्हवसदो ववहारपवत्तणट्ठं च**] क्योंकि लोगों के प्रश्न के वश से विधिनिषेध वचन के सात ही भङ्ग होते हैं; इसलिए व्यवहार की प्रवृत्ति के लिए भी सात भङ्गों के वचन की प्रवृत्ति होती है। [**जो जीवाजीवादि णविहं अत्थं**] जो, जीव-अजीव आदि नौ प्रकार के पदार्थों को [**सुदणाणेण णएहि य**] श्रुतज्ञानप्रमाण से तथा उसके भेदरूप नयों से [**आयरेण मण्णदि**] अपने आदर-यत्न-उद्यम से मानता है - श्रद्धान करता है, [**सो सुद्धो साद्दिट्ठी हवे**] वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है।

भावार्थ : वस्तु का स्वरूप अनेकान्त है। जिसमें अनेक अन्त (धर्म) होते हैं,

उसको अनेकान्त कहते हैं। वे धर्म, अस्तित्व; नास्तित्व, एकत्व; अनेकत्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, भेदत्व-अभेदत्व, अपेक्षत्व, दैवसाध्यत्व, पौरुषसाध्यत्व, हेतुसाध्यत्व, आगमसाध्यत्व, अन्तरङ्गत्व-बहिरङ्गत्व इत्यादि तो सामान्य हैं और द्रव्यत्व, पर्यायत्व, जीवत्व, अजीवत्व, स्पर्शत्व, रसत्व, गन्धत्व, वर्णत्व, शब्दत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व, मूर्त्तत्व, अमूर्त्तत्व, संसारित्व, सिद्धत्व, अवगाहनत्व, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व इत्यादि विशेषधर्म हैं। सो उनके प्रश्न के वश से विधिनिषेधरूप बचन के सात भङ्ग होते हैं। उनके 'स्यात्' पद लगाना चाहिए। स्यात् पद, कथञ्चित् (कोई प्रकार) ऐसे अर्थ में आता है। उससे वस्तु को अनेकान्तरूप सिद्ध करना चाहिए।

वस्तु '**स्यात् अस्तित्वरूप**' है - ऐसे किसी तरह अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अस्तित्वरूप है।

वही वस्तु '**स्यात् नास्तित्वरूप**' है - ऐसे परवस्तु के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नास्तित्वरूप है।

वही वस्तु '**स्यात् अस्तित्व-नास्तित्वरूप**' है, इस तरह वस्तु में दोनों ही धर्म पाये जाते हैं और वचन से क्रमपूर्वक कहे जाते हैं।

वस्तु '**स्यात् अवक्तव्य**' है, इस तरह वस्तु में दोनों ही धर्म, एक काल में पाये जाते हैं, तथापि एक काल में वचन से नहीं कहे जाते हैं; इसलिए किसी प्रकार अवक्तव्य है।

अस्तित्व से कहा जाता है, दोनों एक काल हैं; इसलिए एक साथ कहा नहीं जाता है, इस तरह वक्तव्य भी है और अवक्तव्य भी है; इसलिए '**स्यात् अस्तित्व अवक्तव्य**' है।

ऐसे ही **नास्तित्व अवक्तव्य** है।

दोनों धर्म, क्रम से कहे जाते हैं; एक साथ नहीं कहे जाते हैं, इसलिए '**स्यात् अस्तित्व नास्तित्व अवक्तव्य**' है। ऐसे सात ही भङ्ग किसी तरह सम्भव होते हैं। ऐसे ही एकत्व, अनेकत्व आदि सामान्य धर्मों पर सात भङ्ग विधिनिषेध से लगा लेना चाहिए। जैसी-जैसी जहाँ अपेक्षा सम्भव हो, सो लगा लेना चाहिए। ऐसे ही विशेषत्वधर्म, जीवत्व आदि में लगा लेना चाहिए। जैसे, जीव नामक वस्तु हैं, उसमें स्यात् जीवत्व, स्यात् अजीवत्व इत्यादि लगा लेना चाहिए। यहाँ अपेक्षा ऐसे - जो अपना जीवत्वधर्म आपमें है,

इसलिए जीवत्व है; पर अजीव का अजीवत्वधर्म इसमें नहीं है तथा अपने अन्य धर्म को मुख्य कर कहता है, उसकी अपेक्षा अजीवत्व है इत्यादि लगा लेना चाहिए। जीव, अनन्त हैं, उसकी अपेक्षा अपना जीवत्व आप में है, पर का जीवत्व इसमें नहीं है; इसलिए उसकी अपेक्षा अजीवत्व है – ऐसे भी सिद्ध होता है। इत्यादि अनादि-निधन अनन्त जीव-अजीव वस्तुएँ हैं, उनमें अपने-अपने द्रव्यत्व -पर्यायत्व अनन्त धर्म हैं, उन सहित सात भङ्ग से सिद्ध कर लेना चाहिए तथा उनकी स्थूल पर्यायें हैं, वे भी चिरकालस्थायी अनेक धर्मरूप होती हैं। जैसे जीव, संसारी-सिद्ध; संसारी में त्रस-स्थावर, उनमें मनुष्य-तिर्यञ्च इत्यादि। पुद्गल में अणु-स्कन्ध तथा घट-पट आदि। सो इनके भी कथञ्चित् वस्तुत्व सम्भव है, वह भी वैसे ही सात भङ्गों से सिद्ध कर लेना चाहिए। ऐसे ही जीव-पुद्गल के संयोग से हुए आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-पुण्य-पाप -मोक्ष आदि भाव, उनमें भी बहु धर्मत्व की अपेक्षा तथा परस्पर विधिनिषेध से अनेक धर्मरूप कथञ्चित् वस्तुत्व सम्भव है, सो सात भङ्गों से सिद्ध कर लेना चाहिए।

जैसे, एक पुरुष में पिता, पुत्र, मामा, भानजा, काका, भतीजापना आदि धर्म सम्भवते हैं, उनको अपनी-अपनी अपेक्षा से विधिनिषेध द्वारा सात भङ्गों से सिद्ध कर लेना चाहिए। ऐसा नियम से जानना कि वस्तुमात्र अनेक धर्मस्वरूप है, सो सबको अनेकान्त जानकर श्रद्धान करता है और वैसे ही लोक में व्यवहार प्रवर्ताता है, वह सम्यग्दृष्टि है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, पुण्य-पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष — ये नौ पदार्थ हैं, उनको वैसे सात भङ्गों से सिद्ध कर लेना चाहिए। उनका साधन, श्रुतज्ञानप्रमाण है और उसके भेद, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक हैं। उनके भी भेद नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नय हैं। उनके भी उत्तरोत्तर भेद जितने वचन के प्रकार हैं, उतने हैं। उनको प्रमाणसप्तभङ्गी और नयसप्तभङ्गी के विधान से सिद्ध करते हैं। उनका वर्णन पहिले लोकभावना में कर चुके हैं। उनका विशेष वर्णन तत्त्वार्थसूत्र की टीका से जानना चाहिए। ऐसे प्रमाण और नयों से जीवादि पदार्थों को जानकर श्रद्धान करना है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है।

यहाँ यह विशेष जानना चाहिए कि जो नय हैं, वे वस्तु के एक-एक धर्म को ग्रहण

करनेवाले हैं, वे अपने-अपने विषयरूप धर्म को ग्रहण करने में समान हैं तो भी पुरुष अपने प्रयोजन के वश से उनको मुख्य-गौण कर कहते हैं। जैसे, जीव नामक वस्तु है, उसमें अनेक धर्म हैं, तो भी चेतनत्व आदि प्राणधारणत्व अजीवों से असाधारण देख, उन अजीवों से भिन्न दिखाने के प्रयोजन के वश से मुख्यकर वस्तु का जीव नाम रखा, ऐसे ही मुख्य-गौण करने का सब धर्मों के प्रयोजन के वश से जानना चाहिए।

यहाँ इस ही आशय से अध्यात्म प्रकरण में मुख्य को तो निश्चय कहा है और गौण को व्यवहार कहा है। उसमें अभेदधर्म तो प्रधानता से निश्चय का विषय कहा है और भेदनय को गौणता से व्यवहार कहा है, सो द्रव्य तो अभेद है; इसलिए निश्चय का आश्रय द्रव्य है और पर्याय भेदरूप है, इसलिए व्यवहार का आश्रय पर्याय है। यहाँ प्रयोजन यह है कि भेदरूप वस्तु को सब लोक (संसार) जानता है, इसलिए जो जानता है, वह ही प्रसिद्ध है; इसी कारण लोक पर्यायबुद्धि है। जीव के नर-नारक आदि पर्यायें हैं; राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि पर्यायें हैं तथा ज्ञान के भेदरूप मतिज्ञानादिक पर्यायें हैं। इन पर्यायों ही को लोक, जीव जानता है; इसलिए इन पर्यायों में अभेदरूप अनादि-अनन्त एक भाव जो चेतनाधर्म, उसको ग्रहण कर, निश्चयनय का विषय कहकर जीवद्रव्य का ज्ञान कराया है; पर्यायाश्रित जो भेदनय उसको गौण किया है तथा अभेददृष्टि में यह दिखाई नहीं देता; इसलिए अभेदनय का दृढ़ श्रद्धान कराने के लिए कहा है कि जो पर्यायनय है, वह व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। सो भेदबुद्धि का एकान्त निराकरण करने के लिए यह कथन जानना। ऐसा नहीं कि यह भेद है, सो असत्यार्थ कहा है, यह वस्तु का स्वरूप नहीं है। जो ऐसा सर्वथा मानता है, वह अनेकान्त में समझा नहीं; सर्वथा एकान्त श्रद्धान से मिथ्यादृष्टि होता है। जहाँ अध्यात्मशास्त्रों में निश्चय -व्यवहारनय कहे हैं, वहाँ भी उन दोनों के परस्पर विधिनिषेध से सात भङ्गों से वस्तु सिद्ध कर लेना चाहिए। एक को सर्वथा सत्यार्थ माने और एक को सर्वथा असत्यार्थ माने तो मिथ्याश्रद्धान होता है; इसलिए वहाँ भी कथञ्चित् जानना चहिए।

अन्य वस्तु का, अन्य वस्तु में आरोपण करके प्रयोजन सिद्ध किया जाता है, वहाँ उपचारनय कहलाता है, यह भी व्यवहार में ही गर्भित है - ऐसे कहा है। जहाँ जो प्रयोजन निमित्त होता है, वहाँ उपचार प्रवर्तता है। जैसे, घृत का घट - यहाँ मिट्टी के घड़े के आश्रित

घृत भरा हुआ होता है, सो व्यवहारी लोगों को आधार–आधेयभाव दिखाई देता है, उसको प्रधान करके कहते हैं। घृत का घट (घड़ा) कहने पर ही लोग समझते हैं और घृत का घड़ा मँगाने पर उसको ले आते हैं; इसलिए उपचार में भी प्रयोजन सम्भवता है। इसी तरह अभेदनय को मुख्य करने पर अभेददृष्टि में भेद दिखाई नहीं देता, तब उसमें ही भेद कहता है सो असत्यार्थ है, वहाँ भी उपचार सिद्ध होता है। इस मुख्य–गौण के भेद को सम्यग्दृष्टि जानता है।

मिथ्यादृष्टि, अनेकान्त वस्तु को नहीं जानता है और सर्वथा एक धर्म पर दृष्टि पड़ती है, तब उस ही को सर्वथा वस्तु मानकर, अन्य धर्म को या तो सर्वथा गौण कर असत्यार्थ मानता है, या सर्वथा अन्य धर्म का अभाव ही मानता है। उससे मिथ्यात्व दृढ़ होता है, सो यह मिथ्यात्व नामक कर्म की प्रकृति के उदय में यथार्थ श्रद्धा नहीं होती है; इसलिए उस प्रकृति का कार्य भी मिथ्यात्व ही कहलाता है। उस प्रकृति का अभाव होने पर तत्त्वार्थ का यथार्थ श्रद्धान होता है, सो यह अनेकान्त वस्तु में प्रमाण–नय से सात भङ्गों के द्वारा सिद्ध किया हुआ सम्यक्त्व का कार्य है; इसलिए इसको भी सम्यक्त्व ही कहते हैं — ऐसा जानना चाहिए। जैनमत में कथन अनेक प्रकार का है, सो अनेकान्तरूप समझना और इसका फल, अज्ञान का नाश होकर उपादेय की बुद्धि और वीतरागता की प्राप्ति है। इस कथन का मर्म (रहस्य) जानना बड़े भाग्य से होता है। इस पञ्चम काल में इस समय इस कथनी के गुरु का निमित्त सुलभ नहीं है; इसलिए शास्त्र समझने का निरन्तर उद्यम रखकर समझना योग्य है क्योंकि इसके आश्रय से मुख्यतया सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। यद्यपि जिनेन्द्र की प्रतिमा के दर्शन तथा प्रभावना अङ्ग का देखना इत्यादि सम्यक्त्व की प्राप्ति के कारण हैं, तथापि शास्त्र का श्रवण करना, पढ़ना, भावना करना, धारणा हेतु–युक्ति से स्वमत–परमत का भेद जानकर नयविवक्षा को समझना, वस्तु का अनेकान्तस्वरूप निश्चय करना, मुख्य कारण हैं; इसलिए भव्यजीवों को इसका उपाय निरन्तर रखना योग्य है।

अब कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि होने पर अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव होता है, उसके निर्मद–मृदुपरिणाम कैसे होते हैं? —

जो ण य कुव्वदि गव्वं, पुत्त कलत्ताइसव्वअत्थेसु।
उवसमभावे भावदि, अप्पाणं मुणदि तिणमित्तं ॥३१३॥

जो गर्व नहिं करता कभी सुत नारि आदि पदार्थ में।
भाव उपशम सदा भावे स्वयं को तृणवत् लखे ॥३१३॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो सम्यग्दृष्टि होता है, वह [**पुत्तकलत्ताइसव्वअत्थेसु**] पुत्र कलत्र आदि सब परद्रव्य तथा परद्रव्यों के भावों में [**गव्वं ण य कुव्वदि**] गर्व नहीं करता है, परद्रव्यों से आपके बड़प्पन माने तो सम्यक्त्व कैसा? [**उवसमभावे भावदि**] उपशमभावों को भाता है, अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी तीव्र राग-द्वेष परिणाम के अभाव से उपशमभावों की भावना रिरन्तर रखता है। [**अप्पाणं तिणमित्तं मुणदि**] अपनी आत्मा को तृण के समान हीन मानता है क्योंकि अपना स्वरूप तो अनन्त ज्ञानादिरूप है; इसलिए जब तक उसकी प्राप्ति नहीं होती है, तब तक अपने को वर्तमान पर्याय में तृणतुल्य मानता है; किसी में गर्व नहीं करता है।

अब, द्रव्यदृष्टि का बल दिखाते हैं —

विसयासत्तो वि सया, सव्वारंभेसु वट्टमाणो वि।
मोहविलासो एसो, इदि सव्वं मण्णदे हेयं ॥३१४॥

विषय में आसक्त है अरु वर्तता आरम्भ में।
यह मोह लीला जानकर वह हेय सबको मानता ॥३१४॥

अन्वयार्थ : [**विसयासत्तो वि सया**] अविरत सम्यग्दृष्टि यद्यपि इन्द्रिय-विषयों में आसक्त है, [**सव्वारंभेसु वट्टमाणो वि**] त्रस-स्थावर जीवों का घात जिनमें होता है - ऐसे सब आरम्भों में वर्तता है, अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायों के तीव्र उदय से विरक्त नहीं हुआ है [**इदि सव्वं हेयं मण्णदे**] तो भी सबको हेय (त्यागने योग्य) मानता है और ऐसा जानता है कि [**एसो मोहविलासो**] यह मोह का विलास है; मेरे स्वभाव में नहीं है, उपाधि है, रोगवत् है, त्यागने योग्य है। वर्तमान कषायों की पीड़ा सही नहीं जाती है; इसलिए असमर्थ होकर विषयों के सेवन तथा बहु आरम्भ में प्रवृत्ति होती है — ऐसा मानता है।

उत्तमगुणगहणरओ, उत्तमसाहूण विणयसंजुत्तो।
साहम्मियअणुराई, सो सद्दिट्ठी हवे परमो ॥३१५॥

उत्तम गुणों के ग्रहण में रत विनय उत्तम साधु की।
साधर्मि अनुरक्त जो वह परम सम्यग्दृष्टि है ॥३१५॥

अन्वयार्थ : [**उत्तमगुणहणरओ**] सम्यग्दृष्टि कैसा होता है—उत्तम गुण, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप आदि के ग्रहण करने में अनुरागी होता है, [**उत्तमसाहूण विणयसंजुत्तो**] उन गुणों के धारक उत्तम साधुओं में विनय संयुक्त होता है, [**साहम्मियअणुराई**] अपने समान सम्यग्दृष्टि साधर्मियों में अनुरागी होता है, वात्सल्यगुणसहित होता है, [**सो परमो सद्दिट्ठी हवे**] वह उत्तम सम्यग्दृष्टि होता है। यदि ये तीनों भाव नहीं होते हैं तो जाना जाता कि इसके सम्यक्त्व का यथार्थपना नहीं है।

देहमिलियं पि जीवं, णियणाणगुणेण मुणदि जो भिण्णं।
जीवमिलियं पि देहं, कंचुवसरिसं वियाणेई ॥३१६॥

देह से चेतन मिला, पर ज्ञान से जाने जुदा।
तन भी मिला है जीव से, पर भिन्न जाने वस्त्र सा ॥३१६॥

अन्वयार्थ : [**देहमिलियं पि जीवं**] यह जीव, देह से मिला हुआ है [**णियणाणगुणेण जो भिण्णं मुणदि**] तो भी अपना ज्ञानगुण है; इसलिए अपने को देह से भिन्न ही जानता है। [**जीवमिलियं पि देहं**] देह, जीव से मिला हुआ है [**कंचुवसरिसं वियाणेई**] तो भी उसको कंचुक (कपड़े का जामा) समान जानता है। जैसे, देह से वस्त्र भिन्न है, वैसे जीव से देह भिन्न है — ऐसे जानता है।

णिज्जियदोसं देवं, सव्वजिवाणं दया वरं धम्मं।
वज्जियगंथं च गुरुं, जो मण्णदि सो हु सद्दिट्ठी ॥३१७॥

निर्दोष ही है देव, सबकी दया ही उत्तम धरम।
निर्ग्रन्थ को ही गुरु माने, वही सम्यग्दृष्टि है ॥३१७॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो जीव [**णिज्जियदोसं देवं**] दोषरहित को तो देव,

[**सव्वजिवाणं दया वरं धम्मं**] सब जीवों की दया को श्रेष्ठ धर्म, और [**वज्जियगंथं च गुरुं**] निर्ग्रन्थ को ही गुरु [**मण्णदि**] मानता है, [**सो हु सद्दिट्ठी**] वही प्रगटरूप से सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ : सर्वज्ञ वीतराग अठारह दोषरहित देव को माने; अन्य दोषसहित देवों को संसारी जाने; वे मोक्षमार्गी नहीं हैं – ऐसा जानकर उनकी वन्दना–पूजा नहीं करे। अहिंसारूप धर्म जाने, जो यज्ञादि देवताओं के लिए पशुघात कर, बलि चढ़ाने को धर्म मानते हैं, उसको पाप ही जानकर आप उसमें प्रवृत्ति नहीं करे। जो ग्रन्थ, अर्थात् परिग्रहसहित, अनेक भेष अन्य मतवालों के हैं तथा कालदोष से जैनमत में भी भेष हो गये हैं, उन सबको भेषी–पाखण्डी जाने; उनकी वन्दना पूजा नहीं करे। सब परिग्रह से रहित हों, उन ही को गुरु मानकर, वन्दना–पूजा करे क्योंकि देव–गुरु–धर्म के आश्रय से ही मिथ्या–सम्यक् उपदेश प्रवर्तता है; इसलिए कुदेव–कुधर्म–कुगुरु को वन्दना–पूजना तो दूर ही रहो; उनके संसर्ग ही से श्रद्धान बिगड़ता है। इस कारण समयग्दृष्टि उनकी सङ्गति भी नहीं करता है। स्वामी समन्तभद्र आचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में ऐसे कहा है कि 'सम्यग्दृष्टि, कुदेव–कुत्सित आगम, और कुलिङ्गी भेषी को भय से, आशा से, तथा लोभ से भी प्रणाम और उनकी विनय नहीं करता है' – इनके संसर्ग से श्रद्धान बिगड़ता है; धर्म की प्राप्ति तो दूर ही रही – ऐसा जानना चाहिए।

अब, मिथ्यादृष्टि कैसा होता है, सो कहते हैं —

दोससहियं पि देवं, जीवहिंसाइसंजुदं धम्मं।
गंथासत्तं च गुरुं, जो मण्णदि सो हु कुद्दिट्ठी॥३१८॥

जो दोष युक्त को देव माने, जीव-हिंसा में धरम।
परिग्रही को गुरु माने, वही मिथ्यादृष्टि है॥३१८॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो जीव, [**दोससहियं पि देवं**] दोषसहित देव को तो देव; [**जीवहिंसाइसंजुद धम्मं**] जीव–हिंसादि सहित को धर्म; [**गंथासत्तं च गुरुं**] परिग्रह में आसक्त को गुरु [**मण्णदि**] मानता है, [**सो हु कुद्दिट्ठी**] वह प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि है।

भावार्थ : भाव मिथ्यादृष्टि तो अदृष्ट छिपा हुआ मिथ्यात्वी है। जो कुदेव – राग

-द्वेष-मोह आदि अठारह दोषसहित को देव मानकर पूजा-वन्दना करता है; हिंसा-जीवघात से धर्म मानता है और परिग्रह में आसक्त भेषियों को (पाखण्डियों को) गुरु मानता है, वह प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि है।

अब, कोई प्रश्न करता है कि व्यन्तर आदि देव, लक्ष्मी देते हैं, उपकार करते हैं; उनकी पूजा-वन्दना करें या नहीं? उसको उत्तर देते हैं —

ण य को वि देदि लच्छी, ण को वि जीवस्स कुणदि उवयारं।
उवयारं अवयारं, कम्मं पि सुहासुहं कुणदि॥३१९॥

लक्ष्मी देता न कोई, करे-नहिं उपकार रे।
उपकार या अपकार करते, कर्म शुभ या अशुभ रे॥३१९॥

अन्वयार्थ : [**को वि लच्छी ण य देदि**] इस जीव को कोई व्यन्तर आदि देव, लक्ष्मी नहीं देते हैं, [**जीवस्स को वि उवयारं ण कुणदि**] इस जीव का कोई अन्य उपकार भी नहीं करता है; [**सुहासुहं कम्मं पि उवयारं अवयारं कुणदि**] जीव के पूर्व संचित शुभ-अशुभकर्म ही उपकार तथा अपकार करते हैं।

भावार्थ : कोई ऐसा मानते हैं कि व्यन्तर आदि देव हमको लक्ष्मी देते हैं, हमारा उपकार करते हैं; इसलिए हम उनकी पूजा-वन्दना करते हैं, सो वह मिथ्याबुद्धि है। पहले तो इस पञ्चम काल में प्रत्यक्ष कोई व्यन्तर आदि लक्ष्मी आदि देता हुआ देखा नहीं, उपकार करता हुआ भी दिखाई नहीं देता। यदि ऐसा होता तो पूजनेवाले दरिद्री, रोगी, दु:खी क्यों रहते? इसलिए वृथा कल्पना करते हैं। परोक्ष में भी ऐसा नियमरूप सम्बन्ध दिखाई नहीं देता है कि उनकी पूजा करते हैं, उनके अवश्य उपकारादिक होवें ही; इसलिए यह मोही जीव, वृथा ही विकल्प उत्पन्न करता है। जो पूर्व सञ्चित शुभाशुभ कर्म हैं, वे ही इस प्राणी के सुख-दु:ख, धन-दरिद्र, जीवन, मरण को करते हैं।

भत्तीए पुज्जमाणो, विंतरदेवों वि देदि जदि लच्छी।
तो किं धम्मं कीरदि, एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी॥३२०॥

भक्ति करने से यदि व्यन्तर धनादिक दें हमें।
तो क्यों करे हम धर्म ऐसा, ज्ञानिजन चिन्तन करें॥३२०॥

अन्वयार्थ : [**सद्दिट्ठी एवं चिंतेइ**] सम्यग्दृष्टि ऐसा विचार करता है कि [**जदि भत्तीए पुज्जमाणो विंतरदेवो वि लच्छी देदि**] यदि भक्ति से पूजा हुआ व्यन्तरदेव ही लक्ष्मी को देता है [**तो धम्मं किं कीरदि**] तो धर्म क्यों किया जाता है ?

भावार्थ : कार्य तो लक्ष्मी से है, सो व्यन्तरदेव ही पूजा करने से लक्ष्मी दे देवे तो धर्म सेवन क्यों करना ? मोक्षमार्ग के प्रकरण में संसार की लक्ष्मी का अधिकार भी नहीं है; इसलिए सम्यग्दृष्टि तो मोक्षमार्गी है; संसार की लक्ष्मी को हेय जानता है, उसकी वाँछा ही नहीं करता है। यदि पुण्य के उदय से मिले तो मिलो और न मिले तो मत मिलो; मोक्षसिद्धि की ही भावना करता है; इसलिए संसारी देवादिक को पूजा-वन्दना क्यों करें ? कभी भी पूजा-वन्दना नहीं करता है।

अब सम्यग्दृष्टि के विचार कहते हैं —

जं जस्स जम्मिदेसे, जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं, जम्मंवा अहव मरणं वा॥३२१॥
तं तस्स तम्मि देसे, तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कदिवारेदुं, इंदो वा तह जिणिंदो वा॥३२२॥

जिस जीव के जिस देश में जिस विधि से जिस काल में।
जन्म अथवा मरण जाने, नियत जिन भगवान ने॥३२१॥
उस जीव के उस देश में, उस विधि से उस समय ही।
कौन कर सकता निवारण, इन्द्र या जिनराज ही॥३२२॥

अन्वयार्थ : [**जं जस्स जम्मिदेसे**] जो जिस जीव के, जिस देश में, [**जम्मि कालम्मि**] जिस काल में, [**जेण विहाणेण**] जिस विधान से [**जम्मं वा अहव मरणं वा**] जन्म तथा मरण, उपलक्षण से दुःख-सुख, रोग-दारिद्र्य आदि [**जिणेण**] सर्वज्ञदेव के द्वारा [**णादं**] जाना गया है, [**णियदं**] वह वैसे ही नियम से होगा। [**तं तस्स तम्मि देसे**] वह ही उस प्राणी के, उस ही देश में, [**तम्मि कालम्मि**] उस ही काल में, [**तेण विहाणेण**] उस ही विधान से नियम से होता है, [**इदो वा तह जिणिंदो वा को वारेदुं सक्कदि**] उसका इन्द्र, जिनेन्द्र, तीर्थङ्करदेव कोई भी निवारण नहीं कर सकते।

भावार्थ : सर्वज्ञदेव, सब द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अवस्था जानते हैं; इसलिए जो सर्वज्ञ के ज्ञान में झलका है - (जाना गया है), वह नियम से होता है; उसमें हीनादिक कुछ भी नहीं होता है - सम्यग्दृष्टि ऐसा विचारता है।

अब कहते हैं कि ऐसा निश्चय करते हैं, वे तो सम्यग्दृष्टि हैं और इसमें संशय करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं —

एवं जो णिच्चयदो, जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो, जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी॥३२३॥

इस तरह जाने नियत, सब द्रव्य की पर्याय सब।
वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि जो, शङ्कित वही कुदृष्टि है॥३२३॥

अन्वयार्थ : [**जो एवं णिच्चयदो**] जो इस प्रकार के निश्चय से [**दव्वाणि सव्वपज्जाए जाणदि**] सब द्रव्य-जीव-पुद्गल, धर्म-अधर्म, आकाश काल इनको और इन द्रव्यों की सब पर्यायों को सर्वज्ञ के आगम के अनुसार जानता है-श्रद्धान करता है, [**सो सुद्धो सद्दिट्ठी**] वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है; [**जो संकदि सो हु कुदिट्ठी**] जो ऐसा श्रद्धान नहीं करता है; शङ्का (सन्देह) करता है, वह सर्वज्ञ के आगम से प्रतिकूल है, प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि है।

अब कहते हैं कि जो विशेषतत्त्व को नहीं जानता है और जिनवचनों में आज्ञामात्र श्रद्धान करता है, वह भी श्रद्धावान् कहलाता है।

जो ण विजाणइ तच्चं, सो जिणवयणे करेदि सद्दहणं।
जं जिणवरेहि भणियं, तं सव्वमहं समिच्छामि॥३२४॥

जो तत्त्व को नहिं जानता, जिन वचन में श्रद्धा करे।
जिनदेव ने जैसा कहा, वह सभी स्वीकृत है मुझे॥३२४॥

अन्वयार्थ : [**जो तच्चं ण विजाणइ**] जो जीव, अपने ज्ञान के विशिष्ट क्षयोपशम बिना तथा विशिष्ट गुरु के संयोग बिना, तत्त्वार्थ को नहीं जान पाता है, [**सो जिणवयणे सद्दयणं करेदि**] वह जीव, जिनवचनों में ऐसा श्रद्धान करता है कि [**जं जिणवरेहि**

भणियं] जो जिनेश्वरदेव ने तत्त्व कहा है, [**तं सव्वमहं समिच्छामि**] उस सब ही को मैं भले प्रकार इष्ट (स्वीकार) करता हूँ; इस तरह भी श्रद्धावान् होता है।

भावार्थ : जो जिनेश्वर के वचनों की श्रद्धा करता है कि जो सर्वज्ञदेव ने कहा है, वह सब ही मेरे इष्ट है, ऐसी सामान्यश्रद्धा से भी आज्ञासम्यक्त्व कहा गया है।

अब, सम्यक्त्व का माहात्म्य तीन गाथाओं में कहते हैं —

रयणाण महारयणं, सव्वजोयाण उत्तमं जोयं।
रिद्धिण महा रिद्धि, सम्मत्तं सव्वसिद्धियरं॥३२५॥

सब रत्न में यह श्रेष्ठ है, सब योग में उत्तम यही।
सब ऋद्धियों में महा ऋद्धि, सिद्धिप्रद सम्यकत्व ही॥३२५॥

अन्वयार्थ : [**रयणाण महारयणं**] सम्यक्त्व, रत्नों में तो महारत्न है; [**सव्वजोयाण उत्तमं जोयं**] सब योगों में (वस्तु की सिद्धि करने के उपाय, मन्त्र, ध्यान आदि में), उत्तम योग है क्योंकि सम्यक्त्व से मोक्ष की सिद्धि होती है; [**रिद्धिण महारिद्धि**] अणिमादिक ऋद्धियों में, सबसे बड़ी ऋद्धि है; [**सव्वसिद्धियरं सम्मत्तं**] अधिक क्या कहें, सब सिद्धियों को करनेवाला यह सम्यक्त्व ही है।

सम्मत्तगुणप्पहाणो, देविंदणरिंदवंदिओ होदि।
चत्तवयो वि य पावइ, सग्गसुहं उत्तमं विविहं॥३२६॥

सम्यकत्व गुण युत मनु वन्दित देव-इन्द्र नरेन्द्र से।
व्रत रहित है पर विविध उत्तम स्वर्ग सुख पावे अरे॥३२६॥

अन्वयार्थ : [**सम्मत्तगुणप्पहाणो**] सम्यक्त्वगुणसहित जो पुरुष प्रधान है, वह [**देविंदणरिंदवंदिओ होदि**] देवों के इन्द्र तथा मुनष्यों के इन्द्र चक्रवर्ती आदि से वन्दनीय होता है; [**चत्तवयो वि य उत्तमं विविहं सग्गसुहं पावइ**] व्रतरहित होने पर भी उत्तम अनेक प्रकार के स्वर्ग के सुख पाता है।

भावार्थ : जिसमें सम्यक्त्वगुण होता है, वह प्रधान पुरुष है, वह देवेन्द्रादिक से पूज्य होता है। सम्यक्त्व में देव ही की आयु बँधती है; इसलिए व्रतरहित के भी स्वर्ग ही का जाना मुख्यरूप से कहा है। सम्यक्त्वगुणप्रधान का ऐसा भी अर्थ होता है कि जो

सम्यक्त्व, पच्चीस मल दोषों से रहित हो, अपने निःशङ्कित आदि गुणों सहित हो तथा संवेगादि गुणसहित हो – ऐसे सम्यक्त्व के गुणों से प्रधान पुरुष होता है; वह देवेन्द्रादि से पूज्य होता है और स्वर्ग को प्राप्त करता है।

सम्माइट्ठी जीवो, दुग्गदिहेदूं ण बंधदे कम्मं।
जं बसुभवेसु बद्धं, दुक्कम्मं तं पि णासेदि॥३२७॥

बाँधे न सम्यग्दृष्टि दुर्गति हेतु कर्मों को अरे।
जो पूर्व में बाँधे हुए, दुष्कर्म उनका क्षय करे॥३२७॥

अन्वयार्थ : [**सम्माइट्ठी जीवो**] सम्यग्दृष्टि जीव, [**दुग्गदिहेदुं कम्मं ण बंधदे**] दुर्गति के कारणभूत अशुभकर्म को नहीं बाँधता है [**जं बहुभवेसु बद्ध दुक्कम्म तं पि णासेदि**] और जो अनेक पूर्व भवों में बाँधे हुए पापकर्म हैं, उनका भी नाश करता है।

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि, मरकर द्वितीयादिक नरकों में नहीं जाता है; ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी देव नहीं होता है; स्त्रियों में उत्पन्न नहीं होता है; पाँच स्थावर, विकलत्रय, असैनी निगोद, म्लेच्छ, कुभोगभूमि – इन सबमें उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि इसके अनन्तानुबन्धी के उदय के अभाव से दुर्गति के कारणभूत कषायों के स्थानकरूप परिणाम नहीं हैं।

यहाँ तात्पर्य यह है कि तीन काल और तीन लोक में सम्यक्त्व के समान कल्याणरूप अन्य पदार्थ नहीं है और मिथ्यात्व के समान शत्रु नहीं है; इसलिए श्रीगुरुओं का यह उपदेश है कि अपने सर्वस्व उद्यम / उपाय / यत्न द्वारा मिथ्यात्व का नाश कर, सम्यक्त्व को अङ्गीकार करना चाहिए। इस तरह गृहस्थधर्म के बारह भेदों में पहिला भेद, सम्यक्त्वसहितपना है, उसका वर्णन किया।

अब, प्रतिमा के ग्यारह भेदों के स्वरूप कहेंगे। पहले, दार्शनिक श्रावक का स्वरूप कहते हैं –

बहुतससमण्णिदं जं, मज्जं मंसादि णिंदिदं दव्वं।
जो ण य सेवदि णियदं, सो दंसणसावओ होदि॥३२८॥

त्रस घात से उत्पन्न मदिरा माँस निन्दित वस्तु को।
जो नियम से है त्यागता, वह दार्शनिक श्रावक अहा॥३२८॥

अन्वयार्थ : [बहुतससमण्णिदं जं मज्जं मंसादि णिंदिदं दव्वं] बहुत से त्रसजीवों के घात से उत्पन्न तथा मदिरा का और अति निन्दनीय माँस आदि द्रव्य का **[जो णियदं ण य सेवदि]** जो नियम से सेवन नहीं करता है – भक्षण नहीं करता है, **[सो दंसणसावओ होदि]** वह दार्शनिक श्रावक है।

भावार्थ : मदिरा और माँस तथा आदि शब्द से मधु और पञ्च उदम्बरफल – ये वस्तुएँ बहुत त्रसजीवों के घातसहित हैं; इसलिए दार्शनिक श्रावक, इनका भक्षण नहीं करता है। मद्य तो मन को मोहित करता है, तब धर्म को भूल जाता है। माँस, त्रसघात के बिना होता ही नहीं है। मधु की उत्पत्ति प्रसिद्ध है, वह भी त्रसघात का स्थान ही है। पीपल, बड़, पीलू फलों में प्रत्यक्ष त्रसजीव उड़ते हुए दिखायी देते हैं। अन्य ग्रन्थों में कहा है कि वे श्रावक के आठ मूलगुण हैं और इनको त्रसहिंसा के उपलक्षण कहे हैं; इसलिए जिन वस्तुओं में त्रसहिंसा बहुत होती है, वे श्रावक के लिए अभक्ष्य हैं; इस कारण उनका भक्षण करना योग्य नहीं है।

सात व्यसन, अन्यायप्रवृत्ति के मूल (जड़) हैं, उनका भी यहाँ त्याग कहा है। जुआ, माँस, मद्य, वेश्या, शिकार, चोरी, और परस्त्री – ये सात व्यसन कहे गये हैं। व्यसन नाम आपत्ति और कष्ट का है। इनके सेवन करनेवालों पर भी अपत्तियाँ आती हैं। इनके सेवनकर्ता राजा व पञ्चों से दण्ड योग्य होते हैं तथा इनका सेवन भी आपत्ति और कष्टरूप है। श्रावक, ऐसे अन्याय के कार्य नहीं करता है। यहाँ दर्शन नाम सम्यक्त्व का है तथा धर्म की मूर्ति सबके देखने में आती है, उसका भी नाम दर्शन है, सो सम्यग्दृष्टि होकर जिनमत का सेवन करे और अभक्ष्य तथा अन्याय अङ्गीकार करे तो सम्यक्त्व को तथा जिनमत को लज्जित करे – मलिन करे; इसलिए इनको नियमपूर्वक छोड़ने पर ही दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक होता है।

दिढचित्तो जो कीरदि, एवं पि वयं णियाणपरिहीणो।
वेरग्गभावियमणो, सो वि य दंसणगुणो होदि॥३२९॥

दृढ़ चित हो इस नियम को, वाञ्छा रहित जो पालता।
वैराग्य भीने हृदय से, वह दार्शनिक क्षावक कहा॥३२९॥

अन्वयार्थ : [**एवं पि वयं**] ऐसे व्रत को, [**दिढचित्तो**] दृढ़चित्त हो [**णियाण-परिहीणो**] निदान (इस लोक-पर लोक के भोगों की वाँछा) से रहित हो, [**वेरग्ग -भावियमणो**] वैराग्य से भावित (गीला) मनवाला होता हुआ, [**जो कीरदि**] जो सम्यग्दृष्टि पुरुष करता है, [**सो विय दंसणगुणो होदि**] वह दार्शनिकश्रावक होता है।

भावार्थ : पहली गाथा में श्रावक का स्वरूप कहा था, उसी के तीन विशेषण और जानना चाहिए। पहले तो दृढ़चित्त हो - परीषह आदि कष्ट आवे तो व्रत की प्रतिज्ञा से चलायमान नहीं हो। निदानरहित हो - इस लोक सम्बन्धी यश, सुख, सम्पत्ति और पर लोक सम्बन्धी शुभगति की वाँछारहित हो। वैराग्यभावना से जिसका चित्त सिञ्चित हो। अभक्ष्य तथा अन्याय को अत्यन्त अनर्थ जानकर त्याग करे। ऐसा नहीं कि ये शास्त्र में त्यागने योग्य कहे हैं; इसलिए छोड़ना चाहिए और परिणामों में राग मिटे नहीं। त्याग के अनेक आशय होते हैं, सो इसके अन्य आशय नहीं होता; केवल तीव्रकषाय के निमित्त महापाप जानकर त्याग करता है। इनका त्याग करने पर ही आगामी प्रतिमा के उपदेश-योग्य होता है। व्रती निःशल्य कहा गया है; इसलिए शल्यरहित त्याग होता है। इस तरह दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक के स्वरूप का वर्णन किया।

अब, दूसरी व्रतप्रतिमा का स्वरूप कहते हैं —

पंचाणुव्वयधारी, गुणवयसिक्खावएहिं संजुत्तो।
दिढचित्तो समजुत्तो, णाणी वयसावओ होदि॥३३०॥

जो पाँच अणुव्रत तीन गुणव्रत चार शिक्षाव्रत तथा।
दृढ़ चित्त समताभावयुत, ज्ञानी व्रती श्रावक कहा॥३३०॥

अन्वयार्थ : [**पंचाणुव्वयधारी**] जो पाँच अणुव्रतों का धारक हो; [**गुणवय सिक्खावणहिं संजुत्तो**] तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतसहित हो; [**दिढचित्तो समजुत्तो**] दृढ़चित्त हो और समताभावसहित हो; [**णाणी वयसावओ होदि**] ज्ञानवान् हो, वह व्रतप्रतिमा का धारक श्रावक है।

भावार्थ : यहाँ अणु शब्द, अल्प का वाचक है। जो पाँचों पापों में स्थूल पाप हैं, उनका त्याग है; इसलिए अणुव्रत संज्ञा है। गुणव्रत और शिक्षाव्रत, उन अणुव्रतों की रक्षा करनेवाले हैं; इसलिए अणुव्रती उनको भी धारण करता है। इसके प्रतिज्ञा, व्रत की है, सो दृढ़चित्त है – कष्ट, उपसर्ग–परीषह आने पर भी शिथिल नहीं होता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव से व्रत होते हैं और प्रत्याख्यानावरण कषाय के मन्द उदय से होते हैं; इसलिए उपशमभावसहित विशेषण दिया है। यद्यपि दर्शनप्रतिमा धारी के भी अप्रत्याख्यानावरण का अभाव तो हो गया है परन्तु प्रत्याख्यानवरण कषाय के तीव्र स्थानों के उदय से अतीचाररहित पाँच अणुव्रत नहीं होते हैं; इसलिए अणुव्रत संज्ञा नहीं आती है और स्थूल अपेक्षा से उसके भी त्रस भक्षण के त्याग से अणुत्व है। व्यसनों में चोरी का त्याग है; इसलिए असत्य भी इसमें गर्भित है। परस्त्री का त्याग है, वैराग्यभावना है; इसलिए परिग्रह की मूर्छा के स्थान भी घटते हैं; परिमाण भी करता है परन्तु निरतिचार नहीं होते; इसीलिए व्रतप्रतिमा नाम नहीं पाता है। ज्ञानी विशेषण भी उचित ही है। सम्यग्दृष्टि हो, व्रत का स्वरूप जानकर गुरुओं की दी हुई प्रतिज्ञा लेता है, वह ज्ञानी ही है – ऐसा जानना चाहिए।

अब, पाँच अणुव्रतों में से पहले अहिंसाणुव्रत को कहते हैं —

जो वावरइ सदओ, अप्पाणसमं परं पि मण्णंतो।
निंदणगरहणजुत्तो, परिहरमाणो महारंभे॥३३१॥
तसघादं जो ण करदि, मणवयकाएहि णेव कारयदि।
कुव्वंतं पि ण इच्छदि, पढमवयं जायदे तस्स॥३३२॥

दया युत वर्तन करे, निजसम गिने जो अन्य को।
निन्दा तथा गर्हा करे, त्यागे बहु आरम्भ को॥३३१॥
त्रस घात जो न करे करावे, काय मन वच में नहीं।
अनुमोदना नहिं करे पर की, वह है अहिंसाणुव्रती॥३३२॥

अन्वयार्थ : [**तसघादं जो ण करदि मणवयकाएहि णेव कारयदि**] जो श्रावक, त्रसजीव – दोइन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय का घात मन–वचन–काय से आप नहीं करे, दूसरे से नहीं करावे [**कुव्वतं पि ण इच्छदि**] और अन्य को करते हुए को इष्ट

(अच्छा) नहीं माने, [**तस्स पढमवयं जायदे**] उसके पहिला अहिंसाणुव्रत होता है। कैसा है श्रावक ? [**जो सदओ वावरइ**] जो दयासहित तो व्यापार कार्य में प्रवृत्ति करता है; [**अप्पाणसमं परं पि मण्णतो**] सब प्राणियों को अपने समान मानता है; [**निंदणगर -हणजुत्तो**] निन्दा और गर्हासहित है; (व्यापारादि कार्यों में हिंसा होती है, उसकी अपने मन में) निन्दा करता है। गुरुओं के पास अपने पापों को कहता है, सो गर्हासहित है (जो पाप लगते हैं, उनकी गुरुओं की आज्ञाप्रमाण आलोचना-प्रतिक्रमण आदि प्रायश्चित लेता है) [**महारंभे परिहरमाणो**] जिनमें त्रसहिंसा बहुत होती हो - ऐसे बड़े व्यापार आदि के कार्य-महारम्भों को छोड़ता हुआ प्रवृत्ति करता है।

भावार्थ : त्रसघात, स्वयं नहीं करता है; दूसरे से नहीं कराता है, करते हुए को अच्छा नहीं मानता है। परजीवों को अपने समान जाने, तब परघात नहीं करे। बड़े आरम्भ, जिनमें त्रसघात बहुत हो, उनको छोड़ो और अल्प आरम्भ में त्रसघात हो, उसकी निन्दा-गर्हा करे, आलोचन-प्रतिक्रमण-प्रायश्चितादि करे। इनके अतिचार, अन्य ग्रन्थों में कहे हैं, उनको टाले (न लगने दे)। इस गाथा में अन्य जीव को अपने समान जानना कहा है, उसमें अतिचार टालना भी आ गया। पर के वध-बन्धन-अतिभारारोपण, अन्नपाननिरोध में दुःख होता है, सो आप समान पर को जाने, तब क्यों करे।

अब, दूसरे सत्याणुव्रत को कहते हैं —

हिंसावयणं ण वयदि, कक्कसवयणं पि जो ण भासेदि।
णिट्ठुरवयणं पि तहा, ण भासदे गुज्झवयणं पि॥३३३॥
हिदमिदवयणं भासदि, संतोसकरं तु सव्वजीवाणं।
धम्मपयासणवयणं, अणुव्वदि होदि सो बिदियो॥३३४॥

हिंसावचन नहिं कहे, कर्कश वचन भी कहना नहीं।
निष्ठुर वचन भी नहिं कहे, नहिं कहे गुप्त वचन कभी॥३३३॥
हित मित वचन प्रिय बोलता, सब जीव को सन्तोष कर।
वाणी प्रकाशे धर्म को, वह सत्य अणुव्रत युत प्रवर॥३३४॥

अन्वयार्थ : [**जो हिंसावयणं ण वयदि**] जो हिंसा के वचन नहीं कहता है,

[**कक्कसवयणं पि ण भासेदि**] कर्कश वचन भी नहीं कहता है [**णिट्ठुरवयणं पि तहा**] तथा निष्ठुर वचन भी नहीं कहता है [**गुज्झवयणं पि ण भासदे**] और पर का गुह्य (गुप्त) वचन भी नहीं कहता है। तो कैसे वचन कहे ? [**हिदमिदवयणं भासदि**] पर के हितरूप तथा प्रमाणरूप वचन कहता है, [**तु सव्वजीवाणं संतोसकरं**] सब जीवों को सन्तोष करनेवाले वचन कहता है, [**धम्मपयासणवयणं**] धर्म का प्रकाश करनेवाले वचन कहता है, [**सो बिदिओ अणुव्वदि होदि**] वह पुरुष, दूसरे अणुव्रत का धारी होता है।

भावार्थ : असत्य वचन, अनेक प्रकार का है, उनका पूर्ण त्याग तो सकलचारित्र के धारक मुनियों के ही होता है और अणुव्रतों में तो स्थूल का ही त्याग है; इसलिए जिस वचन से परजीव का घात हो – ऐसे हिंसा के वचन नहीं कहता है। जो वचन दूसरे को कटु लगते हों, सुनते ही क्रोधादिक उत्पन्न हो जाए, – ऐसे कर्कश वचन नहीं कहता है। दूसरे के उद्वेग उत्पन्न हो जाए, भय उत्पन्न हो जाए, शोक उत्पन्न हो जाए, कलह उत्पन्न हो जाए – ऐसे निष्ठुर वचन नहीं कहता है। दूसरे के गुप्त मर्म का प्रकाश करनेवाले वचन नहीं कहता है। उपलक्षण से और भी ऐसे वचन, जिनसे दूसरों का बुरा होता हो – ऐसे वचन नहीं कहता है। यदि कहता है तो हित-मित वचन कहता है। सब जीवों को सन्तोष उत्पन्न हो – ऐसे वचन कहता है। जिनसे धर्म का प्रकाश हो – ऐसे वचन कहता है। इसके अतीचार, अन्य ग्रन्थों में मिथ्या-उपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार, साकारमन्त्रभेद कहे हैं, सो गाथा में विशेषण कहे, उनमें सब गर्भित हो गये। यहाँ तात्पर्य यह है कि जिससे परजीव का बुरा हो जाए, अपने ऊपर आपत्ति आ जाए तथा वृथा प्रलाप के वचनों से अपने प्रमाद बढ़े – ऐसा स्थूल असत्यवचन अणुव्रती नहीं कहता है, दूसरे से नहीं कहलाता है और कहनेवाले को अच्छा नहीं मानता है, उसके दूसरा अणुव्रत होता है।

अब, तीसरे अचौर्याणुव्रत को कहते हैं —

जो बहुमुल्लं वत्थुं, अप्पमुल्लेण णेय गिण्हेदि।
वीसरियं पि ण गिण्हदि, लाहे थोये वि तूसेदि॥३३५॥

जो परदव्वं ण हरइ मायालोहेण कोहमाणेण।
दिढचित्तो सुद्धमई, अणुव्वई सो हवे तिदिओ॥३३६॥

बहुमूल्य वस्तु ग्रहे नहीं, जो अल्प मूल्यों में कभी।
सन्तुष्ट है कम लाभ में, लेता न भूली वस्तु भी॥३३५॥
जो क्रोध माया मान अथवा, लोभ से परद्रव्य को।
हरता नहीं, दृढ़ चित्त, शुद्धमती अणुव्रती तीसरा॥३३६॥

अन्वयार्थ : [**जो बहुमुल्लं वत्थुं अप्पमुलेण णेय गिण्हेदि**] जो श्रावक, बहुमूल्य वस्तु को अल्पमूल्य में नहीं लेता है; [**वीसरियं पि ण गिण्हदि**] किसी की भूली हुई वस्तु को नहीं लेता है; [**लाहे थोये वि तुसेदि**] व्यापार में थोड़े ही लाभ से सन्तोष करता है; [**जो मायालोहेण कोहमाणेण परदव्वं ण हरइ**] जो कपट से, लोभ से, क्रोध से, मान से दूसरे के द्रव्य का हरण नहीं करता है; [**दिढचित्तो**] जो दृढ़चित्त है (कारण पाकर प्रतिज्ञा का भङ्ग नहीं करता है); [**सुद्धमई**] शुद्ध बुद्धिवाला होता है, [**सो तिदिओ अणुव्वई हवे**] वह तीसरे अणुव्रत का धारक श्रावक होता है।

भावार्थ : सात व्यसनों के त्याग में चोरी का त्याग तो होता ही है, उसमें यहाँ इतनी विशेषता है कि बहुमूल्य वस्तु को अल्पमूल्य में लेने से झगड़ा उत्पन्न होता है; न मालूम किस कारण से दूसरा (देनेवाला) अल्पमूल्य में देता है। दूसरे की भूली हुई वस्तु को, मार्ग में पड़ी हुई वस्तु को भी नहीं लेता है; यह नहीं सोचता है कि दूसरा नहीं जानता है; इसलिए किसका डर है? व्यापार में थोड़े ही लाभ पर सन्तोष करता है, बहुत लोभ से अनर्थ उत्पन्न होते हैं। कपटपूर्वक किसी का धन नहीं लेता है। किसी ने अपने पास रखा हो तो उसको न देने के भाव नहीं रखता है। लोभ तथा क्रोध से दूसरे के धन को बलात् (जबरदस्ती) नहीं लेता है और घमण्ड में आकर यह भी नहीं कहता है कि हम बहादुर हैं, हमने लिया तो लिया, हमारा कोई क्या कर सकता है? – आदि। इस तरह दूसरों का धन स्वयं नहीं लेता है; न दूसरों के द्वारा लिवाता है, और इस तरह लेनेवालों को अच्छा भी नहीं मानता है।

अन्य ग्रन्थों में इस व्रत के पाँच अतिचार कहे गये हैं – चोर को चोरी के लिये प्रेरणा करना; उसका लाया हुआ धन लेना; राज्यविरूद्ध कार्य करना; व्यापार के तोल बाट हीनाधिक रखना; अल्पमूल्य की वस्तु को बहुमूल्यवाली वस्तु बताकर व्यापार करना –

ये पाँच अतिचार हैं, सो गाथा में दिये गये विशेषणों में गर्भित हैं। इस तरह जो निरतिचार स्तेयत्यागव्रत का पालन करता है, वह तीसरे अणुव्रत का धारक श्रावक होता है।

अब, ब्रह्मचर्याणुव्रत का स्वरूप कहते हैं —

असुइमयं दुग्गंधं, महिलादेहं विरच्चमाणो जो।
रूवं लावण्णं पि य, मणमोहणकारणं मुणइ॥३३७॥
जो मण्णदि परमहिलं, जणणीबहिणीसुआइसारिच्छं।
मणवयणे कायेण वि, बंभवई सो हवे थूलो॥३३८॥

अशुचिमयी दुर्गन्धयुत, नहिं रक्त महिला देह में।
रूप अरु लावण्य को, मन-मोह कारक जो गिने॥३३७॥
जो मानता पर नारी को, माता बहिन पुत्री समा।
मन-वचन-काया से उसे, स्थूल ब्रह्मचारी कहा॥३३८॥

अन्वयार्थ : [जो महिलादेहं असुइमयं दुग्गंधं] जो श्रावक, स्त्री के शरीर को अशुचिमयी-दुर्गन्धियुक्त जानता हुआ, **[रूवं लावण्णं पि य मणमोहणकारणं मुणइ]** उसके रूप तथा लावण्य को भी मन में मोह उत्पन्न करने का कारण जानता है; **[विरच्चमाणो]** इसलिए विरक्त होता हुआ प्रवर्तता है। **[जो परमहिलं जणण बहिणीसुआइसारिच्छं मणवयणे कायेण वि मण्णदि]** जो परस्त्री में, बड़ी को माता समान, बराबर को बहिन समान, छोटी को पुत्री के समान मन वचन काय से जानता है, **[सो थूलो बंभवई हवे]** वह स्थूल ब्रह्मचर्य का धारक श्रावक है।

भावार्थ : इस व्रत का धारी परस्त्री का तो मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से त्याग करता है और स्वस्त्री में सन्तोष रखता है। तीव्रकाम के विनोद-क्रीड़ारूप प्रवृत्ति नहीं करता है क्योंकि स्त्री के शरीर को अपवित्र-दुर्गन्धयुक्त जानकर, वैराग्यभावनारूप भाव रखता है और काम की तीव्रवेदना इस स्त्री के निमित्त से होती है; इसलिए उसके रूप-लावण्य आदि चेष्टा को मन को मोहने का, ज्ञान को भुलाने का, काम को उत्पन्न कराने का कारण जानकर विरक्त रहता है, वह चतुर्थ अणुव्रत का धारक होता है।

इसके अतिचार–पर विवाह करना, दूसरे विवाहित–अविवाहित स्त्री का संसर्ग, काम की क्रीड़ा, काम का तीव्र अभिप्राय – ये कहे गये हैं; ये, 'स्त्री के शरीर से विरक्त रहना' इस विशेषण में गर्भित हैं। परस्त्री का त्याग तो पहली प्रतिमा के सात व्यसनों के त्याग में आ चुका है। यहाँ पर अति तीव्रकाम की वासना का भी त्याग है; इसलिए अतिचाररहित व्रत पालन करता है। अपनी स्त्री में भी तीव्र रागी नहीं होता है। ऐसे ब्रह्मचर्यव्रत का वर्णन किया।

अब, परिग्रहपरिमाण नामक पाँचवें अणुव्रत का स्वरूप कहते हैं —

जो लोहं णिहणित्ता, संतोसरसायणेण संतुट्ठो।
णिहणदि तिण्हा दुट्ठा, मण्णंतो विणस्सरं सव्वं॥३३९॥

जो परिमाणं कुव्वदि, धणधाणसुवण्णखित्तमाईणं।
उवओगं जाणित्ता, अणुव्वदं पंचमं तस्स॥३४०॥

जो हीन करता लोभ को, सन्तोष रस से तुष्ट हो।
जानता नश्वर सभी को, नशे तृष्णा-दुष्ट को॥३३९॥

धन धान्य कंचन क्षेत्र आवश्यक लगे उन द्रव्य का।
परिमाण जो करता वही, अपरिग्रही अणुव्रती कहा॥३४०॥

अन्वयार्थ : [**जो लोहं णिहणित्ता**] जो पुरुष, लोभ कषाय को हीन कर, [**संतोसरसायणेण संतुट्ठो**] सन्तोषरूप रसायन से सन्तुष्ट होकर, [**सव्वं**] सब [**धण्धाणसुवण्ण-खित्तमाईण**] धन्य, धान्य, सुवर्ण, क्षेत्र आदि परिग्रह को [**विणस्सरं मण्णतो**] विनाशीक मानता हुआ, [**दुट्ठा तिण्हा णिहणदि**] दुष्ट तृष्णा को अतिशयरूप से नाश करता है, [**उवओगं जाणिता**] धन्य, धान्य, सुवर्ण, क्षेत्र आदि परिग्रह का अपना उपयोग (आवश्यकता एवं सामर्थ्य) जानकर, उसके अनुसार [**जो परिमाणं कुव्वदि**] जो परिमाण करता है, [**तस्स पंचमं अणुव्वदं**] उसके पाँचवाँ अणुव्रत होता है।

भावार्थ : अन्तरङ्ग का परिग्रह तो लोभ तृष्णा है, उसको क्षीण करता है तथा बाह्य का परिग्रह परिमाण करता है और दृढ़चित्त से प्रतिज्ञा भङ्ग नहीं करता है, वह अतिचाररहित पञ्चम अणुव्रती होता है। इस तरह पाँच अणुव्रतों का निरतिचार पालन करता है, वह व्रतप्रतिमाधारी श्रावक है। ऐसे पाँच अणुव्रतों का वर्णन किया।

अब, इन व्रतों की रक्षा करनेवाले सात शील हैं, उनका वर्णन करेंगे। उनमें पहिले तीन गुणव्रत हैं, उसमें पहिले गुणव्रत को कहते हैं —

जह लोहणासणट्ठं, संगपमाणं हवेइ जीवस्स।
सव्वं दिसिसुपमाणं, तह लोहं णासए णियमा॥३४१॥
जं परिमाणं कीरदि, दिसाण सव्वाणं सुप्पसिद्धाणं।
उवओगं जाणित्ता, गुणव्वदं जाण तं पढमं॥३४२॥

ज्यों लोभ क्षय के लिए करते, परिग्रह परिमाण को।
त्यों सब दिशाओं में गमन, परिमाण नशे लोभ को॥३४१॥
जाने प्रयोजन गमन का, सब दिशाएँ सुप्रसिद्ध जो।
परिमाण जो करता वही, गुणव्रती पहला जान लो॥३४२॥

अन्वयार्थ : [**जह लोहणासणट्ठं**] जैसे, लोभ का नाश करने के लिए [**जीवस्स संगपमाणं हवेइ**] जीव के परिग्रह का परिमाण होता है, [**तह सव्वं दिसिसु पमाणं णियमा लोहं णासए**] वैसे ही सब दिशाओं में परिमाण किया हुआ भी नियम से लोभ का नाश करता है; [**सव्वाण सुप्पसिद्धाणं दिसाण**] इसलिए सब ही पूर्व आदि प्रसिद्ध दश दिशाओं का [**उवओगं जाणिता**] अपना उपयोग (प्रयोजन / कार्य) जानकर [**जं परिमाणं कीरदि**] जो परिमाण करता है, [**तं पढमं गुणव्वदं जाण**] वह पहिला गुणव्रत है।

भावार्थ : पहले पाँच अणुव्रत कहे गये हैं, ये गुणव्रत उनके उपकारी हैं। यहाँ गुण शब्द उपकारवाचक लेना चाहिए, सो लोभ का नाश करने के लिए, जैसे परिग्रह का परिमाण करता है; वैसे ही लोभ का नाश करने के लिये दिशा का भी परिमाण करता है। जहाँ तक का परिमाण किया है, उससे आगे यदि द्रव्य आदि की प्राप्ति होती है तो भी वहाँ नहीं जाता है, इस तरह से लोभ घटा (कम हुआ) और हिंसा का पाप भी परिमाण से आगे न जाने के कारण वहाँ सम्बन्धी नहीं लगता है; इसलिए परिमाण (मर्यादा) के बाहर महाव्रतसमान हुआ।

अब, दूसरे गुणव्रत–अनर्थदण्डविरति को कहते हैं —

कज्जं किंपि ण साहदि, णिच्चं पावं करेदि जो अत्थो।
सो खलु हवे अणत्थो, पंचपयारो वि सो विविहो॥३४३॥

किञ्चित प्रयोजन सिद्धि नहिं, उत्पन्न करता पाप ही।
हैं पाँच भेद अनर्थ होता, और विविध प्रकार का॥३४३॥

अन्वयार्थ : [**जो अत्थो कज्जं किंपि ण साहदि**] जो कार्य / प्रयोजन तो अपना कुछ सिद्ध करता नहीं है और [**णिच्चं पावं करेदि**] केवल पाप ही को उत्पन्न करता है, [**सो खलु अणत्थो हवे**] वह वास्तव में अनर्थ कहलाता है, [**सो पंचपयारो विविहो वि**] वह पाँच प्रकार का है तथा अनेक प्रकार का भी है।

भावार्थ : नि:प्रयोजन पाप लगाना, अनर्थदण्ड है, वह पाँच प्रकार का कहा गया है। अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादचर्या, हिंसाप्रदान, दु:श्रुतश्रवणादि, और भी अनेक प्रकार का है।

अब, पहले भेद को कहते हैं —

परदोसाण वि गहणं, परलच्छीणं समीहणं जं च।
परइत्थीअवलोओ, परकलहालोयणं पढमं॥३४४॥

पर-दोष को करना ग्रहण, पर-सम्पदा को चाहना।
पर-दार अरू पर-कलह लखना, प्रथम दण्ड-अनर्थ है॥३४४॥

अन्वयार्थ : [**परदोसाणं वि गहणं**] दूसरे के दोषों का ग्रहण करना, [**परलच्छी समीहणं जं च**] दूसरे की लक्ष्मी (धन-सम्पदा) की वाँछा करना, [**परइत्थीअवलोओ**] दूसरे की स्त्री को रागसहित देखना, [**परकलहालोयणं**] दूसरे की कलह को देखना इत्यादि कार्यों को करना, [**पढमं**] वह पहिला अनर्थदण्ड है।

भावार्थ : दूसरे के दोषों को ग्रहण करने से अपने भाव बिगड़ते हैं और अपना प्रयोजन कुछ सिद्ध होता नहीं है; दूसरे का बुरा होवे और अपनी दुष्टता सिद्ध होती है। दूसरे की सम्पदा देखकर आप उसकी इच्छा करे तो आपके कुछ आ नहीं जाता; बिना प्रयोजन के भाव ही बिगड़ते हैं। दूसरे की स्त्री को रागसहित देखने में भी आप त्यागी होकर बिना

प्रयोजन भाव क्यों बिगाड़ें ? दूसरे की कलह देखने में भी कुछ अपना कार्य सिद्ध नहीं होता है किन्तु अपने पर भी कुछ आपत्ति आ पड़ने की सम्भावना बन सकती है; ऐसे और भी काम जिनमें अपने भाव बिगड़ते हों, वहाँ अपध्यान नामका पहिला अनर्थदण्ड होता है सो अणुव्रतों का भङ्ग का कारण है। इसके छोड़ने पर व्रत दृढ़ रहते हैं।

अब, दूसरे पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड को कहते हैं —

जो उवएसो दिज्जइ, किसिपसुपालणवणिज्जपमुहेसु।
पुरिसित्थीसंजोए, अणत्थदंडो हवे बिदिओ ॥३४५॥

वाणिज्य कृषि पशु पालनादिक, नारी-नर संयोग का।
उपदेश दे इन पाप कर्मों का अनर्थदण्ड दूसरा ॥३४५॥

अन्वयार्थ : [**जो किसिपसुपालणवणिज्जपमुहेसु**] खेती करना, पशुओं का पालना, वाणिज्य करना - इत्यादि पापसहित कार्य तथा [**पुरिसित्थीसंजोए**] पुरुष-स्त्री का संयोग जैसे हो, वैसे करने आदि कार्यों का [**उवएसो दिज्जइ**] दूसरों को उपदेश देना - इनका विधान बताना, जिनमें अपना प्रयोजन कुछ सिद्ध नहीं होता हो केवल पाप ही उत्पन्न होता हो [**बिदिओ अणत्थदंडो हवे**] सो दूसरा पापोपदेश नामका अर्नथदण्ड है।

भावार्थ : दूसरे को पाप का उपदेश देने में अपने को केवल पाप ही बँधता है; इसलिए व्रत का भङ्ग होता है। इस कारण इसको छोड़ने से व्रतों की रक्षा होती है - व्रतों पर, गुण करता है, उपकार करता है; इसीलिए इसका नाम गुणव्रत है।

अब, तीसरे प्रमादचरित नामक अनर्थदण्ड के भेद को कहते हैं —

विहलो जो वावारो, पुढवीतोयाण अग्गिवाऊणं।
तह वि वणप्फदिछेदो, अणत्थदंडो हवे तिदिओ ॥३४६॥

पृथ्वी पवन जल अग्नि में, वर्तन करे जो व्यर्थ ही।
छेदे वनस्पति बिन प्रयोजन, अनर्थदण्डत तीजा कहें ॥३४६॥

अन्वयार्थ : [**जो पुढवीतोयाण अग्गिवाऊणं विहलो वावारो**] जो पृथ्वी, जल अग्नि, पवन - इनके व्यापार में विफल (बिना प्रयोजन) प्रवृत्ति करना [**तह वि**

वणप्फदिछेदो] तथा बिना प्रयोजन वनस्पति (हरितकाय) का छेदन-भेदन करना [**तिदिओ अणत्थदंडो हवे**] सो तीसरा प्रमादचरित नामक अनर्थदण्ड है।

भावार्थ : जो प्रमाद के वश होकर पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, हरितकाय की बिना प्रयोजन विराधना करता है, वहाँ त्रस-स्थावरों का घात ही होता है; अपना कार्य कुछ सिद्ध नहीं होता है; इसलिए इसके करने से व्रत का भङ्ग होता है और छोड़ने पर व्रत की रक्षा होती है।

अब, चौथे हिंसादान नामक अनर्थदण्ड को कहते हैं —

मज्जारपहुदिधरणं, आयुहलोहादिविक्कणं जं च।
लक्खाखलादिगहणं, अणत्थदंडो हवे तुरिओ ॥३४७॥

मार्जार आदिक पालना, व्यापार शस्त्रों का करे।
खल लाख आदिक ग्रहे, दे अनर्थदण्ड चतुर्थ है॥३४७॥

अन्वयार्थ : [**मज्जारपहुदिधरणं**] जो बिलाव आदि हिंसक जीवों का पालना; [**आयुहलोहादिविक्कणं ज च**] लोहे का तथा लोहे आदि के आयुधों का व्यापार करना - देना-लेना; [**लक्खाखलादिगहणं**] लाख, खल आदि शब्द से विष वस्तु आदि का लेना-देना - व्यापार करना, [**तुरिओ अणत्थडो हवे**] चौथा हिंसादान नामक अनर्थदण्ड है।

भावार्थ : हिंसक जीवों का पालन तो निःप्रयोजन और पाप प्रसिद्ध ही है। बहुत हिंसा के कारण शस्त्र, लोह, लाख आदि का व्यापार करना, देना-लेना करने में भी फल अल्प और पाप बहुत है; इसलिये अनर्थदण्ड ही है। इसमें प्रवृत्ति करने से व्रतभङ्ग होता है; छोड़ने पर व्रत की रक्षा होती है।

अब, दुःश्रुति नामक पाँचवें अनर्थदण्ड को कहते हैं —

जं सवणं सत्थाणं, भंडणवसियरणकामसत्थाणं।
परदोसाणं च तहा, अणत्थदंडो हवे चरमो ॥३४८॥

सुनना कुशास्त्र वशीकरण, या काम का वर्णन करे।
पर दोष सुनना और कहना, चरम दण्ड-अनर्थ है॥३४८॥

अन्वयार्थ : [**जं सत्थाणं भंडणवसियरणकामसत्थाणं सवणं**] जो सर्वथा एकान्तमतवालों के बनाये हुए कुशास्त्र तथा भांडक्रिया, हास्य, कौतूहल के कथन के शास्त्र, वशीकरणमन्त्र प्रयोग के शास्त्र तथा स्त्रियों की चेष्टा के वर्णनरूप कामशास्त्र आदि का सुनना –सुनाना, पढना–पढाना; [**परदोसाणं च तहा**] दूसरे के दोषों को कथा करना–सुनना, [**चरमो अणत्थदंडो हवे**] दुःश्रुतिश्रवण नामक अन्तिम पाँचवाँ अनर्थदण्ड है।

भावार्थ : खोटे शास्त्र सुनने–सुनाने, पढ़ने, बनाने से कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, केवल पाप ही होता है और आजीविका के निमित्त भी इनका व्यापार करना, श्रावक को योग्य नहीं है। व्यापार आदि की योग्य आजीविका ही श्रेष्ठ है। जिससे व्रत का भङ्ग होता हो, वह क्यों करे ? व्रत की रक्षा करना ही उचित है।

अब, इस अनर्थदण्ड के कथन का सङ्कोच करते हैं —

एवं पंचपयारं, अणत्थदंडं दुहावहं णिच्चं।
जो परिहरेदि णाणी, गुणव्वदी सो हवे बिदिओ ॥३४९॥

इन पाँच दण्ड–अनर्थ को, जो दुःख कारण जानता।
परिहार करता ज्ञानि जो, गुणव्रती श्रावक दूसरा ॥३४९॥

अन्वयार्थ : [**जो णाणी**] जो ज्ञानी श्रावक, [**एवं पंचपयारं**] इस प्रकार पाँच प्रकार के [**अणत्थदंडं दुहावहं णिच्चं परिहरेदि**] अनर्थदण्ड को निरन्तर दुःखों का उत्पन्न करनेवाला जानकर छोड़ता है, [**सो बिदिओ गुणव्वदी हवे**] वह दूसरे गुणव्रत का धारक श्रावक होता है।

भावार्थ : यह अनर्थदण्डत्याग नामक गुणव्रत, अणुव्रतों का बड़ा उपकारी है; इसलिए श्रावकों को अवश्य पालन करना योग्य है।

अब, भोगोपभोग नामक तीसरे गुणव्रत को कहते हैं —

जाणित्ता संपत्ती, भोयणतंबोलवत्थमादिणं।
जं परिमाणं कीरदि, भोउवभोयं वयं तस्स ॥३५०॥

सामर्थ्य अपनी जानकर, भोजन वसन ताम्बूल का।
परिमाण करता जो वही, भागोपभोग व्रती कहा ॥३५०॥

अन्वयार्थ : [संपत्ती जाणित्ता] जो अपनी सम्पदा सामर्थ्य जानकर **[भोयणतंबोल -वत्थमादिणं]** भोजन, ताम्बूल, वस्त्र आदि का **[जं परिमाणं कीरदि]** परिमाण (मर्यादा) करता है, **[तस्स भोउवभोयं वयं]** उस श्रावक के भोगोपभोग नामक गुणव्रत होता है।

भावार्थ : भोजन, ताम्बूल आदि एक बार भोगने योग्य पदार्थों को भोग कहते हैं और वस्त्र, आभूषण आदि बार-बार भोगने योग्य पदार्थों को उपभोग कहते हैं। इनका परिमाण यमरूप (यावज्जीवन) भी होता है और नित्य नियमरूप भी होता है, सो यथाशक्ति अपनी सामग्री का विचार कर यमरूप कर लेवे तथा नियमरूप भी जो कहे हैं, उनका नित्य प्रयोजन के अनुसार नियम कर लिया करे; यह अणुव्रत भी बड़ा उपकारी है।

अब, भोगोपभोग की प्राप्त वस्तु को छोड़ता है, उसकी प्रशंसा करते हैं —

जो परिहरेइ संतं, तस्स वयं थुव्वदे सुरिंदो वि।
जो मणलड्डू व भक्खदि, तस्स वयं अप्पसिद्धियरं ॥३५१॥

जो प्राप्त भोगों को तजे, उसकी प्रशंसा सुर करें।
मन-मादकों को नहिं भखे, व्रत अल्पसिद्धि प्रद करे ॥३५१॥

अन्वयार्थ : [जो संतं परिहरेइ] जो पुरुष, होती हुई वस्तु को छोड़ता है, **[तस्स वयं सुरिंदो वि थुव्वदे]** उसके व्रत की सुरेन्द भी प्रशंसा करते हैं **[जो मणलड्डु व भक्खदि तस्स वयं उप्पसिद्धियरं]** और अनुपस्थित वस्तु का छोड़ना तो ऐसा है, जैसे लड्डू तो हों नहीं और सङ्कल्पमात्र से मन में लड्डू खावे, वैसा है। इसलिए अनुपस्थित वस्तु को तो सङ्कल्पमात्र छोड़ना है, इस प्रकार से छोड़ना व्रत तो है परन्तु अल्प सिद्धि करनेवाला है, उसका फल थोड़ा है।

यहाँ कोई **प्रश्न** करे कि भोगोपभोगपरिमाण को तीसरा गुणव्रत कहा है परन्तु तत्वार्थसूत्र में तो तीसरा गुणव्रत, देशव्रत को कहा है; भोगोपभोग परिमाण को तीसरा शिक्षाव्रत कहा है सो यह कैसे?

समाधान - यह आचार्यों की विवक्षा की विचित्रता है। स्वामी समन्तभद्र आचार्य ने भी रत्नकरण्डश्रावकाचार में यहाँ के अनुसार ही कहा है, इसलिए इसमें विरोध नहीं है। यहाँ तो अणुव्रत के उपकारी की अपेक्षा ली है और वहाँ सचित्तादि भोग छोड़ने की

अपेक्षा, मुनिव्रत की शिक्षा देने की अपेक्षा ली है, कुछ विरोध नहीं है। ऐसे तीन गुणव्रतों का वर्णन किया।

अब, चार शिक्षाव्रतों का व्याख्यान करेंगे। पहले सामायिक शिक्षाव्रत को कहते हैं —

सामाइयस्स करणं, खेत्तं कालं च आसणं विलओ।
साणवयणकायसुद्धी, णायव्वा हुंति सत्तेव॥३५२॥

क्षेत्र आसन काल लय, मन वचन तन की शुद्धता।
ये सप्त सामग्री कही हैं, करे सामायिक यथा॥३५२॥

अन्वयार्थ : [**सामाइयस्स करणं**] प्रथम ही सामायिक के करने में [**खेत्तं कालं च आसणं विलओ**] क्षेत्र, काल, आसन, और लय; [**मणवयणकायसुद्धी**] मन-वचन - काय की शुद्धता, [**सत्तेव णायव्वा हुंति**] ये सात सामग्री जानने योग्य हैं।

अब, सामायिक के क्षेत्र और काल को कहते हैं —

जत्थ ण कलयलसद्दो, वहुजणसंघट्टणं ण जत्थत्थि।
जत्थ ण दंसादीया एस पसत्थो हवे देसो॥३५३॥
पुव्वण्हो, मज्झण्हे, अवरण्हे तिहि वि णालिया छक्को।
सामाइयस्स कालो, सविणयणिस्सेस-णिदिट्ठो॥३५४॥

जहाँ कोलाहन न हो, नहिं भीड़ का आवागमन।
डाँस आदिक हो नहीं, उस जगह सामायिक करें॥३५३॥
पूर्वाह्न अरु मध्याह्न अरु, अपराह्न में छह छह घड़ी।
यह समय सामायिक कहा, गणधर प्रभु ने विनय से॥३५४॥

अन्वयार्थ : [**जत्थ ण कलयलसद्दो**] जहाँ कलकलाट (कोलाहल) शब्द नहीं हो, [**बहुजणसंघट्टणं ण जत्थत्थि**] जहाँ बहुत लोगों के संघट्ट (समूह) का आना-जाना न हो, [**जत्थ ण दंसादीया**] जहाँ डाँस, मच्छर, चिउंटी आदि शरीर को बाधा पहुँचानेवाले जीव न हों - [**एस पसत्थो हवे देसो**] ऐसा क्षेत्र, सामायिक करने के योग्य है।

[**पुव्वण्हे मज्झण्हे**] सबेरे, दोपहर, [**अवरण्हे तिहि वि णालियाछक्को**] और शाम, इन तीनों कालों में छह घड़ी का काल, [**सामाइयस्स कालो**] सामायिक का काल है, [**सविणयणिस्सेणिद्दिट्ठो**] यह विनयसहित गणधरदेवों ने कहा है।

भावार्थ : जहाँ चित्त को कोई क्षोभ उत्पन्न कराने के कारण न हों, वहाँ सामायिक करना चाहिए।

सूर्योदय के तीन घड़ी पहिले से तीन घड़ी बाद तक, छह घड़ी पूर्वाह्नकाल है। दोपहर (बारह बजे) के तीन घड़ी पहिले से तीन घड़ी बाद तक, छह घड़ी मध्याह्नकाल है। सूर्यास्त के तीन घड़ी पहिले से तीन घड़ी बाद तक, छह घड़ी अपराह्नकाल है। यह सामायिक का उत्कृष्ट काल है। मध्यम, चार घड़ी और जघन्य, दो घड़ी का काल कहा गया है। एक घड़ी चौबीस मिनिट की होती है।

अब, आसन तथा लय, और मन-वचन-काय की शुद्धता को कहते हैं —

बंधित्ता पज्जंकं, अहवा उड्ढेण उब्भओ ठिच्चा।
कालपमाणं किच्चा, इंदियवावारवज्जिदो होउं ॥३५५॥
जिणवयणेयग्गमणो, संवुडकाओ य अंजलिं किच्चा।
ससरूवे संलीणो, वंदणअत्थं विचिंतंतो ॥३५६॥
किच्चा देसपमाणं, सव्वं सावज्जवज्जिदो होउं।
जो कुव्वदि सामइयं सो मुणिसरिसो हवे ताव ॥३५७॥

पर्यंक आसन बैठ कर, या खड़े होकर थिर रहे।
काल मर्यादा करे, व्यापार-इन्द्रिय नहिं करे ॥३५५॥
जिन वचन में एकाग्र हो कर, हाथ की अंजूली करे।
निज रूप में हो लीन, वन्दन पाठ-अर्थ विचारिये ॥३५६॥
क्षेत्र का परिमाण कर, सावध योग सभी तजे।
करे सामायिक व्रती, उस समय वह मुनिसम बने ॥३५७॥

अन्वयार्थ : [**जो पज्जंकं बंधित्ता**] जो पर्यङ्कासन बाँधकर, [**अहवा उड्ढेण उब्भओ ठिच्चा**] अथवा खड्गासन से स्थित होकर (खड़े होकर), [**कालपमाणं**

किच्चा] काल का प्रमाण कर, [**इंदियवावारवज्जिदो होउं**] इन्द्रियों का व्यापार, विषयों में न होने के लिये [**जिणवयणेयग्गमणो**] जिनवचन में एकाग्र मन कर, [**संपुडकाओ य अंजलि किच्चा**] काय को सङ्कोच कर हाथों से अञ्जुलि बनाकर [**ससरूवे संलीणे**] अपने स्वरूप में लीन होकर, [**वंदणअत्थं विचिंतंतो**] अथवा सामायिक के वन्दना के पाठ के अर्थ का चिन्तवन करता हुआ प्रवृत्ति करता है, [**देसपमाणं किच्चा**] क्षेत्र का परिमाण कर [**सव्वं सावज्जवज्जिदो होउं**] सर्व सावद्ययोग (गृह व्यापारादि पापयोग) का त्यागकर, सर्व पापयोग से रहित होकर [**सामइयं कुव्वदि**] सामायिक करता है, [**सो ताव मुणिसरिसो हवे**] वह श्रावक उस समय मुनि के समान है।

भावार्थ : यह शिक्षाव्रत है, यह इस अर्थ को सूचित करता है कि सामायिक में सब राग–द्वेष से रहित हो, सब बाह्य की पापयोग क्रियाओं से रहित हो, अपने आत्मस्वरूप में लीन हुआ मुनि प्रवर्ता रहा है, यह सामायिकचारित्र मुनि का धर्म है। यह ही शिक्षा, श्रावक को दी जाती है कि सामायिक काल की मर्यादा कर, उस काल में मुनि की तरह प्रवर्तता है क्योंकि मुनि होने पर इसी तरह सदा रहना होगा, इसी अपेक्षा से उस काल मुनि के समान श्रावक को कहा है।

अब, दूसरे शिक्षाव्रत प्रोषधोपवास को कहते हैं —

ण्हाणविलेवणभूसण,-इत्थीसंसग्गगंधधूपदीवादि।
जो परिहरेदि णाणी, वेरग्गाभरणभूसणं किच्चा ॥३५८॥
दोसु वि पव्वेसु सया, उववासं एयभत्त णिव्वियडी।
जो कुणइ एवमाई, तस्स वयं पोसहं बिदियं ॥३५९॥

स्नान लेपन आभरण, दीपादि नारी सङ्ग को।
परित्यजे जो ज्ञानी धरे, वैराग्य आभूषण अहो ॥३५८॥
पक्ष के दो पर्व में, उपवास एकासन करे।
आहार नीरस ग्रहे, शिक्षाव्रत वही दूजा करे ॥३५९॥

अन्वयार्थ : [**जो णाणी**] जो ज्ञानी श्रावक [**दोसु वि पव्वेसु सया**] एक पक्ष में पर्व अष्टमी–चतुर्दशी के दिन [**ण्हाणविलेवणभूसणइत्थीसंसग्गंधधूपदीवादि परिहरेदि**]

स्नान, विलेपन, आभूषण, स्त्री का संसर्ग, धूप, दीप आदि भोगोपभोग वस्तुओं को छोड़ता है [**वेरग्गाभरणभूसणं किच्चा**] और वैराग्यभावना के आभरण से आत्मा को शोभायमान कर, [**उववास एयभत्त णिव्वियडी जो एवमाई कुणई**] उपवास, एक वक्त नीरस आहार करता है तथा आदि शब्द से कांजी करता है (केवल भात और जल ही ग्रहण करता है), [**तस्स पोसहं वयं बिदियं**] उसके प्रोषधोपवासव्रत नामक शिक्षाव्रत होता है।

भावार्थ : जैसे सामायिक करने को काल का नियम कर, सब पापयोगों से निवृत्त हो एकान्त स्थान में धर्मध्यान करता हुआ बैठता है; वैसे ही सब गृहकार्य का त्याग कर, समस्त भोग-उपभोग सामग्री को छोड़कर सप्तमी, तेरस के दोपहर दिन के बाद एकान्त स्थान में बैठे, धर्मध्यान करता हुआ सोलह पहर तक मुनि की तरह रहे, नौमी, पूर्णमासी की दोपहर में प्रतिज्ञा पूर्ण होने पर गृहकार्य में लगे, उसके प्रोषधव्रत होता है। अष्टमी, चतुर्दशी के दिन उपवास की सामर्थ्य न हो तो एक बार भोजन करे, नीरस भोजन, कांजी आदि अल्प आहार कर ले, समय धर्मध्यान में बितावे। सोलह पहर आगे प्रोषध प्रतिमा में कहेंगे, वैसे ही करे परन्तु यहाँ गाथा में न कही; इसलिए सोलह पहर का नियम नहीं है। यह भी मुनिव्रत की शिक्षा ही है।

अब, अतिथिसंविभाग नामक तीसरे शिक्षाव्रत को कहते हैं —

तिविहे पत्तम्मि सया, सद्धाइगुणेहिं संजुदो णाणी।
दाणं जो देदि सयं, णवदाणविहीहिं संजुत्तो ॥३६०॥
सिक्खावयं च तदियं, तस्स हवे सव्वसोक्खसिद्धियरं।
दाणं चउव्विहं पि य, सव्वे दाणाण सारयरं ॥३६१॥

तीन पात्रों के लिए, श्रद्धादि गुण से युक्त हो।
दान नवधा भक्ति संयुत, स्वयं जो देता अहो ॥३६०॥
दान चार प्रकार देना, दान सब में सार है।
यह तृतीय शिक्षाव्रत कहा, सब सिद्धि सुख दातार है ॥३६१॥

अन्वयार्थ : [**जो णाणी**] जो ज्ञानी श्रावक [**तिविहे पत्तम्मि सया सद्धाइगुणेहिं संजदो**] उत्तम, मध्यम, जघन्य तीन प्रकार के पात्रों के लिए दाता के श्रद्धा आदि गुणों से

युक्त होकर, [**णवदाणविहीहिं संजुत्तो सयं दाणं देदि**] नवधाभक्ति से संयुक्त होता हुआ, नित्यप्रति अपने हाथ से दान देता है, [**तस्स तदियं सिक्खावयं हवे**] उस श्रावक के तीसरा शिक्षाव्रत होता है। वह दान कैसा है ? [**दाणं चउव्विहं पि य**] आहार, अभय, औषध, शास्त्रदान के भेद से चार प्रकार का है। [**सव्वे दाणाण सारयरं**] अन्य लौकिक धनादिक के दानों में अतिशयरूप से सार है, उत्तम है, [**सव्वसोक्खसिद्धियरं**] सब सिद्धि और सुख को करनेवाला है।

भावार्थ : तीन प्रकार के पात्रों में उत्कृष्ट तो मुनि; मध्यम अणुव्रती श्रावक; जघन्य अविरत सम्यग्दृष्टि है। दाता के सात गुण श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा, शक्ति ये सात हैं तथा अन्य प्रकार भी कहे गये हैं, जैसे – इस लोक के फल की वांछा न करे, क्षमावान् हो, कपटरहित हो, अन्यदाता से ईर्ष्या न करे, दिए हुए का विषाद न करे, देकर हर्ष करे, गर्व न करे; इस तरह भी सात कहे गये हैं। प्रतिग्रह, उच्च स्थान, पादप्रक्षालन, पूजा करना, प्रमाण करना, मन की शुद्धता, वचन की शुद्धता, काय की शुद्धता, आहार की शुद्धता – ये नवाधभक्ति हैं। ऐसे दाता के गुणसहित पात्र को नवधाभक्ति से नित्य चार प्रकार का दान देता है, उसके तीसरा शिक्षाव्रत होता है। यह भी मुनित्व शिक्षा के लिये है कि देना सीखे, क्योंकि वैसे ही अपने को मुनि होने पर लेना होगा।

अब, आहार आदि दानों का माहात्म्य कहते हैं —

भोयणदाणेण सोक्खं, ओसहदाणेण सत्थदाणं च।
जीवाण अभयदाणं, सुदुल्लहं सव्वदाणेसु ॥३६२॥

आहार से सब सुखी हों, औषधि तथा है ज्ञान दान।
सर्व दानों में सुदुर्लभ, प्राणियों को अभयदान ॥३६२॥

अन्वयार्थ : [**भोयणदाणेण सोक्खं**] भोजनदान से सबको सुख होता है, [**ओसह-दाणेण सत्थदाणं च**] औषधदानसहित शास्त्रदान [**जीवाण अभयदाणं**] और जीवों को अभयदान, [**सव्वदाणेण सुदुल्लहं**] सब दानों से दुर्लभ है, उत्तम दान है।

भावार्थ : यहाँ अभयदान को सबसे श्रेष्ठ कहा है।

अब, आहारदान को प्रधान करके कहते हैं —

भोयणदाणे दिण्णे, तिण्णि वि दाणाणि होंति दिण्णाणि।
भुक्खतिसाएवाही, दिणे दिणे होंति देहीणां॥३६३॥
भोयणाबलेण साहू, सत्थं संवेदि रत्तिदिवसं पि।
भोयणदाणे दिण्णे, पाण वि य रक्खिया होंति॥३६४॥

आहार देने में सहज ही शेष तीनों दान हों।
क्योंकि प्रतिदिन क्षुत् तृषादिक रोग होते जीव को॥३६३॥
आहार बल से साधु निशदिन शास्त्र अभ्यासी रहें।
आहार देने से जगत में प्राणी भी जीवित रहें॥३६४॥

अन्वयार्थ : [**भोयणदाणे दिण्णे तिण्णि वि दाणाणि होंति दिण्णाणि**] भोजन दान देने पर तीनों ही दान दिये हुए हो जाते हैं, [**भुक्खतिसाएवाही देहीणं दिणे दिण होंति**] क्योंकि भूख-प्यास नाम के रोग, प्राणियों के दिन-प्रतिदिन होते हैं; [**भोयणवलेण साहू रत्तिदिवसं पि सत्थं संवेदि**] भोजन के बल से साधु, रात-दिन शास्त्र का अभ्यास करता है, [**भोयणदाणे दिण्णे पाणा वि य रक्खिया होंति**] भोजन के देने से प्राणों की रक्षा होती है। इस तरह भोजनदान में औषध, शास्त्र, अभयदान ये तीनों ही दिये हुए जानना चाहिए।

भावार्थ : भूख-तृषा (प्यास) का रोग मिटाने से तो आहारदान ही औषधदान हुआ। आहार के बल से शास्त्राभ्यास सुख से होने के कारण ज्ञानदान भी यही हुआ। आहार ही से प्राणों की रक्षा होती है; इसलिए यही अभयदान हुआ। इस तरह इस दान में तीनों ही गर्भित हो गये।

अब, आहार आदि दानों का माहात्म्य कहते हैं —

इहपरलोयणिरीहो, दाणं जो देदि परमभत्तीए।
रयणत्तये सुठविदो, संघो सयलो हवे तेण॥३६५॥
उत्तमपत्तविसेसे, उत्तमभत्तीए उत्तमं दाणं।
एयदिणे वि य दिण्णं, इंदसुहं उत्तमं देदि॥३६६॥

इस लोक अरु परलोक फल वाञ्छा रहित अति भक्ति से।
दान जो देता सकल संघ रत्नत्रय में थिर करे॥३६५॥
विशेष उत्तम पात्र को, दे दान उत्तम भक्ति से।
एक दिन भी दे यदि, तो इन्द्रसुख उत्तम लहे॥३६६॥

अन्वयार्थ : [**जो इहपरलोयणिरीहो परमभत्तीए दाणं देदि**] जो पुरुष (श्रावक), इस लोक-पर लोक के फल की वाँछा से रहित होकर, परम भक्ति से संघ के लिए दान देता है, [**तेण सयलो संघो रयणत्तये सुठविदो हवे**] उस पुरुष ने सकल संघ को रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) में स्थापित किया; [**उत्तमपत्तविसेसे उत्तमभत्तीए उत्तमं दाणं**] उत्तम पात्र विशेष के लिये उत्तम भक्ति से उत्तम दान [**एयदिणे वि य दिण्णं इंदसुहं उत्तम देदि**] एक दिन भी दिया हुआ, उत्तम इन्द्रपद के सुख को देता है।

भावार्थ : दान के देने से चतुर्विध संघ की स्थिरता होती है; इसलिए दान के देनेवाले ने मोक्षमार्ग ही चलाया - ऐसा कहना चाहिए। उत्तम ही पात्र, उत्तम ही दाता की भक्ति और उत्तम ही दान, सब ऐसी विधि मिले तो उसका उत्तम ही फल होता है / इन्द्रादि पद का सुख मिलता है।

अब, चौथे देशावकाशिक शिक्षाव्रत को कहते हैं —

पुव्वपमाणकदाणं, सव्वदिसीणं पुणो वि संवरणं।
इंदियविसयाण तहा, पुणो वि जो कुणदि संवरणं॥३६७॥
वासादिकयपमाणं, दिणे दिणे लोहकामसमणट्ठं।
सावज्जवज्जणट्ठं, तस्स चउत्थं वयं होदि॥३६८॥

पूर्वकृत परिमाण दश दिशि को पुनः सीमित करे।
पञ्च इन्द्रिय विषय के परिमाण को सीमित करे॥३६७॥
काम लोभादिक शमन हिंसादि कार्य निरोध को।
काल मर्यादा करे, शिक्षव्रती चौथा अहो॥३६८॥

अन्वयार्थ : [**पुव्वपमाणकदाणं सव्वदिसीणं पुणो वि संवरणं**] श्रावक ने जो

पहिले सब दिशाओं का परिमाण किया था, उसका और भी संवरण करे (संकोच करे) **[इंदियविसयाण तहा पुणो वि जो संवरणं कुणदि]** और वैसे ही पहिले इन्द्रियों के विषयों का परिमाण, भोगोपभोगपरिमाण में किया था, उसका और संकोच करे। किस तरह ? सो कहते है – **[वासादिकयपमाणं दिणे दिणे लोहकामसमणट्ठं]** वर्ष आदि तथा दिन प्रतिदिन काल की मर्यादा लेकर करे। इसका प्रयोजन यह है कि अन्तरङ्ग में तो लोभकषाय और काम (इच्छा) के शमन करने (घटाने) के लिये **[सावज्जवज्जणट्ठं तस्स चउत्थं वयं होदि]** तथा बाह्य में पाप हिंसादिक के वर्जने (रोकने) के लिये करता है, उस श्रावक के चौथा देशावकाशिक नाम का शिक्षाव्रत होता है।

भावार्थ : पहले दिग्व्रत में मर्यादा की थी, वह तो नियमरूप थी। अब यहाँ उसमें भी काल की मर्यादा लेकर घर, हाट (बाजार) गाँव आदि तक की गमनागमन की मर्यादा करे तथा भोगोपभोगव्रत में यमरूप इन्द्रियविषयों की मर्यादा की थी, उसमें भी काल की मर्यादा लेकर नियम करे। इस व्रत में सत्रह नियम कहे गये हैं, उनका पालन करना चाहिए। प्रतिदिन मर्यादा करते रहना चाहिए। इससे लोभ का तथा तृष्णा (वाँछा) का सङ्कोच होता है; बाह्य हिंसादि पापों की हानि होती है। इस प्रकार चार शिक्षाव्रतों का वर्णन किया। ये चारों ही श्रावक को अणुव्रत यत्न से पालने की तथा महाव्रत के पालने की शिक्षारूप हैं।

अब, अन्तसल्लेखना को संक्षेप से कहते हैं —

वारसवएहिं जुत्तो, जो संलेहणं करेदि उवसंतो।
सो सुरसोक्खं पाविय, कमेण सोक्खं परं लहदि॥३६९॥

बारह व्रतों से युक्त उपशमभावमय सल्लेखना।
जो करे सुर सुख प्राप्त कर, क्रम से परम सुख पाएगा॥३६९॥

अन्वयार्थ : **[जो]** जो श्रावक, **[वारसवएहिं जुत्तो]** बारह व्रतसहित **[उवसंतो संलेहणं करेदि]** अन्त समय में उपशमभावों से युक्त होकर सल्लेखना करता है, **[सो सुरसोक्खं पाविय]** वह स्वर्ग के सुख पाकर **[कमेण परं सोक्खं लहदि]** अनुक्रम से उत्कृष्ट सुख, अर्थात् मोक्षसुख को पाता है।

भावार्थ : सल्लेखना नाम कषायों को और काय को क्षीण करने का है। श्रावक,

बारह व्रतों का पालन करे और मरण समय जाने, तब सावधान हो, सब वस्तुओं से ममत्व छोड़, कषायों को क्षीण कर उपशमभाव (मन्दकषाय) रूप होकर रहे और काय को अनुक्रम से ऊनोदर नीरस आदि तपों से क्षीण करे। इस तरह काय को क्षीण करने से शरीर में मल-मूत्र के निमित्त से जो रोग होते हैं, वे रोग उत्पन्न नहीं होते हैं। अन्त समय असावधान नहीं होता है। ऐसे सल्लेखना करे। अन्त समय सावधान हो अपने स्वरूप में तथा अरहन्त-सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप के चिन्तवन में लीन हो और व्रतरूप (संवररूप) परिणामसहित होता हुआ, पर्याय को छोड़ता है तो स्वर्ग के सुखों को पाता है, वहाँ भी यह वाँछा रहती है कि मनुष्य होकर व्रतों का पालन करूँ। इस तरह अनुक्रम से मोक्षसुख की प्राप्ति होती है।

एक्कं पि वयं विमलं, सिद्दिट्ठी जइ कुणेदि दिढचित्तो।
तो विविहरिद्धिजुत्तं, इंदत्तं पावए णियमा॥३७०॥

दृढ़ चित्त हो यदि एक व्रत भी, निरतिचार ग्रहण करे।
सदृष्टि बहुविध ऋद्धियुत, देवेन्द्र होवे नियम से॥३७०॥

अन्वयार्थ : [**सद्दिट्ठी**] सम्यग्दृष्टि जीव, [**दिढचित्तो**] दृढ़चित्त होकर [**जइ**] यदि [**एक्कं पि वयं विमलं कुणेदि**] एक भी व्रत का अतिचाररहित निर्मल पालन करता है [**तो विविहरिद्धिजुत्तं इंदत्तं णियमा पावए**] तो अनेक प्रकार की ऋद्धियोंसहित इन्द्रपद को नियम से पाता है।

भावार्थ : यहाँ एक भी व्रत अतिचाररहित पालन करने का फल, इन्द्रपद नियम से कहा है। सो ऐसा आशय सूचित होता है कि व्रतों के पालने के परिणाम सबके समानजाति के हैं। जहाँ एक व्रत को दृढ़चित्त से पालता है, वहाँ अन्य उसके समानजातीय व्रत पालने के लिए अविनाभावीपना है; इसलिए सब ही व्रत पाले हुए कहलाते हैं। ऐसा भी है कि एक आखड़ी (त्याग) को अन्त समय दृढ़चित्त से पकड़, उसमें लीन परिणाम होते हुए पर्याय छूटती है तो उस समय अन्य उपयोग के अभाव से बड़े धर्मध्यानसहित परगति को गमन होता है, तब उच्चगति ही पाता है, यह नियम है। ऐसे आशय से एक व्रत का ऐसा माहात्म्य कहा है। यहाँ ऐसा नहीं जानना चाहिये कि एक व्रत का तो पालन

करे और अन्य पाप सेवन किया करे, उसका भी ऊँचा फल होता है। इस तरह तो चोरी छोड़ दे और परस्त्री सेवन किया करे, हिंसादिक करता रहे, उसका भी उच्चफल हो , सो ऐसा नहीं है। इस तरह दूसरी व्रत का प्रतिमा का वर्णन किया। बारह भेदों की अपेक्षा यह तीसरा भेद हुआ।

अब, तीसरी सामायिकप्रतिमा का निरूपण करते हैं —

जो कुणदि काउसग्गं, वारसआवत्तसंजदो धीरो।
णमणदुगं पि कुणंतो, चदुप्पणामो पसण्णप्पा॥३७१॥
चिंतंतो ससरूबं, जिणबिंब अहव अक्खरं परमं।
ज्झायदि कम्मविवायं, तस्स वयं होदि सामइयं॥३७२॥

जो करे कार्यात्सर्ग अरु, आवर्त बारह धीर हो।
प्रणाम करता चार और, प्रसन्न चित्त हो नमन दो॥३७१॥
निजरूप का चिन्तन करे, जिनबिम्ब का अक्षर परम।
चिन्तन करे रस कर्म ध्यावे, उसे सामायिक व्रतम्॥३७२॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो सम्यग्दृष्टि श्रावक, [**वारसआवत्तसंजदो**] बारह आवर्तसहित [**चदुप्पणामो**] चार प्रणामसहित [**णमणमदुगं पि कुणंतो**] दो नमस्कार करता हुआ [**पसण्णप्पा**] प्रसन्न है आत्मा जिसकी, [**धीरो**] धीर (दृढ़चित्त) होकर [**काउसग्गं कुणदि**] कायोत्सर्ग करता है, [**ससरूवं चिंतंतो**] उस समय अपने चैतन्यमात्र शुद्धस्वरूप का ध्यान चिन्तवन करता हुआ रहे [**जिणबिबं अहव अक्खरं परमं**] अथवा जिनबिम्ब का चिन्तवन करता रहे अथवा परमेष्ठी के वाचक पञ्च नमस्कारमन्त्र का चिन्तवन करता रहे [**कम्मविवायं ज्झायदि**] अथवा कर्म के उदय के रस की जाति का चिन्तवन करता रहे, [**तस्स सामइयं वयं होदि**] उसके सामायिकव्रत होता है।

भावार्थ : सामायिक का वर्णन तो पहले शिक्षाव्रत में किया था कि 'राग-द्वेष' छोड़ समभावसहित क्षेत्र, काल, आसन, ध्यान, मन, वचन, काय की शुद्धता से काल की मर्यादा कर एकान्त स्थान में बैठे और सर्व सावद्ययोग का त्याग कर धर्मध्यानरूप प्रवर्ते

– ऐसा कहा था। यहाँ विशेष कहा कि काय से ममत्व छोड़ कायोत्सर्ग करे, आदि–अन्त में दो नमस्कार करे और चारो दिशाओं में सन्मुख होकर चार शिरोनति करे, एक एक शिरोनति में मन, वचन, काय की शुद्धता की सूचनारूप तीन–तीन आवर्त करे (इस तरह बारह आवर्त हुए) ऐसे करके काय से ममत्व छोड़, निजस्वरूप में लीन हो; जिनप्रतिमा में उपयोग लीन करे; पञ्च परमेष्ठी के वाचक अक्षरों का ध्यान करे। यदि उपयोग किसी बाधा की तरफ जाए तो उस समय, कर्म के उदय की जाति का चिन्तवन करे कि यह सातावेदनीय का फल है, यह असाता के उदय की जाति है, यह अन्तराय के उदय की जाति है – इत्यादि कर्म के उदय का चिन्तवन करे – यह विशेष कहा है।

इतना विशेष जानना चाहिए कि शिक्षाव्रत में तो मन, वचन, काय सम्बन्धी कोई अतिचार भी लगता है और काल की मर्यादा आदि क्रिया में हीनाधिक भी होता है परन्तु यहाँ प्रतिमा की प्रतिज्ञा है, सो अतिचाररहित शुद्ध पालन करता है; उपसर्ग आदि के निमित्त से टलता नहीं है – ऐसा जानना चाहिए।

इसके पाँच अतिचार हैं। मन, वचन, काय का चलायमान करना; अनादर करना; भूल जाना – ये अतिचार नहीं लगाता है। ऐसे सामायिकप्रतिमा का बारह भेद की अपेक्षा चौथे भेद का वर्णन हुआ।

अब, प्रोषधप्रतिमा का स्वरूप कहते हैं —

सत्तमितेरसिदिवसे, अवरणहे जाइऊण जिणभवणे।
किरियाकम्मं किच्चा, उववासं चउविहं गहिय॥३७३॥
गिहवावारं चत्तां रत्तिं गमिऊण धम्मचिंताए।
पच्चूसे उट्ठित्ता, किरियाकम्मं च कादूण॥३७४॥
सत्थब्भासेण पुणो, दिवसं गमिऊण वंदणं किच्चा।
रत्तिं णेदूण तहा, पच्चूदे वंदणं किच्चा॥३७५॥
पुज्जणविहिं च किच्चा, पत्तं गहिऊण णवरि तिवहंपि।
भुंजाविऊण पत्तं, भुंजंतो पोसहो होदि॥३७६॥

सप्तमी तेरस दिवस अपराह्न जाए जिन भवन।
कर क्रिया सामायिक गहे, उपवास तज चौ विध असन॥३७३॥
आरम्भ तज घर बार चिन्तन धर्म का निशि में करे।
पश्चात उठकर करे क्रिया, कर्म सामायिक सभी॥३७४॥
दिन बितावे शास्त्र के, अभ्यास वन्दन कर्म में।
रात्रि भी वैसी बिताए, प्रातः सामायिक करे॥३७५॥
पूजनादिक विधि करे, त्रय पात्र पड़गाहन करे।
भोजन करावे उन्हें फिर, खुद करे- यह प्रोषध कहा॥३७६॥

अन्वयार्थ : [सत्तमितेरसिदिवसे अवरण्हे जिणभवणे जाइऊण] सप्तमी त्रयोदशी के दिन दोपहर बाद जिन चैत्यालय में जाकर **[किरियाकम्मं किच्चा]** अपराह्न समय सामायिक आदि क्रिया कर्म कर, **[उववांस चउविहं गहिय]** चार प्रकार के आहार का त्याग कर, उपवास ग्रहण करता है। **[गिहवावारं चत्ता]** घर के समस्त व्यापार को छोड़कर, **[धम्मचिंताए रत्तिं गमिऊण]** धर्मध्यानपूर्वक तेरस और सप्तमी की रात्रि बिताता है। **[पच्चूहे उट्ठित्ता किरियाकम्मं च कादूण]** सबेरे उठकर सामायिक आदि क्रिया कर्म करता है। **[सत्थभावेण पुणो दिवसं बकतऊण वंदणं किच्चा]** अष्टमी चौदस का दिन शास्त्रभ्यास धर्मध्यानपूर्वक बिताकर, अपराह्न समय सामायिक आदि क्रिया कर्म कर, **[रत्ति णेदूण तहा पच्चूसे वंदणं किच्चा]** रात्रि वैसे ही धर्मध्यानपूर्वक बिताकर नौमी, पूर्णमासी के सबेरे के समय सामायिक-वन्दना कर **[पुज्जणविहिं च किच्चा]** पूजन विधान कर **[पत्तं गहिऊण णवरि तिविहं पि]** तीन प्रकार के पात्रों को पड़गाह कर, **[भुंजाविऊण पत्तं भुंजंतो पोसहो होदि]** उन पात्रों को भोजन कराकर, आप भोजन करता है, उसके प्रोषध होता है।

भावार्थ : पहले शिक्षाव्रत में प्रोषध की विधि कही थी, सो यहाँ भी जानना चाहिए। गृह-व्यापार, भोग-उपभोग की सामग्री सब का त्याग कर, एकान्त में जा बैठे और सोलह पहर धर्मध्यान में बितावे। यहाँ विशेष इतना जानना चाहिए कि वहाँ व्रत में सोलह पहर के काल का नियम नहीं कहा था और अतिचार भी लगते थे परन्तु यहाँ प्रतिमा की प्रतिज्ञा है, इसमें सोलह पहर का उपवास नियमपूर्वक अतिचाररहित करता है।

इसके पाँच अतिचार हैं – जो वस्तु जिस स्थान पर रखी हो, उसका उठाना, रखना तथा सोने बैठने का संथारा करना (आसन आदि बिछाना), सो बिना देखे, बिना जाने, बिना यत्न करे; इस तरह तीन अतिचार तो ये, तथा उपवास में अनादर करना, प्रीति नहीं रखना और क्रिया-कर्म को भूल जाना – ये पाँच अतिचार नहीं लगाता है।

अब, प्रोषध का माहात्म्य कहते हैं —

एक्कं पि णिरारंभं, उववांस जो करेदि उवसंतो।
बहुभवसंचियकम्मं, सो णाणी खवदि लीलाए॥३७७॥

आरम्भ बिन उपशान्त हो, उपवास करता एक भी।
पूर्वभव संचित करम, क्षय करे लीलामात्र में॥३७७॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो [**णाणी**] ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि), [**णिरारंभं**] आरम्भरहित [**उवसंतो**] उपशमभाव (मन्द कषाय) सहित होता हुआ, [**एक्कं पि उववांस करेदि**] एक भी उपवास करता है, [**सो बहुभवसंचियकम्मं लीलाए खवदि**] वह अनेक भवों से संचित किय (बाँधे) हुए कर्मों को लीलामात्र में क्षय करता है।

भावार्थ : कषाय, विषय और आहार का त्याग करके, इसलोक-परलोक के भोगों की आशा छोड़कर, एक भी उपवास करता है, वह बहुत कर्मों की निर्जरा करता है, तो जो प्रोषध -प्रतिमा धारण करके पक्ष में दो उपवास करता है, उसका क्या कहना! (वह तो) स्वर्गसुख भोग कर मोक्ष को पाता है।

अब, आरम्भ आदि के त्याग बिना उपवास करता है, उसके कर्मनिर्जरा नहीं होती है, ऐसा कहते हैं —

उववासं कुव्वंतो, आरंभं जो करेदि मोहादो।
सो णियदेहं सोसदि, ण झाडए कम्मलेसं पि॥३७८॥

उपवास करता हुआ भी, आरम्भ करता मोहवश।
देह शोषण करे वह, नहिं कर्म खिरते लेश भी॥३७८॥

अन्वयार्थ : [**जो उववांस कुव्वंतो**] जो उपवास करता हुआ, [**मोहादो आरंभं करेदि**] गृहकार्य के मोह से घर का आरम्भ करता है, [**सो णियदेहं सोसदि**] वह अपने

देह को क्षीण करता है; [**कम्मलेसं पि ण झाडए**] कर्मनिर्जरा तो लेशमात्र भी उसके नहीं होती है।

भावार्थ : जो विषय-कषाय छोड़े बिना, केवल आहारमात्र ही छोड़ता है, घर के सब कार्य करता है, वह पुरुष, केवल देह ही का शोषण करता है; उसके कर्मनिर्जरा लेशमात्र भी नहीं होती है।

अब, सचित्तत्यागप्रतिमा को कहते हैं —

सच्चित्तं पत्तफलं, छल्लीमूलं च किसलयं बीयं।
जो ण य भक्खदि णाणी, सचित्तविरदो हवे सो दु॥३७९॥

पत्र फल त्वक् छाल कोंपल बीज आदि सचित्त का।
भक्षण नहीं ज्ञानी करे जो, उसे सचित्त विरत कहा॥३७९॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो [**णाणी**] ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) श्रावक, [**पत्तफलं छल्लीमूलं च किसलयं बीयं सच्चित्तं**] पत्र, फल, त्वक्, छाल, मूल, कोंपल और बीज, इन सचित वस्तुओं को [**ण य भक्खदि**] नहीं खाता है, [**सो दु सचित्तवरिदो हवे**] वह सचित्तविरत श्रावक होता है।

भावार्थ : जीवसहित को सचित्त कहते हैं। इसलिए जो पत्र, फल, छाल, मूल, बीज, कोंपल इत्यादि हरी सचित्त को नहीं खाता है, वह सचित्तविरतप्रतिमा का धारक श्रावक होता है।*

जो ण य भक्खेदि सयं, तस्स ण अण्णस्स जुज्जदे दाउं।
भुत्तस्स भोजिदस्सहि, णत्थि विसेसो तदो को वि॥३८०॥

जो स्वयं नहिं भक्षण करे, वह अन्य को देवे नहीं।
क्योंकि खाने या खिलाने में, फरक कुछ भी है नहीं॥३८०॥

---

* **सुक्कं पक्कं तत्तं, अंविललवणेहिं मिस्सियं दव्वं।**
जं जंतेण य छिण्णं, तं सव्वं फासुयं भणियं॥

अन्वयार्थ : [**सुक्कं पक्कं तत्तं**] सूखा हुआ, पका हुआ, गरम किया हुआ [**अंविललवणेहिं मिस्सियं दव्वं**] खटाई और नमक से मिला हुआ [**जं जंतेण य छिण्णं**] तथा जो यन्त्र से छिन्न-भिन्न किया हुआ अर्थात् शोधा हुआ हो [**तं सव्वं फासुयं भणियं**] ऐसा सब हरितकाय प्रासुक (जीवरहित-अचत्ति होता है।)

अन्वयार्थ : [**जो सयं ण य भक्खेदि**] जिस वस्तु को आप नहीं खाता है, [**तस्स अण्णस्स दाउं ण जुज्जदे**] उसको अन्य को देना योग्य नहीं है [**भुत्तस्स भोजिदस्सहि**] क्योंकि खानेवाले और खिलानेवाले में [**तदो को वि विसेसो णत्थि**] कुछ विशेषता (अन्तर) नहीं है।

भावार्थ : कृत और कारित का फल समान है; इसलिए जो वस्तु आप नहीं खाता है, वह अन्य को भी नहीं खिलाता है, तब सचित्तत्यागप्रतिमा का पालन होता है।

जो वज्जेदि सचित्तं, दुज्जय जीहा विणिज्जिया तेण।
दयभावो होदि किओ, जिणवयणं पालियं तेण॥३८१॥

जिसने सचित तजा, वही दुर्जय रसन इन्द्रियजयी।
दयाभाव क्रिया प्रगट, पालन किया जिनवचन भी॥३८१॥

अन्वयार्थ : [**जो सचित्तं वज्जेदि**] जो श्रावक, सचित्त का त्याग करता है, [**तेण दुज्जय जीहा विणिज्जिया**] उसने दुर्जय जिह्वाइन्द्रिय को भी जीत लिया तथा [**दयाभावो किओ होदि**] दयाभाव प्रगट किया [**तेण जिणवलयं पालियं**] और उसी ने जिनदेव के वचनों का पालन किया।

भावार्थ : सचित्त के त्याग में बड़े गुण हैं – (१) जिह्वाइन्द्रिय का जीतना होता है; (२) प्राणियों की दया का पालन होता है; (३) भगवान के वचनों का पालन होता है क्योंकि हरितकायादिक सचित्त में भगवान ने जीव कहे हैं (अत: उनका त्याग करने से), सो आज्ञा का पालन हुआ। इसके अतिचार सचित्त से मिली वस्तु तथा सचित्त से सम्बन्धरूप इत्यादि हैं। इन अतिचारों को नहीं लगावे, तब शुद्ध त्याग होता है, तब ही प्रतिमा की प्रतिज्ञा का पालन होता है। भोगोपभोगव्रत में तथा देशावकाशिकव्रत में भी सचित्त का त्याग कहा है परन्तु निरतिचार नियमरूप नहीं है। इस प्रतिमा में नियमरूप निरतिचार त्याग होता है। ऐसे सचित्त –त्याग पाँचवी प्रतिमा और बारह भेदों में छट्ठे भेद का वर्णन किया।

अब, रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा को कहते हैं —

जो चउविहंपि भोज्जं, रयणीए णेव भुंजदे णाणी।
ण य भुंजावइ अण्णं, णिसिवरओ सो हवे भोज्जो॥३८२॥

रात्रि में चौ विधि अशन जो ज्ञानि नहिं भक्षण करे।
करावे नहिं अन्य को निशि भोज त्यागी वह अरे॥३८२॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो [**णाणी**] ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) श्रावक, [**रयणीए**] रात्रि में [**चउविहं पि भोज्जं**] अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य – चार प्रकार के आहार को [**णेव भुंजदे**] नहीं भोगता है – नहीं खाता है, [**अण्णं ण य भुंजावइ**] दूसरे को भी भोजन नहीं कराता है, [**सो णिविविरओ भोज्जो हवे**] वह श्रावक, रात्रिभोजन का त्यागी होता है।

भावार्थ : रात्रिभोजन का तो माँस के दोष की अपेक्षा तथा रात्रि में बहुत आरम्भ से त्रसघात की अपेक्षा पहली दूसरी प्रतिमा में ही त्याग कराया गया है परन्तु वहाँ कृत-कारित -अनुमोदना और मन-वचन-काय के कुछ दोष लग जाते हैं; इसलिए शुद्धत्याग नहीं है। यहाँ इस प्रतिमा की प्रतिज्ञा में शुद्धत्याग होता है; इसलिए प्रतिमा कही गयी है।

जो णिसिभुत्तिं वज्जदि, सो उववासं करेदि छम्मासं।
संवच्छरस्स मज्झे, आरंभं मुयदि रयणीए॥३८३॥

जो रात्रि भोजन नहिं करे, उसको कहा इक वरष में।
छह मास के उपवास हों, आरम्भ निशि में परित्यजे॥३८३॥

अन्वयार्थ : [**जो णिसिभुत्तिं वज्जदि**] जो पुरुष, रात्रिभोजन को छोड़ता है, [**सो**] वह [**संवच्छरस्स मज्झे**] एक वर्ष में [**छम्मांस उववासं करेदि**] छह महीने का उपवास करता है। [**रयणीए आरंभं मुयदि**] रात्रिभोजन का त्याग होने के कारण, भोजन सम्बन्धी आरम्भ का भी त्याग करता है और व्यापार आदि का भी आरम्भ छोड़ता है, सो महादया का पालन करता है।

भावार्थ : जो रात्रिभोजन का त्याग करता है, वह बरस दिन में छह महिने का उपवास करता है। अन्य आरम्भ का भी रात्रि में त्याग करता है। अन्य ग्रन्थों में इस प्रतिमा में दिन में स्त्रीसेवन का भी मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से त्याग कहा है। ऐसे रात्रिभुक्तत्याग प्रतिमा का वर्णन किया। यह छट्ठी प्रतिमा के बारह भेदों में सातवाँ भेद हुआ।

अब, ब्रह्मचर्यप्रतिमा का निरूपण करते हैं —

सव्वेसिं इत्थेणं, जो अहिलासं ण कुव्वदे णाणी।
मण वाया कायेण य, बंभवई सो हवे सदओ ॥३८४॥

तजे अभिलाषा सभी विध, नारियों में ज्ञानी जो।
मन-वचन-काया से वही है, ब्रह्मचारी दयामय ॥३८४॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो [**णाणी**] ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) श्रावक, [**सव्वेसिं इत्थीणं अहिलास**] सब ही चार प्रकार की स्त्री – देवाङ्गना, मनुष्यणी, तिर्यञ्चणी, चित्रामणी इत्यादि स्त्रियों की अभिलाषा, [**मण बाया कायेण य**] मन-वचन-काय से [**ण कुव्वदे**] नहीं करता है, [**सो सदओ बंभवई हवे**] वह दया का पालन करनेवाला, ब्रह्मचर्यप्रतिमा का धारक होता है।

भावार्थ : सब स्त्रियों का मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से सर्वथा त्याग करना, ब्रह्मचर्यप्रतिमा है।

अब, आरम्भविरतिप्रतिमा को कहते हैं —

जो आरंभ ण कुणदि, अण्णं कारयदि णेय अणुमण्णे।
हिंसासंतट्ठमणो, चत्तारंभो हवे सो हु ॥३८५॥

आरम्भ नहिं करता कराता, और नहिं अनुमोदता।
भयभीत चित हिंसादि से, आरम्भ त्यागी वह कहा ॥३८५॥

अन्वयार्थ : [**जो आरंभ ण कुणदि**] जो श्रावक, गृहकार्य सम्बन्धी कुछ भी आरम्भ नहीं करता है, [**अण्णं कारयदि णेय अणुमण्णे**] दूसरे से भी नहीं कराता है, करते हुए को अच्छा भी नहीं मानता है, [**हिंसासतट्ठमणो**] हिंसा से भयभीत मनवाला, [**सो हु चत्तारंभे हवे**] वह निश्चय से आरम्भ का त्यागी होता है।

भावार्थ : जो गृहकार्य के आरम्भ का मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से त्याग करता है, वह आरम्भत्यागप्रतिमाधारक श्रावक होता है। यह प्रतिमा आठवीं है और बारह भेदों में नवमाँ भेद है।

अब, परिग्रहत्यागप्रतिमा को कहते हैं —

जो परिवज्जइ गंथं, अब्भंतर बाहिरं च साणंदो।
पावं ति मण्णमाणो, णिग्गंथो सो हवे णाणी॥३८६॥

बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह, पाप कारण मानकर।
छोड़ता सानन्द जो, वह परिग्रह त्यागी प्रवर॥३८६॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो [**णाणी**] ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) श्रावक, [**अब्भंतर बाहिरं च गंथं**] अभ्यन्तर और बाह्य दो प्रकार के परिग्रह को [**पावं ति मण्णमाणो**] पाप का कारण मानता हुआ [**साणंदो**] सानन्दसहित [**परिवज्जइ**] छोड़ता है, [**सो णिग्गंथो हवे**] वह परिग्रह का त्यागी श्रावक होता है।

भावार्थ : अभ्यन्तरपरिग्रह में मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणकषाय तो पहले ही छूट चुके हैं। अब, प्रत्याख्यानावरण और उस ही के साथ लगे हुए हास्यादिक और वेदों को घटाता है और बाह्य के धन-धान्य आदि सबका त्याग करता है। परिग्रह के त्याग में बड़ा आनन्द मानता है क्योंकि जिन को सच्चा वैराग्य हो जाता है, उनको परिग्रह, पापरूप ओर बड़ी आपत्तिरूप दिखायी देता है; इसलिए त्याग करने में बड़ा सुख मानते हैं।

बाहिरगंथविहीणा, दलिद्दमणुआ सहावदो होंति।
अब्भतरगंथंपुण, ण सक्कदे को वि छंडेदुं॥३८७॥

बाह्य परिग्रह से रहित हैं, दरिद्री नर सहज ही।
किन्तु अभ्यन्तर परिग्रह, कोई तज सकता नहीं॥३८७॥

अन्वयार्थ : [**बाहिरगंथविहीणा**] बाह्यपरिग्रह से रहित तो [**दलिद्दमणुआ सहावदो होंति**] दरिद्री मनुष्य, स्वभाव ही से होते हैं, इसके त्याग में आश्चर्य नहीं है; [**अब्भंतरगंथं पुण ण सक्कदे को वि छंडेदुं**] अभ्यन्तरपरिग्रह को कोई भी छोड़ने में समर्थ नहीं होता है।

भावार्थ : जो अभयन्तरपरिग्रह को छोड़ता है, उसकी महिमा है। अभ्यन्तरपरिग्रह, सामान्यरूप से ममत्वपरिणाम है; इसलिए जो इसका त्याग करता है, वही परिग्रहत्यागी

कहलाता है। इस तरह परिग्रहत्यागप्रतिमा का स्वरूप कहा। प्रतिमा नवमी है, बारह भेदों में दशवाँ भेद है।

अब, अनुमोदनविरतिप्रतिमा को कहते हैं —

जो अणुमणणं ण कुणदि, गिहत्थकज्जेसु पावमूलेसु।
भवियव्वं भावंतो, अणुमणविरओ हवे सो दु॥३८८॥

पाप मूलक कार्य घर के, जो नहीं अनुमोदता।
भवितव्य भाता उसे, अनुमोदन विरत श्रावक कहा॥३८८॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो श्रावक, [**पावमूलेसु**] पाप का मूल [**गिहत्थकज्जेसु**] गृहस्थकार्यों में [**भवियव्वं भावंतो**] 'जो भवितव्य है, सो होता है' – ऐसी भावना करता हुआ, [**अणुमणणं ण कुणदि**] अनुमोदना नहीं करता है, [**सो दु अणुमणविरओ हवे**] वह अनुमोदनविरतिप्रतिमाधारी श्रावक है।

भावार्थ : गृहस्थ के कार्य, आहार के निमित्त आरम्भादिक की भी अनुमोदना नहीं करता है। उदासीन होकर घर में या बाहर चैत्यालय, मठ, मण्डप में रहता है। भोजन के लिए घरवाला या अन्य कोई श्रावक जो बुलाता है, उसके भोजन कर आता है। ऐसा भी नहीं कहता है कि मेरे लिये अमुक पदार्थ तैयार करना। जो कुछ गृहस्थ जिमाता है (खिलाता है), वहीं जीम आता है, वह दशमी प्रतिमा का धारी श्रावक होता है।

जो पुण चिंतदि कज्जं, सुहासुहं रायदोससंजुत्तो।
उवओगेण विहीणं, स कुणदि पावं विणा कज्जं॥३८९॥

जो राग द्वेष विभावयुक्त हो, शुभ-अशुभ सब कार्य की।
चिन्ता करे जो बिना प्रयोजन, व्यर्थ पापार्जन करे॥३८९॥

अन्वयार्थ : [**जो पुण**] जो [**उवओगेण विहीणं**] बिना प्रयोजन [**रायदोस - संजुत्तो**] राग-द्वेष संयुक्त हो [**सुहासुहं कज्जं चिंतदि**] शुभ-अशुभ कार्य का चिन्तवन करता है, [**स विणा कज्जं पावं कुणदि**] वह पुरुष बिना कर्म, पाप उत्पन्न करता है।

भावार्थ : आप तो त्यागी हो गया, फिर बिना प्रयोजन गृहस्थ के शुभकार्य -पुत्रप्राप्ति, विवाहादिक और अशुभकार्य - किसी को पीड़ा देना, मारना, बाँधना इत्यादि

शुभाशुभ कार्यों का चिन्तवन कर, राग-द्वेष परिणाम करके निरर्थक पाप उपजाता है; उसके दशमी प्रतिमा कैसे हो ? इसलिए ऐसी बुद्धि रहनी चाहिए कि 'जैसा भवितव्य है, वैसा होगा। यदि आहार मिलना है तो मिलकर रहेगा' - ऐसे परिणाम रहने से अनुमतित्यागप्रतिमा का पालन होता है। इस प्रकार श्रावक के बारह भेदों में ग्यारहवें भेद का वर्णन किया।

अब, उद्दिष्टविरतिप्रतिमा का स्वरूप कहते हैं —

जो णव कोडिविसुद्धं, भिक्खायरणेण भुंजदे भोज्जं।
जायणरहियं जोग्गं, उद्दिट्ठाहारविरदो सो ॥३९०॥

विशुद्ध हो नव कोटि, भिक्षाचरण हो, नहिं याचना।
योग्य भोजन करे वह, उद्दिष्ट भोजन त्यागी है ॥३९०॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो श्रावक, [**णव कोडिविशुद्धं**] नव कोटि विशुद्ध, अर्थात् मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना के दोषरहित, [**भिक्खायरणेण**] भिक्षाचरण -पूर्वक, [**जायणरहियं**] याचनारहित (बिना माँगे) [**जोग्गं**] योग्य (सचित्तादिक अयोग्य न हो) [**भोज्जं भुंजदे**] आहार को ग्रहण करता है, [**सो उद्दिट्ठाहारविरदो**] वह उद्दिष्टआहार का त्यागी है।

भावार्थ : घर छोड़कर मठ या मण्डप में रहता है, भिक्षाचरण द्वारा आहार लेता है, जो इसके निमित्त कोई आहार बनावे तो उस आहार को नहीं लेता है, माँग कर नहीं लेता है, अयोग्य मांसादिक तथा सचित्तआहार नहीं लेता है - ऐसा उद्दिष्टविरत श्रावक होता है।

अब, अन्त समय में श्रावक, आराधना करे - ऐसा कहते हैं —

जो सावयवयसुद्धो, अंते आराहणं परं कुणदि।
सो अच्चुदम्मि सग्गे, इन्दो सुरसेविदो होदि॥३९१॥

श्रावक व्रतों से शुद्ध हो, जो अन्त में आराधना।
उत्कृष्ट करता, स्वर्ग अच्युत में सुरों से पूज्य हो॥३९१॥

अन्वयार्थ : [**जो सावयवयसुद्धो**] जो श्रावक, व्रतों से शुद्ध है [**अंते आहारणं**

परं कुणदि] और अन्त समय में उत्कृष्ट आराधना, अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप का आराधन करता है, **[सो अच्चुदम्मि सग्गे]** वह अच्युतस्वर्ग में **[सुरसेविदो इन्दो होदि]** देवों से सेवनीय, इन्द्र होता है।

भावार्थ : जो सम्यग्दृष्टि श्रावक, ग्यारहवीं प्रतिमा का निरतिचार शुद्धव्रत पालता है और अन्त समय (मरणकाल) में दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप आराधना को आराधता है, वह अच्युतस्वर्ग में इन्द्र होता है। यह उत्कृष्ट श्रावक के व्रत का उत्कृष्ट फल है। ऐसे ग्यारहवीं प्रतिमा का स्वरूप कहा। अन्य ग्रन्थों में इसके दो भेद कहे हैं -

पहले भेदवाला (क्षुल्लक) तो एक वस्त्र रखता है; बालों को कैंची या उस्तरे से कटाता है; प्रतिलेखन, हस्तादिक से करता है; भोजन बैठकर, अपने हाथ से भी तथा पात्र में भी करता है। दूसरा (ऐलक) बालों का लोंच करता है; प्रतिलेखन, पीच्छी से करता है; अपने हाथ ही में भोजन करता है; (कोपीन) लँगोट धारण करता है, इत्यादि। इसकी विधि, अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिए। ऐसे प्रतिमा तो ग्यारहवीं हुई और बारह भेद कहे थे, उनमें यह बारहवाँ भेद, श्रावक का हुआ।

अब, यहाँ संस्कृत में टीकाकार ने अन्य ग्रन्थों के अनुसार कुछ श्रावक का कथन लिखा है, वह भी संक्षेप में लिखा जाता है। छठवीं प्रतिमा तक तो जघन्यश्रावक कहा है। सातवीं आठवीं, नवमीं प्रतिमा के धारक को मध्यमश्रावक कहा है और दशवीं, ग्यारहवीं प्रतिमावाले को उत्कृष्टश्रावक कहा है और कहा है कि जो समितिसहित प्रवृत्ति करे तो अणुव्रत सफल है और समितिरहित प्रवृत्ति करे तो व्रत पालते हुए भी, अव्रती है। जो गृहस्थ के असि, मसि, कृषि, वाणिज्य के आरम्भ में त्रस-स्थावर की हिंसा होती है, सो त्रसहिंसा का त्याग इसके कैसे बनता है ? इसके समाधान के लिये कहते हैं -

पक्ष, चर्या, और साधकता, तीन प्रवृत्तियाँ श्रावक की कही गयी हैं। पक्ष का धारक तो पाक्षिकश्रावक कहलाता है; चर्या का धारक, नैष्ठिकश्रावक कहलाता है; और साधकता का धारक, साधकश्रावक कहलाता है। पक्ष तो ऐसा है - जो जैनमार्ग में त्रसहिंसा का त्यागी श्रावक कहा गया है, सो मैं त्रसजीवों को मेरे प्रयोजन के लिये तथा दूसरे के प्रयोजन के लिये नहीं मारूँ। धर्म के लिये , देवता के लिये, मन्त्रसाधन के लिए, औषधि के लिये,

आहार के लिये और अन्य भोग के लिये नहीं मारूँ – ऐसा पक्ष जिसके होता है, सो पाक्षिक है। इसलिए इसके अति, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि कार्यों में हिंसा होती है तो भी मारने का अभिमत नहीं है। कार्य का अभिप्राय है, वहाँ घात होता है, उसकी अपनी निन्दा करता है; इस तरह त्रसहिंसा न करने के पक्षमात्र से पाक्षिक कहलाता है। ये अप्रत्याख्यानावरणकषाय के मन्दउदय के परिणाम हैं; इसलिए अव्रती ही है। व्रत पालने की इच्छा है परन्तु निरतिचार व्रतों का पालन नहीं होता; इसलिए पाक्षिक ही कहलाता है।

नैष्ठिक होता है, तब अनुक्रम से प्रतिमा की प्रतिज्ञा का पालन होता है। इसके अप्रत्याख्यानावरणकषाय का अभाव होने से पाँचवें गुणस्थान की प्रतिज्ञा का निरतिचार पालन होता है। प्रत्याख्यानावरणकषाय के तीव्र–मन्द भेदों से ग्यारह प्रतिमा के भेद हैं। ज्यों–ज्यों कषाय, मन्द होती जाती है, त्यों–त्यों आगे की प्रतिमा की प्रतिज्ञा होती जाती है। यहाँ ऐसा कहा है कि घर का स्वामित्व छोड़कर गृहकार्य तो पुत्रादिक को सौंपे और आप यथाकषाय प्रतिमा की प्रतिज्ञा ग्रहण करता जावे। जब तक सकलसंयम ग्रहण नहीं करता है, तब तक ग्यारहवीं प्रतिमा तथा नैष्ठिकश्रावक कहलाता है। मृत्यु समय आया जाने, तब आराधनासहित हो, एकाग्रचित्त से परमेष्ठी के ध्यान में ठहरकर समाधिपूर्वक प्राण छोड़ता है, वह साधक कहलाता है – ऐसा कथन है।

गृहस्थ जो द्रव्य का उपार्जन करे, उसके छह भाग करे। उसमें से एक भाग तो धर्म के लिए दे; एक भाग कुटुम्ब के पोषण में दे; एक भाग अपने भोग के लिये खर्च करे; एक अपने स्वजन समूह के लिये व्यवहार में खर्च करे; बाकी दो भाग रहे, वे अमानत भण्डार में रखे; यह द्रव्य, बड़ी पूजन अथवा प्रभावना तथा काल–दुकाल में काम आवे। ऐसा करने से गृहस्थ के आकुलता उत्पन्न नहीं होती है, धर्म का पालन होता है। यहाँ संस्कृत टीकाकार ने बहुत कथन किया है। पहले गाथा के कथन में अन्य ग्रन्थों का कथन सिद्ध होता है – ऐसा कथन बहुत किया है। सो संस्कृतटीका से जानना चाहिए। यहाँ तो गाथा का ही अर्थ, संक्षेप से लिखा है। विशेष जानने की इच्छा हो तो रयणसार, वसुनन्दिकृतश्रावकाचार, रत्नकरण्डश्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, अमितगतिश्रावकाचार, प्राकृतदोहाबन्ध श्रावकाचार इत्यादि ग्रन्थों से जानना। यहाँ संक्षिप्त कथन है। ऐसे बारह भेदरूप श्रावकधर्म का कथन किया।

अब, मुनिधर्म का व्याख्यान करते हैं —

जो रयणत्तयजुत्तो, खमादिभावेहिं परिणदो णिच्चं।
सव्वत्थ वि मज्झत्थो, सो साहू भणणदे धम्मो ॥३९२॥

जो रत्नत्रय से युक्त हो धारण करे दश धर्म को।
सर्वत्र समताभावमय है धर्म वह साधु अहो ॥३९२॥

अन्वयार्थ : [**जो रयणत्तयजुत्तो**] जो पुरुष, रत्नत्रय, अर्थात् निश्चय-व्यवहाररूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से सहित हो, [**खमादिभावेहिं णिच्चं परिणदो**] क्षमादिभाव, अर्थात् उत्तमक्षमा को आदि देकर दश प्रकार के धर्म से नित्य (निरन्तर) परिणत हो, [**सव्वत्थ वि मज्झत्थो**] सब जगह - सुख-दुःख, तृण-कञ्चन, लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र, निन्दा-प्रशंसा, जीवन-मरण आदि में समभावरूप रहे, राग-द्वेषरहित हो, [**सो साहू धम्मो भणणदे**] वह साधु है और उसी को धर्म कहते हैं, क्योंकि जिसमें धर्म है।

भावार्थ : यहाँ रत्नत्रयसहित चारित्र तेरह प्रकार का है सो मुनि का धर्म, महाव्रत आदि है, उसका वर्णन करना चाहिए, परन्तु यहाँ दश प्रकार के धर्म का विशेष वर्णन है, उसी में महाव्रत आदि का वर्णन गर्भित जानना चाहिए।

अब, दश प्रकार के धर्म का वर्णन करते हैं —

सो चेव दहप्पयारो, खमादि भावेहिं सुक्खसारेहिं।
ते पुण भणिज्जमाणा मुणियव्वा परमभत्तीए ॥३९३॥

मुनिधर्म वह दशविध क्षमादिक भावमय सुखमय है।
वर्णन करें दश धर्म का, जो भक्ति से ज्ञातव्य है ॥३९३॥

अन्वयार्थ : [**सो चेव खमादि भावेहिं दहप्पयारों सुक्खसारेहिं**] वह मुनिधर्म, क्षमादि भावों से दस प्रकार है, कैसा है ? सौख्यसार कहिये सुख इससे होता है या सुख इसमें है अथवा सुख का सार है - प्रसिद्ध है, ऐसा है। [**ते पुण भणिज्जमाणा परमभत्तीए मुणियव्वा**] वह दस प्रकार का धर्म (जिसका वर्णन अब करेंगे), भक्ति से, अर्थात् उत्तम धर्मानुराग से जानने योग्य है।

भावार्थ : उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य,

और ब्रह्मचर्य – ऐसे दश प्रकार का मुनिधर्म है, सो इसका भिन्न भिन्न व्याख्यान आगे करते हैं, वह जानना चाहिए।

अब, पहले उत्तमक्षमाधर्म को कहते हैं —

कोहेण जो ण तप्पदि, सुरणरतिरिएहिं कीरमाणे वि।
उवसग्गे वि रउद्दे, तस्स खिमा णिम्मला होदि॥३९४॥

देव नर तिर्यञ्च करते, घोर हों उपसर्ग भी।
तप्त हों नहिं क्रोध से, निर्मल क्षमा उनको कही॥३९४॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो मुनि, [**सुरणरतिरिएहिं**] देव, मनुष्य, तिर्यञ्च आदि से [**रउद्दे उवसग्गे कीरमाणे वि**] रौद्र (भयानक / घोर) उपसर्ग करने पर भी [**कोहेण ण तप्पदि**] क्रोध से तप्तायमान नहीं होता है, [**तस्स णिम्मला खिमा होदि**] उस मुनि के निर्मलक्षमा होती है।

भावार्थ : जैसे – श्रीदत्त मुनि, व्यन्तरदेवकृत उपसर्ग को जीतकर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष गये; चिलातीपुत्र मुनि, व्यन्तरकृत उपसर्ग को जीतकर सर्वार्थसिद्धि गये; स्वामिकार्तिकेयमुनि, क्रोंचराजाकृत उपसर्ग को जीतकर देवलोक गये; गुरुदत्त मुनि, कपिल ब्राह्मणकृत उपसर्ग जीतकर मोक्ष गये; श्रीधन्यमुनि, चक्रराजकृत उपसर्ग को जीतकर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष गये; पाँच सौ मुनि, दण्डक राजाकृत उपसर्ग जीतकर सिद्ध हुए; राजकुमार मुनि ने पांशुल श्रेष्ठीकृत उपसर्ग जीतकर सिद्धि पायी; चाणक्य आदि पाँच सौ मुनि, मन्त्रीकृत उपसर्ग जीतकर मोक्ष गये; सुकुमाल मुनि, स्यालिनीकृत उपसर्ग सहकर देव हुए; श्रेष्ठी के बाईस पुत्र, नदी के प्रवाह में पद्मासन शुभध्यान से मरकर देव हुए; सुकौशल मुनि, बाघिनकृत उपसर्ग जीतकर सर्वार्थसिद्धि गये और श्रीपणिक मुनि, जल का उपसर्ग सहकर मोक्ष गये।

इस तरह देव, मनुष्य, पशु, अचेतन कृत उपसर्ग सहे और क्रोध नहीं किया, उनके उत्तमक्षमा हुई। ऐसे उपसर्ग करनेवाले पर क्रोध उत्पन्न नहीं होता है, तब उत्तमक्षमा होती है। उस समय क्रोध का निमित्त आवे तो ऐसा चिन्तवन करे कि जो कोई मेरे दोष कहता है, वे मेरे में विद्यमान हैं तो यह क्या मिथ्या कहता है? ऐसा विचार कर क्षमा करना। यदि

मेरे में दोष नहीं हैं तो यह बिना जाने कहता है; इसलिए अज्ञानी पर कैसा क्रोध? ऐसा विचार कर क्षमा करना। अज्ञानी के बालस्वभाव का चिन्तवन करना कि बालक तो प्रत्यक्ष भी कहता है, यह तो परोक्ष ही कहता है, यह ही अच्छा है। यदि प्रत्यक्ष भी कुवचन कहे तो यह विचार करे कि बालक तो ताड़न भी करता है, यह तो कुवचन ही कहता है; मारता नहीं है, यह ही अच्छा है। यदि ताड़न करे तो यह विचार करे कि बालक अज्ञानी तो प्राणघात भी करता है, यह तो ताड़ता ही है; प्राणघात तो नहीं करता है, यह ही अच्छा है। यदि प्राणघात करे तो यह विचार करे के अज्ञानी तो धर्म का भी विध्वंस करता है, यह तो प्राणघात ही करता है; धर्म का विध्वंस तो नहीं करता है और यह विचार करे कि मैंने पूर्व जन्म में पापकर्म किये थे, उनका यह दुर्वचनादिक उपसर्ग, फल है। मेरा ही अपराध है, पर तो निमित्तमात्र है – इत्यादि चिन्तवन से उपसर्ग आदिक के निमित्त से क्रोध उत्पन्न नहीं होता है, तब उत्तमक्षमाधर्म होता है।

अब, उत्तममार्दवधर्म को कहते हैं —

उत्तमणाणपहाणो, उत्तमतवयरणकरणसीलो वि।
अप्पाणं जो हीलदि, मद्दवरयणं भवे तस्स॥३९५॥

ज्ञान हो उत्कृष्ट, उत्तम तपश्चरण स्वभाव भी।
मदरहित निज को करे, तो रत्न मार्दव हो उसे॥३९५॥

अन्वयार्थ : [**उत्तमणाणपहाणो**] जो मुनि, उत्तम ज्ञान से तो प्रधान हो, [**उत्तम-तवयरणकरणसीलो**] उत्तम तपश्चरण करने का जिसका स्वभाव हो, [**जो अप्पाणं हीलदि**] जो अपने आत्मा को मदरहित करे, [**तस्स मद्दवरयणं भवे**] उस मुनि के मार्दव नामक धर्मरत्न होता है।

भावार्थ : सब शास्त्रों का जाननेवाला पण्डित हो तो भी ज्ञानमद नहीं करे। यह विचारे कि मेरे से बड़े अवधि, मन:पर्याय ज्ञानी हैं; केवलज्ञानी सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी हैं। मैं क्या हूँ? (मैं तो) अल्पज्ञ हूँ। उत्तम तप करे तो भी उसका मद नहीं करे। आप, जाति, कुल, बल, विद्या, ऐश्वर्य, तप, रूप आदि से सबसे बड़े हैं तो भी परकृत अपमान को भी सहते हैं, उस समय गर्व करके कषाय उत्पन्न नहीं करते हैं, वहाँ उत्तममार्दवधर्म होता है।

अब, उत्तमआर्जवधर्म को कहते हैं —

जो चिंतेइ ण वंकं, कुणदि ण वंकं ण जंपदे वंकं।
ण य गोवदि णियदोसं, अज्जवधम्मो हवे तस्स॥३९६॥

मन में चिन्तन वक्र हो नहिं, वचन में नहिं काय में।
निज दोष को जो नहिं छिपावे, आर्जवधर्म हो उसे॥३९६॥

अन्वयार्थ : [**जो वंकं ण चिंतेइ**] जो मुनि, मन में वक्रतारूप चिन्तवन नहीं करे, [**वंकं ण कुणदि**] काय से वक्रता नहीं करे, [**वंकं ण जंपदे**] वचन से वक्ररूप नहीं बोले [**य णियदोसं ण गोवादि**] और अपने दोषों को नहीं छिपावे, [**तस्सअज्जवधम्मो हवे**] उस मुनि के उत्तमआर्जवधर्म होता है।

भावार्थ : मन-वचन-काय में सरलता हो; जो मन में विचारे, वही वचन से कहे, वही काय से करे। मन में तो दूसरे को भुलावा देने (ठगने) के लिये विचार तो कुछ करे, वचन से और ही कुछ कहे, काय से और ही कुछ करे - ऐसा करने से मायाकषाय प्रबल होती है; इसलिए ऐसा नहीं करे, निष्कपट हो प्रवृत्ति करे। अपने दोषों को नहीं छिपावे; जैसे के तैसे बालक की तरह गुरुओं पास कहे, वहाँ उत्तमआर्जवधर्म होता है।

अब, उत्तमशौचधर्म को कहते हैं —

समसंतोसजलेणं य, जो धोवदि तिव्वलोहमलपुंजं।
भोयणगिद्धिविहीणो, तस्स सउच्चं हवे विमलं॥३९७॥

समता तथा सन्तोष जल से लोभमल धोवे अहो।
नहिं गृद्धि भोजन में जिसे वह शौच निर्मल युक्त हो॥३९७॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो मुनि [**समसंतोसजलेण**] समभाव (राग-द्वेषरहित परिणाम) और सन्तोष (सन्तुष्टभाव) रूपी जल से [**तिव्वलोहमजपुजं**] तीव्र तृष्णा और लोभरूपी मल के समूह को [**धोवदि**] धोवे (नाश करे), [**भोयणगिद्धिविहीणो**] भोजन की गृद्धि (अति चाह) से रहित हो, [**तस्स सउच्चं विमलं हवे**] उस मुनि का चित्त निर्मल होता है; अत: उसके उत्तमशौचधर्म होता है।

भावार्थ : समभाव (तृण, कञ्चन को समान जानना) और सन्तोष (सन्तुष्टपना;

तृप्तिभाव; अपने स्वरूप ही में सुख मानना) भावरूप जल से तृष्णा (आगामी मिलने की चाह) और लोभ (पाए हुए द्रव्यादिक में अति लिप्त रहना; उसके त्याग में अति खेद करना) रूप मल के धोने से मन पवित्र होता है। मुनि के अन्य त्याग तो होता ही है, केवल आहार का ग्रहण है, उसमें भी तीव्र चाह नहीं रखता है। लाभ-अलाभ, सरस-नीरस में समबुद्धि रहता है, तब उत्तमशौचधर्म होता है।

लोभ की चार प्रकार की प्रवृत्ति है - जीवन का लोभ, आरोग्य रहने का लोभ, इन्द्रिय बनी रहने का लोभ, उपयोग का लोभ। ये चारों अपने, और अपने सम्बन्धी स्वजन मित्र आदि के दोनों के चाहने से, आठ भेदरूप प्रवृत्ति है; इसलिए जहाँ सब ही का लोभ नहीं होता है, वहीं शौचधर्म है।

अब, उत्तमसत्यधर्म को कहते हैं —

जिणवयणमेव भासदि, तं पालेदुं असक्कमाणो वि।
ववहारेण वि अलियं, ण वददि जो सच्चवाई सो॥३९८॥

यदि पाल सकता हो नहीं, पर जिनवचन ही बोलता।
व्यवहार में भी असत् वच, नहिं कहे सत्‌वादी सदा॥३९८॥

अन्वयार्थ : [**जिणवयणमेव भासदि**] जो मुनि, जिनसूत्र के ही वचन को कहते हैं, [**तं पालेदुं असक्कमाणो वि**] उसमें जो आचार आदि कहा गया है, उसका पालन करने में असमर्थ हो तो भी अन्यथा नहीं कहते [**जो ववहारेण वि अलियं ण वददि**] और जो व्यवहार से भी अलीक (असत्य) नहीं कहते, [**सो सच्चवाई**] वह मुनि सत्यवादी हैं; उनके उत्तमसत्यधर्म होता है।

भावार्थ : जो जिनसिद्धान्त में आचार आदि का जैसा स्वरूप कहा हो, वैसा ही कहे। ऐसा नहीं कि जब आप से पालन न किया जाए, तब अन्य प्रकार कहे, यथावत् न कहे; अपना अपमान हो, इसलिए जैसे-तैसे कहे। व्यवहार जो भोजन आदि का व्यापार तथा पूजा -प्रभावना आदि का व्यवहार, उसमें भी जिनसूत्र के अनुसार वचन कहे; अपनी इच्छा से जैसे-तैसे न कहे। यहाँ दश प्रकार के सत्य का वर्णन है - नामसत्य, रूपसत्य, स्थापनासत्य, प्रतीत्यसत्य, संवृतिसत्य, संयोजनासत्य, जनपदसत्य, देशसत्य, भावसत्य,

समयसत्य। मुनियों का मुनियों से तथा श्रावकों से वचनालाप का व्यवहार है। यदि बहुत भी वचनालाप हो, तब भी सूत्रसिद्धान्त अनुसार इस दश प्रकार के सत्यरूप वचन की प्रवृत्ति होती है।

१- अर्थ और गुण के न होने पर भी, वक्ता की इच्छा से किसी वस्तु का नाम (संज्ञा) रखा जाए तो नामसत्य है।

२- जो रूपमात्र से कहा जाए, जैसे चित्र में किसी का रूप लख (देख) कर कहे कि सफेद रंग का अमुक व्यक्ति है, वह रूपसत्य है।

३- किसी प्रयोजन के लिये किसी की मूर्ति स्थापित कर कहें, वह स्थापनासत्य है।

४- किसी प्रतीति के लिये किसी को आश्रय करके कहना, वह प्रतीतिसत्य है। जैसे, ताल- यह परिणामविशेष है, उसको आश्रय करके कहे 'यह पुरुषताल है' अथवा लम्बा कहे तो छोटे को प्रतीत्य (आश्रय) कर कहे।

५- लोकव्यवहार के आश्रय से कहे, वह संवृत्तिसत्य है; जैसे, कमल के उत्पन्न होने में अनेक कारण हैं तो भी पंक में हुआ; इसलिए पंकज कहते हैं।

६- वस्तुओं को अनुक्रम से (क्रमपूर्वक) स्थापित करने का वचन कहे, वह संयोजनसत्य हैं; जैसे, दशलक्षण का मण्डल बनावे, उसमें अनुक्रम से चूर्ण के कोठे करे और कहे कि यह उत्तमक्षमा का है, इत्यादि जोड़रूप नाम कहे, अथवा दूसरा उदाहरण - जैसे, जौहरी मोतियों की लड़ियाँ करता है, उनमें मोतियों की संज्ञा स्थापित कर रखी है। वह जहाँ जो चाहिए, उस ही अनुक्रम से मोती पिरोता है।

७- जिस देश में जैसी भाषा हो, वैसी कहे, वह जनपदसत्य है।

८- ग्राम-नगर आदि का उपदेशकवचन, वह देशसत्य है; जैसे, जिसके चारों तरफ बाड़ा हो, उसको ग्राम कहना।

९- छद्मस्थ के ज्ञान-अगोचर और संयमादिक पालने के लिये जो वचन, वह भावसत्य है; जैसे, किसी वस्तु में छद्मस्थ के ज्ञान-अगोचर जीव हों तो भी अपनी दृष्टि में जीव न देखकर, आगम के अनुसार कहे कि यह प्रासुक है।

१०– जो आगमगोचर वस्तु है, उसे आगम के वचनानुसार कहना, वह समयसत्य है; जैसे, पल्य, सागर इत्यादि कहना।

दश प्रकार के सत्य का कथन गोम्मटसार में है, वहाँ सात नाम तो ये ही हैं और तीन के नाम यहाँ तो देश, संयोजना, समय हैं और वहाँ सम्भावना, व्यवहार, उपमा – ये हैं। उदाहरण अन्य प्रकार हैं, सो विवक्षा का भेद जानना; विरोध नहीं है। ऐसे सत्य की प्रवृत्ति होती है सो जिनसूत्रानुसार वचन-प्रवृत्ति करे, उसके सत्यधर्म होता है।

अब, उत्तमसंयमधर्म को कहते हैं —

जो जीवरक्खणपरो, गमणागमणादिसव्वकज्जेसु।
तणछेदं पि ण इच्छदि, संजमधम्मो हवे तस्स॥३९९॥

जीव रक्षा में सदा, रत रहे गमनागमन में।
तृणमात्र छेदन नहिं करे, जो उसे संयमधर्म है॥३९९॥

अन्वयार्थ : [जो जीवरक्खणपरो] जो मुनि, जीवों की रक्षा में तत्पर होता हुआ **[गमणागमणादिसव्वकज्जेसु]** गमन-आगमन आदि सब कार्यों में **[तणछेदं पि ण इच्छादि]** तृण का छेदमात्र भी नहीं चाहता है, नहीं करता है, **[तस्स संजयधम्मो हवे]** उस मुनि के संयमधर्म होता है।

भावार्थ : संयम, दो प्रकार का कहा गया है – इन्द्रिय, मन का वश करना और छह काय के जीवों की रक्षा करना। सो यहाँ मुनि के आहार-विहार करने में, गमन-आगमन आदि का काम पड़ता है तो उन कार्यों में ऐसे परिणाम रहते हैं कि मैं तृणमात्र का भी छेद नहीं करूँ, मेरे निमित्त से किसी का अहित न हो, ऐसे यत्नरूप प्रवर्तता है, जीवदया में ही तत्पर रहता है।

यहाँ टीकाकार ने अन्य ग्रन्थों से संयम का विशेष वर्णन किया है, उसका संक्षेप — संयम दो प्रकार का है — (१) उपेक्षासंयम, जो स्वभाव ही से राग-द्वेष को छोड़कर, गुप्तिधर्म में कायोत्सर्ग ध्यान द्वारा स्थिर हो, वहाँ उसके उपेक्षासंयम है। उपेक्षा का अर्थ उदासीनता या वीतरागता है। (२) अपहृतसंयम, अपहृतसंयम के तीन भेद हैं-उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य। चलते या बैठते समय जो जीव दिखायी दे, उससे आप बच जाए, जीव

को नहीं हटावे, वह उत्कृष्ट है; कोमल मयूरपंख की पीछी से जीव को हटाना, वह मध्यम है; और अन्य तृणादिक से हटाना, वह जघन्य है।

यहाँ अपहृतसंयमी को पञ्च समिति का उपदेश है। आहार-विहार के लिये गमन करे सो प्रासुकमार्ग देख जूड़ा प्रमाण (चार हाथ) भूमि को देखते हुए, मन्द-मन्द अति यत्न से गमन करना, वह ईर्यासमिति है। धर्मोपदेश आदि के निमित्त वचन कहे, सो हितरूप मर्यादापूर्वक सन्देहरहित स्पष्ट अक्षररूप वचन कहे, बहु प्रलाप आदि वचन के दोष हैं, उनसे रहित बोले, वह भाषासमिति है। काय की स्थिति के लिये आहार करे, सो मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना के दोष जिसमें नहीं लगैं, ऐसा दूसरे से दिया हुआ, छियालीस दोष, बत्तीस अन्तराय टालकर, चौदह मलरहित अपने हाथ में खड़े होकर अति यत्न से शुद्ध आहार करना, वह एषणासमिति है। धर्म के उपकरणों को अति-यत्न से भूमि को देखकर उठाना-धरना, वह आदाननिक्षेपणसमिति है। अंग के मल-मूत्रादिक को, त्रस-स्थावर जीवों को देख, टाल (बचा) कर यत्नपूर्वक क्षेपण करना, वह प्रतिष्ठापनासमिति है। ऐसे पाँच समिति पाले, उसके संयम का पालन होता है क्योंकि ऐसा कहा है कि जो यत्नाचार से प्रवर्तता है, उसके बाह्य में जीव बाधा होने पर भी बन्ध नहीं है और यत्नरहित प्रवृत्ति करता है, उसके बाह्य में जीव मरे या न मरे, बन्ध अवश्य होता है।

अपहृतसंयम के पालन के लिये आठ शुद्धियों का उपदेश है — (१) भावशुद्धि, (२) कायशुद्धि, (३) विनयशुद्धि, (४) ईर्यापथशुद्धि, (५) भिक्षाशुद्धि, (६) प्रतिष्ठापना-शुद्धि, (७) शयनासनशुद्धि, (८) वाक्यशुद्धि।

भावशुद्धि तो, जैसे शुद्ध (उज्ज्वल) भींति (दीवार) में चित्र शोभायमान दिखायी देता है, वैसे ही कर्म के क्षयोपशमजनित है; इसलिए उसके बिना तो आचार ही प्रगट नहीं होता है। दिगम्बररूप, सब विकारों से रहित, यत्नरूप जिसमें प्रवृत्ति, शान्तमुद्रा, जिसको देखकर दूसरों को भय उत्पन्न नहीं होता है तथा आप भी निर्भय रहता है - ऐसी कायशुद्धि है। अरहन्त आदि में भक्ति, गुरुओं के अनुकूल रहना, वह विनयशुद्धि है। मुनि, जीवों के सब स्थान जानते हैं; इसलिए अपने ज्ञान से, सूर्य के प्रकाश से, नेत्रइन्द्रिय से मार्ग को अतियत्न से देखकर गमन करते हैं, वह ईर्यापथशुद्धि है। भोजन के लिये गमन करे, तब

पहले तो अपने मल-मूत्र की बाधा की परीक्षा करें, अपने अङ्ग का अच्छी तरह प्रतिलेखन करे, आचारसूत्र में कहे अनुसार देश-काल-स्वभाव को विचारें और इतनी जगह आहार के लिये नहीं जावें — जिनके गीत, नृत्य, वादित्र की आजीविका हो, उनके घर पर नहीं जावें; जहाँ प्रसूति हुई हो, वहाँ नहीं जावें; जहाँ मृत्यु हुई हो, वहाँ नहीं जावें; वेश्या के नहीं जावें; पापकर्म-हिंसाकर्म जहाँ हो, वहाँ नहीं जावें; दीन के घर, अनाथ के घर, दानशाला, यज्ञशाला, यज्ञ, पूजनशाला, विवाह आदि मङ्गल जहाँ हो रहे हों, इन सबके आहार के लिए नहीं जावें; धनवान के जाना या निर्धन के जाना - ऐसा विचार न करें; लोकनिंद्यकुल के घर नहीं जावें; दीनवृत्ति नहीं करें; प्रासुक आहार लें। आगम के अनुसार दोष-अन्तराय टालकर निर्दोष आहार लें, वह भिक्षाशुद्धि है। यहाँ लाभ-अलाभ, सरस-नीरस में समानबुद्धि रखता है।

भिक्षा, पाँच प्रकार की कही है। (१) गोचर, (२) अक्षम्रक्षण, (३) उदराग्निप्रशमन, (४) भ्रमराहार, (५) गर्तपूरण।

गौ की जैसे, दातार की सम्पदादिक की तरफ न देखे; जैसा पावे, वैसा आहर लेने ही में चित्त रखे, वह गोचरीवृत्ति है। जैसे, गाड़ी की वांगि (पहियों में तेल देकर) ग्राम पहुँचे; वैसे संयम के साधक, काय को निर्दोष आहार देकर संयम साधे, वह अक्षम्रक्षण है। आग लगने पर जैसे-तैसे जल से बुझा कर घर को बचावे, वैसे ही क्षुधाअग्नि को सरस-नीरस आहार से बुझा कर, अपने परिणाम उज्ज्वल रखें, वह उदराग्निप्रशमन है। भौंरा, जैसे फूल को बाधा नहीं करता है और वासना (गंध) लेता है; वैसे ही मुनि, दातार को बाधा न पहुँचा कर आहार लें, वह भ्रमराहार है। जैसे, गर्त (गड्ढा) को जैसे-तैसे भरत से भरते हैं; वैसे ही मुनि, स्वादु-निःस्वादु आहार से उदर भरें, वह गर्तपूरण है। ऐसे भिक्षाशुद्धि होती है।

मल, मूत्र, श्लेष्म, थूक आदि का जीवों को देखकर यत्नपूर्वक क्षेपण करना, वह प्रतिष्ठापनाशुद्धि है। जहाँ स्त्री, दुष्ट जीव, नपुंसक, चोर, मद्यपायी, जीववध करनेवाले नीच लोग रहते हों, वहाँ न रहना, वह शयनासनशुद्धि है। शृंगार, विकार, आभूषण, सुन्दरवेश - ऐसी वेश्यादिक की क्रीड़ा जहाँ होती हो, सुन्दर गीत, नृत्य, वादित्र जहाँ होते

हों, जहाँ विकार के कारण नग्न गुह्यप्रदेश जिनमें दिखाई दे – ऐसे चित्र हों; जहाँ हास्य महोत्सव घोड़े आदि को शिक्षा देने का स्थान तथा व्यायामभूमि हो, वहाँ मुनि न रहे। जहाँ क्रोधादिक उत्पन्न हो – ऐसे स्थान पर न रहे, वह शयनासनशुद्धि है। जब तक कायोत्सर्ग खड़े रहने को शक्ति हो, तब तक स्वरूप में लीन होकर खड़े रहें, बाद में बैठे तथा खेद को दूर करने के लिये अल्प काल सोवे। जहाँ आरम्भ की प्रेरणारहित वचन प्रवर्ते; युद्ध, काम, कर्कश, प्रलाप, पैशुन्य, कठोर, परपीड़ा करनेवाले वाक्य न प्रवर्ते, विकथा के अनेक भेद हैं, वैसे वचन नहीं प्रवर्ते; जिनमें व्रत–शील का उपदेश हो; अपना व पर का हित हो, मीठे, मनोहर, वैराग्य के कारण; अपनी प्रशंसा, दूसरे की निन्दा से रहित; संयमीयोग्य वचन प्रवर्ते, वह वाक्यशुद्धि है। ऐसा संयमधर्म है।

संयम के पाँच भेद कहे हैं – सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात – ऐसे पाँच भेद हैं, इनका विशेष वर्णन अन्य ग्रन्थों से जानना।

अब, उत्तमतपधर्म को कहते हैं —

इहपरलोयसुहाणं, णिरवेक्खो जो करेदि समभावो।
विविहं कायकिलेसं, तवधम्मो णिम्मलो तस्स॥४००॥

इस लोक या पर लोक सुख, निरपेक्ष हो समभाव से।
जो विविध कायक्लेश करता, धर्म निर्मल तप उसे॥४००॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो मुनि, [**इहपरलोयसुहाणं णिरवेक्खो**] इस लोक–पर लोक के सुख की अपेक्षा से रहित होता हुआ, [**समभावो**] सुख–दुःख, शत्रु–मित्र, तृण –कंचन, निन्दा–प्रशंसा आदि में राग–द्वेषरहित समभावी होता हुआ, [**विविहं कायकिलेसं**] अनेक प्रकार कायक्लेश [**करेदि**] करता है, [**तस्स णिम्मलो तवधम्मो**] उस मुनि के निर्मल तपधर्म होता है।

भावार्थ : चारित्र के लिये जो उद्यम और उपयोग करता है, वह तप कहा है। वह कायक्लेशसहित ही होता है; इसलिए आत्मा की विभावपरिणति के संस्कार को मिटाने के लिए उद्यम करता है। अपने शुद्धस्वरूप उपयोग को चारित्र में रोकता है, बड़े बलपूर्वक रोकता है – ऐसा बल करना ही तप है। वह बाह्य–आभ्यन्तर के भेद से बारह प्रकार का

कहा गया है। उसका वर्णन आगे चूलिका में होगा। ऐसे तपधर्म का वर्णन किया।

अब, उत्तमत्यागधर्म को कहते हैं —

जो चयदि मिट्ठभोज्जं, उवयरणं रायदोससंजणयं।
वसदिं ममत्तहेदुं, चायगुणो सो हवे तस्स॥४०१॥

जो मिष्ट भोजन को तजे, रागादि जनक पदार्थ भी।
मोह का कारण वसतिका तजे वह त्यागी मुनि॥४०१॥

अन्वयार्थ : [**जो मिट्ठभोज्जं चयदि**] जो मुनि, मिष्ट भोजन को छोड़ता है, [**रायदोससंजणयं उवयरणं**] राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाले उपकरण को छोड़ता है, [**ममत्तहेदुं वसदिं**] ममत्व का कारण वसतिका को छोड़ता है, [**तस्स चायगुणो हवे**] उस मुनि के त्याग नाम का धर्म होता है।

भावार्थ : मुनि के संसार-देह-भोग के ममत्व का त्याग तो पहले ही है। जिन वस्तुओं से काम पड़ता है, उनको यहाँ मुख्यरूप से कहा है। आहार से काम पड़े तो सरस-नीरस का ममत्व नहीं करे; धर्मोपकरण - पुस्तक, पीछी, कमण्डलु जिनसे राग तीव्र बँधे - ऐसे न रखे; जो गृहस्थजन के काम न आवे - ऐसी बड़ी वसति का रहने की जगह से काम पड़े तो ऐसी जगह न रहे जिससे ममत्व उत्पन्न हो, ऐसे त्यागधर्म का वर्णन किया।

अब, उत्तमआकिञ्चन्यधर्म को कहते हैं —

तिविहेण जो विवज्जदि, चेयणमियरं च सव्वहा संगं।
लोयववहारविरदो, णिग्गंथत्तं हवे तस्स॥४०२॥

चेतन अचेतन सङ्ग को, मन-वचन-तन से परित्यजे।
जो रत नहीं व्यवहार में, निर्ग्रन्थता उसको कहें॥४०२॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो मुनि, [**लोयववहारविरदो**] लोकव्यवहार से विरक्त होकर [**चेयणमियरं च सव्वहा संगं**] चेतन-अचेतन परिग्रह को सर्वथा [**तिविहेण विवज्जदि**] मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से छोड़ता है, [**तस्स णिग्गंथत्तं हवे**] उस मुनि के निर्ग्रन्थत्व होता है।

भावार्थ : मुनि, अन्य परिग्रह तो छोड़ता ही है परन्तु मुनित्व के योग्य ऐसे चेतन तो शिष्य संघ और अचेतन पुस्तक, पिच्छिका, कमण्डलु धर्मोपकरण और आहार, वसतिका, देह – ये अचेतन, इनसे भी सर्वथा ममत्व छोड़कर ऐसा विचारता है कि मैं तो आत्मा ही हूँ; अन्य मेरा कुछ भी नहीं है; मैं अकिञ्चन हूँ – ऐसा निर्ममत्व हो, उसके आकिञ्चन्यधर्म होता है।

अब, उत्तमब्रह्मचर्यधर्म को कहते हैं —

जो परिहरेदि संगं, महिलाणं णेव पस्सदे रूवं।
कामकहादिणिरीहो, णव विह बंभं हवे तस्स॥४०३॥

नारियों का तजे सङ्ग, नहिं रूप उनका देखता।
तजे, काम-कथादि, नव विध ब्रह्मचर्य उसे कहा॥४०३॥

अन्वयार्थ : [जो महिलाणं संगं परिहरेदि] जो मुनि, स्त्रियों की सङ्गति नहीं करता है, **[रूवं णेव पस्सदे]** उनके रूप को नहीं देखता है, **[कामकहादिणिरीहो]** काम की कथा आदि शब्द से, स्मरणादिक से रहित हो, **[णव विह]** ऐसा नवधा, अर्थात् मन-वचन-काय; कृत-कारित-अनुमोदना और तीनों काल से-नव कोटि से करता है, **[तस्स बंभं हवे]** उस मुनि के ब्रह्मचर्यधर्म होता है।

भावार्थ : ब्रह्म, आत्मा है; उसमें लीन होना, वह ब्रह्मचर्य है। परद्रव्यों में आत्मा लीन हो, उनमें स्त्री में लीन होना प्रधान है क्योंकि काम, मन में उत्पन्न होता है; इसलिए यह अन्य कषायों से भी प्रधान है और इस काम का आलम्बन, स्त्री है; अत: इसका संसर्ग छोड़ने पर अपने स्वरूप में लीन होता है। इसलिए स्त्री की सङ्गति करना, रूप निरखना, कथा करना, स्मरण करना जो छोड़ता है, उसके ब्रह्मचर्य होता है। यहाँ टीका में शील के अठारह हजार भेद ऐसे लिखे हैं —

अचेतन स्त्री – काष्ठ पाषाण और लेपकृत। इन तीनों को मन-वचन-काय और कृत –कारित-अनुमोदान, इन छह से गुणा करने पर अठारह हुए। पाँच इन्द्रियों से गुणा करने पर, नव्वे (९०) हुए। द्रव्य और भाव से गुणा करने पर, एक सौ अस्सी (१८०) हुए। क्रोध मान माया लोभ, इन चारों से गुणा करने पर सात सौ बीस (७२०) हुए।

चेतन स्त्री – देवांगना, मुनष्यणी। उनको कृत–कारित–अनुमोदना से गुणा करने पर नौ (९) हुए। इनको मन–वचन–काय इन तीन से गुणा करने पर सत्ताईस (२७) हुए। पाँच इन्द्रियों से गुणा करने पर एक सौ पैंतीस (१३५) हुए। द्रव्य और भाव से गुणा करने पर दो सौ सत्तर (२७०) हुए। इनको चार संज्ञा–आहार, भय, मैथुन, परिग्रह से गुणा करने पर एक हजार अस्सी (१०८०) हुए। इनको अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन, क्रोध, मान, माया, लोभरूप सोलह कषायों से गुणा करने पर सत्रह हजार दो सौ अस्सी (१७२८०) हुए। इनमें अचेतन स्त्री के सात सौ बीस (७२०) भेद मिलाने पर अठारह हजार (१८०००) भेद हो जाते हैं। ये भेद अन्य प्रकार से भी किये हैं, उन्हें अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिए[१]। ये आत्मा की परिणति के विकार के भेद हैं; अत: सबही को छोड़कर, अपने स्वरूप में रमण करे, तब ब्रह्मचर्यधर्म उत्तम होता है।

अब, शीलवान की बढ़ाई कहते हैं, उक्तं च—

जो ण वि जादि वियारं, तरुणियणकडक्खबाणविद्धो वि।
सो चेव सूरसूरो, रणसूरो[२] णो हवे सूरो॥१॥

बिद्ध नारी नैन शर से, पर न लेश विकार है।
शूर में भी शूर वह, रणशूर तो नहीं शूर है॥१॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो पुरुष [**तरुणियणकडक्खबाणविद्धो वि**] स्त्रियों के कटाक्षरूपी बाणों से आहत होकर भी [**वियारं ण वि जादि**] विकार को प्राप्त नहीं होता है, [**सो चेव सूरसूरो**] वह शूरवीरों में प्रधान है [**रणसूरो सूरो णो हवे**] और जो रण में शूरवीर है, वह शूरवीर नहीं है।

भावार्थ : युद्ध में सामना करके मरनेवाले शूरवीर तो बहुत हैं परन्तु जो स्त्रियों के वश में नहीं होते हैं, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हैं – ऐसे विरले ही हैं; वे ही बड़े

१) अशुभ मन–वचन–काय को त्रिगुप्ति द्वारा घात करे, वह शील के नौ भेद; उनको आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञाओं से गुणा करने से ९×४ = ३६ हुए; उनको पञ्चेन्द्रिजय से गुणा करने से १८० भेद; उसे पृथ्वी आदि पाँच स्थावर और त्रसकायिकों में दो–तीन–चार – संज्ञी पञ्चेन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय, यह १० भेद से गुणने पर १८०० हुए। उसको उत्तम क्षमादि १० धर्मों से गुणने पर १८००० भेद हुए। ***(षट्प्राभृतादि संग्रह, पृ० २६७)***

२) मुद्रित प्रति में 'रणसूणो' पाठ है।

साहसी हैं, शूरवीर हैं; काम को जीतनेवाले ही बड़े सुभट हैं। ऐसे दस प्रकार के धर्म का वर्णन किया।

अब, इसको सङ्कोच करते हैं —

एसो दहप्पयारो, धम्मो दहलक्खणे हवे णियमा।
अण्णे हवदि धम्मो, हिंसा सुहमा वि जत्थत्थि॥४०४॥

यह दश तरह का धर्म, दस लक्षण स्वरूपी है कहा।
अन्यत्र किञ्चित् जहाँ हिंसा, वहाँ धर्म कदापि ना॥४०४॥

अन्वयार्थ : [**एसो दहप्पयारों धम्मो णियमा दहलक्खणो हवे**] यह दश प्रकार का धर्म ही नियम से दश लक्षणस्वरूप धर्म है [**अण्णो जत्थत्थि सुहमा वि हिंसा धम्मो ण हवदि**] और अन्य जहाँ सूक्ष्म भी हिंसा होवे, वह धर्म नहीं है ।

भावार्थ : जहाँ हिंसा हो और उसको कोई अन्यमती धर्म मानता हो तो उसे धर्म नहीं कहते हैं। यह दश लक्षणस्वरूप धर्म कहा है, वही नियम से धर्म है।

इस गाथा में कहा है कि जहाँ सूक्ष्म भी हिंसा पायी जाए, वह धर्म नहीं है। इसी अर्थ को अब स्पष्ट करते हैं —

हिंसारंभे ण सुहो, देवणिमित्तं गुरूण कज्जेसु।
हिंसा पावं ति मदो, दयापहाणो जदो धम्मो॥४०५॥

देव-गुरु के निमित्त भी, हिंसा कार्य न शुभ अरे।
हिंसा कही है पापमय, अरू दयामय है धर्म रे॥४०५॥

अन्वयार्थ : [**हिंसा पावं ति मदो जदो धम्मो दयापहाणो**] जिससे हिंसा हो, वह पाप है; धर्म है, वह दया प्रधान है – ऐसा कहा गया है। [**देवणिमित्तं गुरूण कज्जेसु हिंसारंभो सुहो ण**] इसलिए देव के निमित्त तथा गुरु के कार्य के निमित्त भी, हिंसा आरम्भ, शुभ नहीं है।

भावार्थ : अन्यमती, हिंसा में धर्म मानते है। मीमांसक तो यज्ञ करते हैं, उसमें पशुओं को होमते हैं और उसका फल, शुभ कहते हैं। देवी और भैरों (भैरव) के उपासक

बकरे आदि मारकर देवी और भैरों के चढ़ाते हैं और उसका शुभफल मानते हैं। बौद्धमती हिंसासहित माँसादिक आहार को शुभ कहते हैं। श्वेताम्बरों के कई सूत्रों में ऐसा कहा है कि देव-गुरु-धर्म के निमित्त चक्रवर्ती की सेना का नाश कर देना चाहिए। जो साधु ऐसा नहीं करता है, वे अनन्त संसारी होता है। कहीं मद्य-माँस का आहार भी लिखा है - इन सबका निषेध इस गाथा से जानना चाहिए। जो देव-गुरु के निमित्त, हिंसा का आरम्भ करता है; वह भी शुभ नहीं है। धर्म तो दयाप्रधान ही है। पूजा, प्रतिष्ठा, चैत्यालय का निर्मापण, संघयात्रा तथा वसतिका का निर्मापण, ये गृहस्थों के कार्य हैं; इनको भी मुनि न आप करता है, न कराता है, न अनुमोदना करता है। यह धर्म, गृहस्थों का है। अत: जैसे इनका सूत्र में विधान लिखा है, वैसे गृहस्थ करता है। यदि गृहस्थ, मुनि से इनके सम्बन्ध में प्रश्न करे तो मुनि उत्तर देवे कि जैन सिद्धान्त में गृहस्थ का धर्म, पूजा-प्रतिष्ठा आदि लिखा है, वैसे करो। ऐसा कहने में हिंसा का दोष तो गृहस्थ के ही है। इसमें जो श्रद्धा, भक्ति, धर्म की प्रधानता हुई, उस सम्बन्धी पुण्य हुआ, उसके साथी मुनि भी हैं। हिंसा, गृहस्थ की है, उसके साथी नहीं है। गृहस्थ भी हिंसा करने का अभिप्राय रखे (करे) तो अशुभ ही है। पूजा-प्रतिष्ठा यत्नपूर्वक करता है, कार्य में हिंसा होती है, उससे गृहस्थ कैसे बचे ? सिद्धान्त में ऐसा भी कहा है कि जिस कार्य के करने में पाप, अल्प हो और पुण्य, अधिक हो तो ऐसा कार्य, गृहस्थ को करना योग्य है। गृहस्थ जिसमें लाभ समझता है, वह कार्य करता है। थोड़ा द्रव्य देने पर अधिक द्रव्य आवे, वह कार्य करता है किन्तु मुनियों के ऐसा कार्य नहीं होता है, उनके तो सर्वथा यत्न प्रवर्तन ही योग्य है - ऐसा जानना चाहिए।

देवगुरुण [१]णिमित्तं, हिंसासहिदो वि होदि जदि धम्मो।
हिसारहिदो धम्मो, इदि जिणवयणं हवे अलियं॥४०६॥

देव-गुरु के निमित्त भी, यदि हिंसा यति का धर्म हो।
तो 'धर्म, हिंसा रहित है', यह जिनवचन नहिं सत्य हो॥४०६॥

अन्वयार्थ : [**जदि देवगुरुण णिमित्तं**] यदि देव-गुरु के निमित्त भी, [**हिंसासहिदो वि धम्मो होदि**] हिंसा का आरम्भ यति का धर्म हो तो [**धम्मो हिंसारहिदो**] 'धर्म,

१) मुद्रित प्रति में 'णिम्मित्तं' पाठ है।

हिंसारहित है' [**इदि जिणवयणं अलियं हवे**] – ऐसा जिनेन्द्रभगवान का वचन, अलीक (झूठा) सिद्ध होगा।

भावार्थ : क्योंकि भगवान ने धर्म, हिंसारहित कहा है; इसलिए देव–गुरु के कार्य के निमित्त भी मुनि, हिंसा का आरम्भ नहीं करते हैं। जो श्वेताम्बर कहते हैं, वह मिथ्या है।

अब, इस धर्म की दुर्लभता दिखाते हैं —

इदि एसो जिणधम्मो, अलद्धपुव्वो अणाइकाले वि।
मिछत्तसंजुदाणं, जीवाणं लद्धिहीणाणं ॥४०७॥

जिनदेव का यह धर्म पाया, नहिं अनादि काल से।
पहले कभी मिथ्यात्वयुत अरु, लब्धि विरहित जीव ने ॥४०७॥

अन्वयार्थ : [**इदि एसो जिणधम्मो**] इस प्रकार से यह जिनेश्वरदेव का धर्म [**अणाइकाल वि**] अनादि काल में [**लद्धिहीणाणं**] जिनको स्व–काल आदि की प्राप्ति नहीं हुई है, ऐसे [**मिछत्तसंजुदाणं जीवाणं**] मिथ्यात्वसहित जीवों के [**अलद्धपुव्वो**] अलब्धपूर्व है, अर्थात् पहिले कभी नहीं पाया गया (प्राप्त हुआ)।

भावार्थ : अनादि काल से मिथ्यात्व के कारण जीवों को जीव–अजीवादि तत्त्वार्थ का श्रद्धान कभी नहीं हुआ। बिना तत्त्वार्थश्रद्धान के अहिंसाधर्म की प्राप्ति कैसे हो?

अब कहते हैं कि अलब्धपूर्व धर्म को पाकर केवल पुण्य के ही आशय से सेवन नहीं करना —

एदे दहप्पयारा, पावकम्मस्स णासिया भणिया।
पुण्णस्स य संजणया, पर पुण्णत्थं ण कायव्वा ॥४०८॥

दशधर्म है यह पापनाशक, पुण्य–उत्पादक कहा।
किन्तु केवल पुण्य करने के लिये कर्तव्य ना ॥४०८॥

अन्वयार्थ : [**एदे दहप्पयारा**] ये दश प्रकार के धर्म के भेद, [**पावकम्मस्स णासिया**] पापकर्म को तो नाश करनेवाले [**य पुण्णस्स संजणया**] और पुण्यकर्म को उत्पन्न करनेवाले [**भणिया**] कहे गये हैं [**पर पुण्णत्थं ण कायव्वा**] परन्तु केवल पुण्य ही के प्रयोजन से इनको अङ्गीकार करना उचित नहीं है।

भावार्थ : सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम, शुभगोत्र तो पुण्यकर्म कहे गये हैं; चार घातियाकर्म, असातावेदनीय, अशुभनाम, अशुभआयु और अशुभगोत्र, ये पापकर्म कहे गये हैं; दश-लक्षण धर्म को पाप का नाश करनेवाला और पुण्य को उत्पन्न करनेवाला कहा है, सो केवल पुण्योपार्जन का अभिप्राय रखकर इनका सेवन उचित नहीं है क्योंकि पुण्य भी बन्ध ही है। ये धर्म तो पाप जो घातियाकर्म, उसका नाश करनेवाले हैं और अघातिया में अशुभप्रकृतियों का नाश करते हैं। पुण्यकर्म, संसार के अभ्युदय को देते हैं; इसलिए इनसे (दश धर्म से) पुण्य का भी व्यवहार अपेक्षा बन्ध होता है, सो स्वयमेव होता ही है; उसकी वांछा करना तो संसार की वाँछा करना है और ऐसा करना तो निदान हुआ; मोक्षार्थी के यह होता नहीं है। जैसे, किसान, खेती अनाज के लिये करता है, उसके घास स्वयमेव होती है; उसकी वाँछा क्यों करे ? वैसे ही मोक्षार्थी को पुण्यबन्ध की वाँछा करना योग्य नहीं है।

अब, इसी बात को विशेष दृढ़ करते हैं —

पुण्णं पि जो समच्छदि, संसारो तेण ईहिदो होदि।
पुण्णं सुग्गई हेदुं, पुण्णखएणेव णिव्वाणं॥४०९॥

जो पुण्य को है चाहता, संसार ही वह चाहता।
पुण्य शुभ गति हेतु एवं मोक्ष, शुभ क्षय से कहा॥४०९॥

अन्वयार्थ : [**जो पुण्णं पि समच्छदि**] जो पुण्य को चाहता है, [**तेण संसारो ईहिदो होदि**] वह पुरुष, संसार ही को चाहता है [**पुण्णं सुग्गई हेदुं**] क्योंकि पुण्य, सुगति के बन्ध का कारण है [**णिव्वाणं पुण्णखएणेव**] और मोक्ष, पुण्य के भी क्षय से होता है।

भावार्थ : पुण्य से सुगति होती है; इसलिए जिसने पुण्य को चाहा, उसने संसार ही को चाहा क्योंकि सुगति है, वह संसार ही है। मोक्ष तो पुण्य का भी नाश होने पर होता है; इसलिए मोक्षार्थी को पुण्य की वाँछा करना योग्य नहीं है।

जो अहिलसेदि पुण्णं, सकसाओ विसयसोक्खतण्हाए।
दूरे तस्स विसोही, विसोहिमूलाणि पुण्णाणि॥४१०॥

कषाययुत हो विषय तृष्णा से जो चाहे पुण्य को।
उसको विशुद्धि दूर है, जो मूल कारण पुण्य की॥४१०॥

अन्वयार्थ : [जो सकसाओ विसयसोक्खतण्हाए पुण्णं अहिलसेदि] जो कषायसहित होता हुआ, विषयसुख की तृष्णा से पुण्य की अभिलाषा करता है, **[तस्स विसोही दूरे]** उसके (मन्दकषाय के अभाव के कारण) विशुद्धता दूर है **[पुण्णाणि विसोहिमूलाणि]** और विशुद्धता है मूलकारण जिसका, ऐसा पुण्यकर्म है।

भावार्थ : विषयों की तृष्णा से पुण्य को चाहना, तीव्रकषाय है। पुण्य का बन्ध, मन्दकषायरूप विशुद्धता से होता है; इसलिए जो पुण्य चाहता है, उसके आगामी पुण्यबन्ध भी नहीं होता है; निदानमात्र फल हो तो हो।

पुण्णासाए ण पुण्णं, जदो णिरीहस्स पुण्णसंपत्ती।
इय जाणिऊण, जइणो, पुण्णे वि म आयरं कुणह॥४११॥

पुण्य वाञ्छा से न हो, इच्छा रहित को पुण्य हो।
यह जानकर भी हे यतीश्वर! पुण्य-आदर मत करो॥४११॥

अन्वयार्थ : [जदो पुण्णासाए पुण्णं ण] क्योंकि पुण्य की वाँछा से तो पुण्यबन्ध होता नहीं है **[णिरीहस्स पुण्णसंपत्ती]** और वाँछारहित पुरुष के पुण्य का बन्ध होता है; **[जइणो इय जाणिऊण]** इसलिए हे यतीश्वरों! ऐसा जानकर **[पुण्णे वि म आयरं कुणह]** पुण्य में भी आदर (वाँछा) मत करो।

भावार्थ : यहाँ मुनिराज को उपदेश है कि पुण्य की वाँछा से पुण्यबन्ध नहीं होता है; आशा मिटने पर होता है, इसलिए पुण्य की भी आशा मत करो; अपने स्वरूप की प्राप्ति की आशा करो।

पुण्णं बंधदि जीवो, मंदकसाएहि परिणदो संतो।
तम्हा मंदकसाया, हेऊ पुण्णस्स ण हि वंछा॥४१२॥

परिमाण मन्द कषाय से है, पुण्य बँधता जीव को।
इसलिए मन्द कषाय हेतु, पुण्य का, नहिं वाञ्छा॥४१२॥॥

अन्वयार्थ : [जीवो मंदकसाएहि परिणदो संतो] जीव, मन्दकषायरूप परिणमता हुआ, **[पुण्णं बंधदि]** पुण्यबन्ध करता है, **[तह्मा पुण्णस्स हेऊ मंदकसाया]** इसलिए पुण्यबन्ध का कारण मन्दकषाय है; **[वंछा ण हि]** वाँछा, पुण्यबन्ध का कारण नहीं है।

भावार्थ : पुण्यबन्ध, मन्दकषाय से होता है और इसकी वाँछा है, वह तीव्रकषाय है; इसलिए वाँछा नहीं करना चाहिए। निर्वांछक पुरुष के पुण्यबन्ध होता है। यह लोक में भी प्रसिद्ध है कि जो चाह करता है, उसको कुछ नहीं मिलता है; बिना चाहवाले को बहुत मिलता है, इसलिए वाँछा का तो निषेध ही है।

यहाँ कोई **प्रश्न** करता है कि अध्यात्मग्रन्थों में तो पुण्यनिषेध बहुत किया और पुराणों में पुण्य ही का अधिकार है; इसलिए हम तो यह जानते हैं कि संसार में पुण्य ही बड़ा है, इसी से तो यहाँ इन्द्रियों के सुख मिलते हैं और इसी से मनुष्यपर्याय, उत्तम संगति, उत्तम शरीर, मोक्षसिद्धि के उपाय मिलते हैं; पाप से नरक-निगोद में जावे, तब मोक्ष का भी साधन कहाँ मिलेगा? इसलिए ऐसे पुण्य की वाँछा क्यों नहीं करना चाहिए?

इसका **समाधान** - यह कहा, सो तो सत्य है परन्तु भोगों की लिए पुण्य की वाँछा का अत्यन्त निषेध है। जो भोगने के लिए पुण्य की वाँछा करता है, उसके पहले तो सातिशय पुण्यबन्ध ही नहीं होता है और यहाँ तपश्चरणादिक से कुछ पुण्य बाँध कर भोग पाता है तो अति तृष्णा से भोगों को भोगता है, तब नरक-निगोद ही पाता है। बन्ध-मोक्ष के स्वरूप साधने के लिए पुण्य पाता है, उसका निषेध नहीं है। पुण्य से मोक्ष साधने की सामग्री मिले - ऐसा उपाय रखे तो परम्परा से मोक्ष ही की वाँछा हुई; पुण्य की वाँछा तो नहीं हुई। जैसे, कोई पुरुष भोजन करने की वाँछा से रसोई की सामग्री इकट्ठी करता है, उनको वाँछा पहले होवे तो भोजन ही की वाँछा कहना चाहिए और भोजन की वाँछा के बिना, केवल सामग्री ही की वाँछा करे तो सामग्री मिलने पर भी प्रयासमात्र ही हुआ; कुछ फल तो नहीं हुआ - ऐसा जानना चाहिए। पुराणों में पुण्य का अधिकार भी मोक्ष ही के लिये है; संसार का तो वहाँ भी निषेध ही है।

दशलक्षण धर्म, दयाप्रधान है और दया, सम्यक्त्व का मुख्य चिह्न है क्योंकि सम्यक्त्व, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष - इन तत्त्वार्थ के ज्ञानपूर्वक श्रद्धानस्वरूप है। इसके यह होवे, तब सब जीवों को अपने समान ही जानता है। उनको दु:ख होता है तो अपने समान जानता है, तब उनकी करुणा होवे ही और अपना शुद्धस्वरूप जाने, कषायों को अपराध (दु:ख) रूप जाने, इनसे अपना घात जाने, तब अपनी दया,

कषायभाव के अभाव को मानता है; इस तरह अहिंसा को धर्म जानता है, हिंसा को अधर्म जानता है – ऐसा श्रद्धान ही सम्यक्त्व है। उसके नि:शङ्कित आदि आठ अङ्ग हैं, उनको जीवदया ही पर लगाकर कहते हैं।

पहले नि:शंङ्कितअङ्ग को कहते हैं —

किं जीवदया धम्मो, जण्णे हिंसा वि होदि किं धम्मो।
इच्चेवमादिसंका, तदकरणं जाण णिस्संका॥४१३॥

क्या जीव रक्षा धर्म है, या यज्ञ हिंसा भाव में।
इत्यादि शंका जो करे नहिं, वह नि:शंकित अंग हैं॥४१३॥

अन्वयार्थ : [**किं जीवदया धम्मो**] यह विचार करना कि क्या जीवदया धर्म है ? [**जण्णे हिंसा वि होदि किं धम्मो**] अथवा यज्ञ में पशुओं के वधरूप हिंसा होती है, वह धर्म है ? [**इच्चेवमादिसंका**] इत्यादि धर्म में संशय होना, वह शङ्का है। [**तदकरणं णिस्संका जाण**] इसका नहीं करना, वह नि:शङ्का है – ऐसा जान।

भावार्थ : यहाँ आदि शब्द से क्या दिगम्बर यतीश्वरों को ही मोक्ष है अथवा तापस पञ्चाग्नि आदि तप करते हैं, उनको भी है ? क्या दिगम्बर को ही मोक्ष है या श्वेताम्बर को भी है ? केवली कवलाहार करते हैं या नहीं करते हैं ? स्त्रियों को मोक्ष है या नहीं ? जिनदेव ने वस्तु को अनेकान्त कहा है, वह सत्य है या असत्य है ? – ऐसी आशङ्काएँ नहीं करना, सो नि:शङ्कितअङ्ग है।

दयभावो वि य धम्मो, हिंसाभावो ण भण्णदे धम्मो।
इदि संदेहाभावो, णिस्संका णिम्मला होदि॥४१४॥

दयामय ही धर्म है, नहिं धर्म हिंसाभाव में।
इस तरह नि:सन्देह श्रद्धा, वह नि:शंकित अंग है॥४१४॥

अन्वयार्थ : [**दयभावो वि य धम्मो**] निश्चय से दयाभाव ही धर्म है, [**हिंसाभावो धम्मो ण भण्णदे**] हिंसाभाव धर्म नहीं कहलाता है – [**इदि**] ऐसा निश्चय होने पर [**संदेहाभावो**] सन्देह का अभाव होता है, [**णिम्मला णिस्संका होदि**] वह ही निर्मल नि:शङ्कितगुण है।

भावार्थ : अन्य मतवालों के माने हुए देव-धर्म-गुरु तथा तत्त्व के विपरीतस्वरूप का सर्वथा निषेध करके, जैनमत में कहे हुए का श्रद्धान करना, सो निःशङ्कितगुण है। जब तक शङ्का रहती है, तब तक श्रद्धान निर्मल नहीं होता है।

अब, निःकांक्षितगुण को कहते हैं —

जो सग्गसुहणिमित्तं, धम्मं णायरदि दूसहतवेहिं।
मोक्खं समीहमाणो, णिक्खंखा जायदे तस्स॥४१५॥

जो स्वर्ग सुख के लिये, दुर्धर तपश्चरण नहीं करे।
धर्म करता मोक्ष के ही लिए निःकाँक्षित वही॥४१५॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो सम्यग्दृष्टि, [**दूसहतवेहिं**] दुद्धर तप से भी [**मोक्खं समीहमाणो**] मोक्ष की ही वाँछा करता हुआ [**सग्गसुहणिमित्तं धम्मं णायरदि**] स्वर्गसुख के लिये धर्म का आचरण नहीं करता, [**तस्स णिक्खंखां जायदे**] उसके निःकांक्षितगुण होता है।

भावार्थ : जो, धर्म का आचरण तथा दुद्धर तप, मोक्ष के ही लिये करता है; स्वर्गादिक के सुख नहीं चाहता है, उसके निःकांक्षितगुण होता है।

अब, निर्विचिकित्सागुण को कहते हैं —

दहविहधम्मजुदाणं, सहावदुग्गंधअसुइदेहेसु।
जं णिंदणं ण कीरइ, णिव्विदिगिंछा गुणो सो हु॥४१६॥

दुर्गन्ध एवं अशुद्धि तन, दश धर्म युत मुनिराज का।
लख कर नहीं निन्दा करे, सो निर्विचिकित्सा गुण कहा॥४१६॥

अन्वयार्थ : [**दहविहधम्मजुदाणं**] दश प्रकार के धर्मसहित शरीर, [**सहावदुग्गंध-असुइदेहेसु**] जो स्वभाव से दुर्गन्धित और अशुचि है और स्नानादि संस्कार के अभाव से बाह्य में विशेष अशुचि और दुर्गन्धित दिखाई देता है; उसकी [**जं णिंदणं ण कीरइ**] निन्दा (अवज्ञा) नहीं करना, [**सो हु णिव्विदिगिंछा गुणो**] वह निर्विचिकित्सागुण है।

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि पुरुष की प्रधान दृष्टि, सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र गुणों पर

पड़ती है। देह तो स्वभाव ही से अशुचि और दुर्गन्धित है; इसलिए मुनिराज की देह की तरफ क्या देखे ? उनके रत्नत्रय की तरफ देखे, तब ग्लानि क्यों आवे ? ऐसी ग्लानि का उत्पन्न न होना ही निर्विचिकित्सागुण है। जिसके सम्यक्त्वगुण, प्रधान नहीं होता है, उसकी दृष्टि पहले देह पर पड़ती है, तब ग्लानि उत्पन्न होती है, वहाँ यह गुण नहीं होता है।

अब, अमूढ़दृष्टिगुण को कहते हैं —

भयलज्जालाहादो, हिंसारंभो ण मण्णदे धम्मो।
जो जिणवयणे लीणो, अमूढदिट्ठी हवे सो दु॥४१७॥

भय लाज या लाभादि से जो धर्म हिंसारम्भ में।
नहिं मानता, रत जिनवचन में मूढ़ दृष्टि नहिं उसे॥४१७॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो [**भयलज्जालाहादो हिंसारंभो धम्मो ण मण्णदे**] भय, लज्जा और लाभ से हिंसा के आरम्भ को धर्म नहीं मानता है, [**जिणवयणे लीणो**] और जिनवचनों में लीन है; भगवान ने धर्म, अहिंसा ही कहा है – ऐसी दृढ़ श्रद्धा युक्त है, [**सो दु अमूढदिट्ठी हवे**] वह पुरुष अमूढदृष्टिगुण संयुक्त है।

भावार्थ : अन्य मतवाले, यज्ञादिक हिंसा में धर्म मानते हैं; उसको राजा के भय से, किसी व्यन्तर के भय से, लोकलाज से और कुछ धनादिक के लाभ से इत्यादि अनेक कारणों से धर्म न माने – ऐसी श्रद्धा रखे कि धर्म तो भगवान ने अहिंसा ही कहा है, वह अमूढ़दृष्टिगुण है। यहाँ हिंसारम्भ के कहने में हिंसा के प्ररूपक देव-शास्त्र-गुरु आदि में भी मूढदृष्टि नहीं होता है। – ऐसा जानना।

अब, उपगूहनगुण को कहते हैं —

जो परदोसं गोवदि, णियसुकयं जो ण पयासदे लोए।
भवियव्वभावणरओ, उवगूहणकारओ सो हु॥४१८॥

पर दोष को जो ढाँकता, निज गुण प्रतिद्ध नहीं करे।
भवितव्य को भावे सदा जो, उसे उपगुहन कहें॥४१८॥

अन्वयार्थ : [**जो परदोसं गोवदि**] जो सम्यग्दृष्टि दूसरे के दोषों को छिपाता है,

[**णियसुकयं लोए जो ण पयासदे**] अपने सुकृत (पुण्य) को लोक में प्रकाशित नहीं करता फिरता है, [**भवियव्वभावणरओ**] ऐसी भावना में लीन रहता है कि जो भवितव्य है, वह होता है तथा होगा, [**सो हु उवगूहणकारओ**] वह उपगूहनगुण करनेवाला है।

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि के ऐसी भावना रहती है कि कर्म के उदय के अनुसार मेरी लोक में प्रवृत्ति है, वह होनी है सो होती है – ऐसी भावना से अपने गुणों को प्रकाशित नहीं करता फिरता है, दूसरों के दोष प्रगट नहीं करता है। साधर्मी जन तथा पूज्य पुरुषों में किसी कर्म के उदय से दोष लगे तो उसका छिपावे, उपदेशादि से दोष को छुड़ावे, ऐसा न करे जिससे उनकी निन्दा हो, धर्म की निन्दा हो। धर्म, धर्मात्मा में से दोष का अभाव करना है, सो दोष को छिपाना भी अभाव ही करना है क्योंकि जिसको लोग न जाने, वह अभावतुल्य ही है, ऐसे उपगूहनगुण होता है।

अब, स्थितिकरणगुण को कहते हैं —

धम्मादो चलमाणं, जो अण्णं संठवेदि धम्मम्मि।
अप्पाणं सुदिढयदि, ठिदिकरणं होदि तस्सेव॥४१९॥

यदि कोई च्युत हो धर्म से तो, उसे स्थापित करे।
स्वयं को भी दृढ़ करे, जो उसे स्थितिकरण है॥४१९॥

अन्वयार्थ : [**जो धम्मादो चलमाणं अण्णं धम्मम्मि संठवेदि**] जो धर्म से चलायमान होते हुए दूसरे को धर्म में स्थापित करता है, [**अप्पाणं सुदिढयदि**] और अपने आत्मा को भी चलायमान होने से दृढ़ करता है, [**तस्सेव ठिदिकरणं होदि**] उसके निश्चय से स्थितिकरणगुण होता है।

भावार्थ : धर्म से चिगने, अर्थात् चलायमान होने के अनेक कारण हैं, इसलिए निश्चय-व्यवहाररूप धर्म से दूसरे को तथा अपने को चलायमान होता जानकर उपदेश से तथा जैसे बने वैसे दृढ़ करे, उसके स्थितिकरणगुण होता है।

अब, वात्सल्यगुण को कहते हैं —

जो धम्मिएसु भत्तो, अणुचरणं कुणदि परमसद्धाए।
पियवयणं जंपंतो, वच्छल्लं तस्स भव्वस्स॥४२०॥

धर्मीजनों में भक्तियुत, अनुचरण उनका जो करे।
प्रिय वचन श्रद्धासहित बोले, उसे गुण वात्सल्य है ॥४२०॥

अन्वयार्थ : [**जो धम्मिएसु भत्तो**] जो सम्यग्दृष्टि जीव, धार्मिक, अर्थात् सम्यग्दृष्टि श्रावकों तथा मुनियों में भक्तिवान् हो, [**अणुचरणं कुणदि**] उनके अनुसार प्रवृत्ति करता हो, [**परमसद्धाए पियवयणं जंपतो**] परम श्रद्धा से प्रिय वचन बोलता हो, [**तस्स भव्वस्स वच्छल्लं**] उस भव्य के वात्सल्यगुण होता है।

भावार्थ : वात्सल्यगुण में धर्मानुराग प्रधान है, विशेषकर धर्मात्मा पुरुषों से जिसके भक्ति अनुराग हो, उनसे प्रिय वचन सहित बोले, उनका भोजन, गमन, आगमन आदि की क्रिया में अनुचर होकर प्रवृत्ति करे। गाय, बछड़े का सा प्रेम रखे, उसके वात्सल्यगुण होता है।

अब, प्रभावनागुण को कहते हैं —

जो दसभेयं धम्मं, भव्वजणाणं पयासदे विमलं।
अप्पाणं पि पयासदि, णाणेण पहावणा तस्स ॥४२१॥

जो भव्य जीवों में प्रकाशित करे दशविध धर्म को।
निज ज्ञान से निज को प्रकाशे, प्रभावना उस भव्य को ॥४२१॥

अन्वयार्थ : [**जो दसभेयं धम्मं भव्वजणाणं**] जो सम्यग्दृष्टि दश भेदरूप धर्म को भव्यजीवों के निकट [**णाणेण**] अपने ज्ञान से [**विमलं पयासदे**] निर्मल प्रगट करे [**अप्पाणं पि पयासदि**] तथा अपनी आत्मा को दश प्रकार के धर्म से प्रकाशित करे, [**तस्स पहावणा**] उसके प्रभावनागुण होता है।

भावार्थ : धर्म को विख्यात करना, प्रभावना गुण है। इसलिए उपदेशादि से तो दूसरों में धर्म को प्रगट करे और अपनी आत्मा को दश प्रकार का धर्म अङ्गीकार कर, कर्मकलङ्क से रहित करके-प्रगट करे, उसके प्रभावनागुण होता है।

जिणसासणमाहप्पं, बहुविहजुत्तीहि जो पयासेदि।
तह तिव्वेण तवेण य, पहावणा णिम्मला तस्स ॥४२२॥

बहु भाँति युक्ति और अति तप, से प्रकाशित जो करे।
माहात्म्य जिन शासन करे, निर्मल प्रभावना हो उसे ॥४२२॥

अन्वयार्थ : [जो बहुविहजुत्तीहि] जो सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने ज्ञान के बल से, अनेक प्रकार की युक्तियों से वादियों का निराकरण कर तथा न्याय, व्याकरण, छन्द, अलङ्कार, साहित्य, विद्या से उपदेश वा शास्त्रों की रचना कर **[तह तिव्वेण तवेण य]** तथा अनेक अतिशय, चमत्कार, पूजा-प्रतिष्ठा और महान दुद्धर तपश्चरण से **[जिणसासणमाहप्पं]** जिनशासन के माहात्म्य को **[पयासेदि]** प्रगट करे, **[तस्स पहावणा णिम्मला]** उसके प्रभावनागुण निर्मल होता है।

भावार्थ : यह प्रभावना गुण बड़ा गुण है, इससे अनेकानेक जीवों के धर्म की रुचि / श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, इसलिए सम्यग्दृष्टि पुरुषों के अवश्य होता है।

अब, नि:शङ्कित आदि गुण किस पुरुष के होते हैं? - वह कहते हैं —

जो ण कुणदि परतत्तिं, पुणु पुणु भावेदि सुद्धमप्पाणं।
इंदियसुहणिरवेक्खो, णिस्संकाईगुण तस्स ॥४२३॥

निन्दा न पर की करे, निज शुद्धात्म को भावे सदा।
चाहे न इन्द्रिय सौख्य को, हों गुण निशंकादिक उसे ॥४२३॥

अन्वयार्थ : [जो परतत्तिं ण कुणदि] जो पुरुष दूसरों की निन्दा नहीं करता है, **[सुद्धमप्पाणं पुणु पुणु भावेदि]** शुद्ध आत्मा को बार-बार भाता (भावना करता) है **[इंदियसुहणिरवेक्खो]** और इन्द्रियसुख की अपेक्षा (वाँछा)-रहित होता है, **[तस्स णिस्संकाईगुणा]** उसके नि:शङ्कित आदि अष्ट गुण अहिंसा धर्मरूप सम्यक्त्व होता है।

भावार्थ : यहाँ तीन विशेषण हैं, उनका तात्पर्य यह है कि जो दूसरों की निन्दा करता है, उसके निर्विचिकित्सा, उपगूहन, स्थितिकरण और वात्सल्य गुण कैसे हो? इसलिए दूसरों की निन्दा न करे, तब ये चार गुण होवें। जिसको अपनी आत्मा के वस्तु-स्वरूप में शङ्का (सन्देह) हो तथा मूढदृष्टि हो, वह अपनी आत्मा को बारम्बार शुद्ध कैसे भावे? इसलिए जो आपको शुद्ध भावे, उसी के नि:शङ्कित तथा अमूढ़दृष्टि गुण होते हैं और प्रभावना गुण भी उसी के होता है। जिसके इन्द्रियसुख की वाँछा हो, उसके नि:कांक्षित

गुण नहीं होता है; इन्द्रियसुख की वाँछा से रहित होने पर ही नि:कांक्षित गुण होता है। ऐसे आठ गुण सम्भव होने के तीन विशेषण हैं।

अब, यह कहते हैं कि ये आठ गुण जैसे धर्म में कहे, वैसे देव-गुरु आदि के लिए भी जानने —

णिस्संकापहुडिगुणा, जह धम्मे तह य देवगुरुतच्चे।
जाणेहि जिणमयादो, सम्मत्तविसोहया एदे॥४२४॥

ये अष्ट गुण ज्यों धर्म में, त्यों देव-गुरु-अरु तत्त्व में।
जानों इन्हें सिद्धान्त से, सम्यकत्व की शुद्धि करें॥४२४॥

अन्वयार्थ : [णिस्संकापहुडिगुणा जह धम्मे तह य देवगुरुतच्चे] ये नि:शङ्कित आदि आठ गुण जैसे धर्म में प्रगट होते कहे गये हैं, वैसे ही देव के स्वरूप में तथा गुरु के स्वरूप में और षड्द्रव्य, पञ्चास्तिकाय, सप्त तत्त्व, नव पदार्थों के स्वरूप में होते हैं, **[जिणमयादो जाणेहि]** इनको प्रवचन सिद्धान्त से जानना चाहिए। **[एदे सम्मत्तविसोहया]** ये आठ गुण सम्यक्त्व को निरतिचार विशुद्ध करनेवाले हैं।

भावार्थ : देव-गुरु-तत्त्व में शङ्का न करना; इनकी यथार्थ श्रद्धा से इन्द्रियसुख की वाँछारूप काँछा न करना; इनमें ग्लानि न लाना; इनमें मूढदृष्टि न रखना; इनके दोषों का अभाव करना तथा उनको छिपाना; इनका श्रद्धान दृढ़ करना; इनमें वात्सल्य विशेष अनुराग करना; इनकी महिमा प्रगट करना - ऐसे आठ गुण इनमें जानना चाहिए। पहले जो सम्यग्दृष्टि हुए हैं, उनकी गाथाएँ जैन शास्त्रों से जानना। ये आठों गुण सम्यक्त्व के अतिचार दूर करके उसे निर्मल करनेवाले हैं।

अब, इस धर्म को धारण करनेवाला तथा जाननेवाला दुर्लभ हैं - ऐसा कहते हैं —

धम्मं ण मुणदि जीवो, अहवा जाणेइ कह व कट्ठेण।
काउं तो वि ण सक्कदि, मोहपिसाएण भोलविदो॥४२५॥

धर्म को जाने नहीं, यदि जान भी ले कष्ट से।
भ्रमित होकर मोह से, यह धर्म कर सकता नहीं॥४२५॥

अन्वयार्थ : [**जीवो धम्मं ण मुणदि**] इस संसार में पहले तो जीव, धर्म को जानता ही नहीं है [**अहवा कह व कट्ठेण जाणेइ**] अथवा किसी बड़े कष्ट से जान भी जाता है तो [**मोहपिसाएण भोलविदो**] मोह पिशाच से भ्रमित किया हुआ [**काउं तो वि ण सक्कदि**] करने को समर्थ नहीं होता है।

भावार्थ : अनादि संसार से मिथ्यात्व द्वारा भ्रमित यह प्राणी पहले तो धर्म को जानता ही नहीं है और किसी काललब्धि से*, गुरु के संयोग से, ज्ञानावरणी के क्षयोपशम से जान भी जाए तो उसका करना दुर्लभ है।

अब, धर्म के ग्रहण का माहात्म्य दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं —

जह जीवो कुणइ रइं, पुत्तकलत्तेसु कामभोगेसु।
तह जइ जिणिंदधम्मे, तो लीलाए सुहं लहदि॥४२६॥

यह जीव करता जिस तरह रति, नारि सुत भोगादि में।
जिनधर्म में हो प्रतीति वैसी, सुख लहे क्षणमात्र में॥४२६॥

अन्वयार्थ : [**जह जीवो**] जैसे यह जीव [**पुत्तकलत्तेसु कामभोगेसु रइं कुणइ**] पुत्रकलत्र में तथा काम भोग में रति (प्रीति) करता है, [**तह जइ जिणिंदधम्मे तो**] वैसे ही यदि जिनेन्द्र के वीतराग धर्म में करे तो [**लीलाए सुहं लहदि**] लीलामात्र (शीघ्र काल) में ही सुख को प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ : जैसी इस प्राणी के संसार में तथा इन्द्रियों के विषयों में प्रीति है, वैसी यदि जिनेश्वर के दश लक्षण धर्म स्वरूप वीतराग धर्म में प्रीति होवे तो थोड़े ही समय में मोक्ष को पावे।

अब कहते हैं कि जो जीव, लक्ष्मी चाहता है, सो धर्म बिना कैसे हो ? —

लच्छिं वंछेइ णरो, णेव सुधम्मेसु आयरं कुणइ।
बीएण विणा कत्थ वि, किं दीसदि सस्सणिप्पत्ति॥४२७॥

लक्ष्मी को चाहते पर, धर्म में प्रीती नहीं।
लक्षमी कैसे मिले ज्यों धान्य बीज बिना नहीं॥४२७॥

* स्वकाल की प्राप्ति से।

अन्वयार्थ : [**णरो लच्छिं वंछेइ**] यह जीव, लक्ष्मी को चाहता है [**सुधम्मेसु आयरं णेव कुणइ**] और जिनभाषित मुनि-श्रावक धर्म में आदर (प्रीति) नहीं करता है, सो लक्ष्मी का कारण तो धर्म है, उसके बिना कैसे आवे ? [**वीएण विणा सस्सणिप्पत्ति कत्थ वि किं दीसदि**] जैसे बीज के बिना धान्य की उत्पत्ति क्या कहीं दिखाई देती है ? नहीं दिखाई देती है।

भावार्थ : जैसे बीज के बिना धान्य नहीं होता है, वैसे धर्म के बिना सम्पत्ति नहीं होती है – यह प्रसिद्ध है।

अब, धर्मात्मा जीव की प्रवृत्ति और महिमा कहते हैं —

जो धम्मत्थो जीवो, सो रिउवग्गे वि कुणदि खमभावं।
ता परदव्वं वज्जइ, जणणिसमं गणइ परदारं ॥४२८॥
ता सव्वत्थ वि कित्ती, ता सव्वस्स वि हवेइ वीसासो।
ता सव्वं पिय भासइ, ता शुद्धं माणसं कुणई ॥४२९॥

धर्मस्थित जीव, शत्रु समूह पर धारे क्षमा।
पर-द्रव्य को नहिं ग्रहे, पर-स्त्री लखे जननी समा ॥४२८॥
लोक में हो कीर्ति उसकी, सब करें विश्वास भी।
प्रिय वचन सबसे कहे, वह शुद्ध निज-पर मन करे ॥४२९॥

अन्वयार्थ : [**जो जीवो धम्मत्थो**] जो जीव, धर्म में स्थित है, [**सो रिउवग्गे वि खमभावं कुणदि**] वह शत्रुओं के समूह पर भी क्षमाभाव करता है; [**ता परदव्वं वज्जइ**] दूसरे के द्रव्य को त्यागता है, ग्रहण नहीं करता है; [**परदारं जणणिसमं गणइ**] परस्त्री को माता-बहिन-कन्या के समान समझता है।

[**ता सव्वत्थ वि कित्ती**] जो जीव, धर्म में स्थित है तो उसकी सब लोक में कीर्ति होती है [**ता सव्वत्थ वि वीसासो हवेइ**] उसका सब लोक विश्वास करता है, [**ता सव्वं पिय भासइ**] वह पुरुष सबको प्रियवचन कहता है, जिससे कोई दुःख नहीं पाता है [**ता सुद्धं माणसं कुणई**] और वह पुरुष अपने तथा दूसरे के मन को शुद्ध (उज्जवल) करता है, किसी को इससे कालिमा नहीं रहती है, वैसे ही इसको भी किसी से कालिमा (मानसिक कुटिलता) नहीं रहती है।

भावार्थ : धर्म सब प्रकार से सुखदाई है।

अब, धर्म का माहात्म्य कहते हैं —

उत्तमधम्मेण जुदो, होदि तिरक्खो वि उत्तमो देवो।
चंडालो वि सुरिंदो, उत्तमधम्मेण संभवदि॥४३०॥
अग्गी वि य होदि हिमं, होदि भुयंगो वि उत्तम रयणं।
जीवस्स सुधम्मादो, देवा वि य किंकरा होंति॥४३१॥

धर्म से संयुक्त हो, तिर्जञ्च उत्तम देव हो।
धर्म उत्तम युक्त हो, चाण्डाल भी देवेन्द्र हो॥४३०॥
अग्नि शीतल हो तथा, उत्तम रतन हो सर्प भी।
देव भी हो दास उत्तम, धर्म के सुप्रभाव से॥४३१॥

अन्वयार्थ : [**उत्तमधम्मेण जुदो तिरक्खो वि उत्तमो देवो होदि**] सम्यक्त्वसहित उत्तमधर्म से युक्त तिर्यञ्च भी उत्तमदेव होता है, [**उत्तमधम्मेण चंडालो वि सुरिंदो संभवदि**] सम्यक्त्वसहित उत्तमधर्म से चाण्डाल भी देवों का इन्द्र हो जाता है।

[**जीवस्स सुधम्मादो**] इस जीव के उत्तमधर्म के प्रभाव से [**अग्गी वि य हिमं होदि**] अग्नि तो हिम (शीतल / पाला) हो जाती है; [**भुयंगो वि उत्तम रयणं होदि**] साँप भी उत्तम रत्नों की माला हो जाता है; [**देवा वि य किंकरा होंति**] देव भी किंकर हो जाते हैं।

अलियवयणं पि सच्चं, उज्जमरहिए वि लच्छिसंपत्ती।
धम्मपहावेण णरो, अणओ वि सुहंकारो होदि॥४३२॥

झूठे वचन भी सत्य हों, उद्यम रहित धनवान हो।
सत् धर्म के सुप्रभाव से, नर के सुखद सब कार्य हों॥४३२॥

अन्वयार्थ : [**धम्मपहावेण णरो**] धर्म के प्रभाव से जीव के [**अलियवयणं पि सच्चं**] झूठ वचन भी सत्य वचन हो जाते हैं; [**उज्जमरहिए वि लच्छिसंपत्ती**] उद्यमरहित को भी लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाती है, [**अणओ वि सुहंकारो होदि**] और अन्याय कार्य भी सुख के करनेवाले हो जाते हैं।

भावार्थ : यहाँ ऐसा अर्थ समझना चाहिए कि यदि पहले धर्मसेवन किया हो तो उसके प्रभाव से यहाँ झूठ बोले सो भी सच हो जाए; उद्यम बिना भी सम्पत्ति मिल जाए; अन्यायरूप प्रवृत्ति करे तो भी सुखी रहे।

अब, धर्मरहित जीव की निन्दा करते हैं —

देवो वि धम्मचत्तो, मिच्छत्तवसेण तरुवरो होदि।
चक्की वि धम्मरहिओ, णिवडइ, णरए ण संदेहो ॥४३३॥

मिथ्यात्व से हो धर्मच्युत, सुर जन्म ले एकेन्द्रि में।
शंका नहीं कि धर्मच्युत, चक्री जनम ले नरक में ॥४३३॥

अन्वयार्थ : [**धम्मचत्तो मिच्छत्तवसेण**] धर्मरहित, मिथ्यात्व के वश से [**देवो वि तरुवरो होदि**] देव भी वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीव हो जाता है; [**धम्मरहिओ चक्की वि णरए णिवडइ**] धर्मरहित चक्रवर्ती भी नरक में जा पड़ता है, [**ण संदेहो**] उसमें भी कोई सन्देह नहीं है।

धम्मविहीणो जीवो, कुणइ असक्कं पि साहसं जइ वि।
तो ण वि पावदि इट्ठं, सुट्ठुअणिट्ठं परं लहदि ॥४३४॥

धर्म विरहित जीव करता, अति पराक्रम भी यदि।
पर इष्ट प्राप्ति हो नहीं, अनिष्ट हो उत्कृष्ट भी ॥४३४॥

अन्वयार्थ : [**धम्मविहीणो जीवो**] धर्मरहित जीव, [**जइ वि असक्कं साहसं पि कुणइ**] यद्यपि बड़ा असह्य साहस (पराक्रम) भी करता है [**तो इट्ठं सुट्ठु ण वि पावदि**] तो भी उसको इष्ट वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है; [**परं अणिट्ठं लहदि**] केवल उल्टी उत्कट अनिष्ट की प्राप्ति होती है।

भावार्थ : पाप के उदय से अच्छा करते हुए भी, बुरा होता है, यह जगत्प्रसिद्ध है।

अब, बारह भावना के अधिकार की अन्तिम गाथा कहते हैं।

इय पच्चक्खं पेच्छह धम्माहम्माण विविहमाहप्पं।
धम्मं आयरह सया, पावं दूरेण परिहरह ॥४३५॥

इस तरह धर्म अधर्म की, बहुभाँति महिमा देख कर।
धर्म का आदर करो, नित पाप तज दो दूर से॥४३५॥

अन्वयार्थ : [**इय धम्माहम्माण विविहमाहप्पं पच्चक्खं पेच्छह**] हे प्राणियों! इस प्रकार से धर्म और अधर्म का अनेक प्रकार का माहात्म्य प्रत्यक्ष देखकर, [**सया धम्मं आयरह**] तुम सदा धर्म का आदर करो [**पावं दूरेण परिहरह**] और पाप को दूर ही से छोड़ो।

भावार्थ : आचार्य ने दश प्रकार के धर्म का स्वरूप कहकर, अधर्म का फल दिखाया। यहाँ यह उपदेश दिया है कि प्राणियों! प्रत्यक्ष धर्म-अधर्म का फल, लोक में देखकर धर्म का आदर (पालन) करो और पाप का त्याग करो। आचार्य बड़े उपकारी हैं अकारण ही, जिनको कुछ चाह नहीं है – निस्पृह होते हुए, जीवों के कल्याण ही के लिये बारबार कहकर प्राणियों को चेत (ज्ञान) कराते हैं, ऐसे श्रीगुरु वन्दने पूजनेयोग्य हैं। ऐसे यतिधर्म का वर्णन किया।

दोहा

मुनिश्रावक के भेदतैं, धर्म दोय परकार।
ताकूं सुनि चितवो सतत गहि पावौ भवपार॥१२॥

इति धर्मानुप्रेक्षा समाप्ता॥१२॥

द्वादश तप

अब, धर्मानुप्रेक्षा की चूलिका को कहते हुए आचार्य, बारह प्रकार तप के विधान का निरूपण करते हैं —

बारसभेओ भणिओ, णिज्जरहेऊ तवो समासेण।
तस्स पयारा एदे, भणिज्जमाणा मुणेयव्वा ॥४३६॥

निर्जरा के हेतु कहे, बारह तप संक्षेप में।
अब भेद उनके जो कहेंगे, तुम उन्हें भी जान लो ॥४३६॥

अन्वयार्थ : [**णिज्जरहेऊ तवो बारसभेओ समासेण भणिओ**] कर्मनिर्जरा का कारण तप, बारह प्रकार का संक्षेप से जिनागम में कहा गया है, [**तस्स पयारा एदे भणिज्ज माणा मुणेयव्वा**] उसके भेद जो अब कहेंगे, सो जानना चाहिए।

भावार्थ : निर्जरा का कारण, तप है, यह बारह प्रकार है। अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश - ये छह प्रकार का बाह्यतप है। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह छह प्रकार का अन्तरङ्गतप है। इनका व्याख्यान अब करेंगे।

अब, पहले अनशनतप को चार गाथाओं से कहते हैं —

उवसमणं अक्खाणं, उववासो वण्णिदो मुणिंदेहि।
तम्हा भुंजुंता वि य जिदिंदिया होंति उववासा ॥४३७॥

इन्द्रियों के उपशमन उपवास मुनिवर ने कहा।
आहार करते हुए भी हैं, जितेन्द्रिय उपवास युत ॥४३७॥

अन्वयार्थ : [**मुणिंदेहि अक्खाणं उवसमणं उववासा वण्णिदो**] मुनिन्द्रों ने संक्षेप में इन्द्रियों को विषयों में न जाने देने को; मन को अपने आत्मस्वरूप में लगाने को उपवास कहा है; [**तम्हा जिदिंदिया भुंजुंता वि य उववासा होंति**] इसलिये जितेन्द्रिय, आहार करते हुए भी उपवाससहित ही होते हैं।

भावार्थ : इन्द्रियों को जीतना उपवास है; इसलिए यतिगण भोजन करते हुए भी उपवाससहित ही हैं क्योंकि वे इन्द्रियों को वश में करके प्रवर्तते हैं।

जो मणइंदियविजई, इहभवपरलोयसोक्खणिरवेक्खो।
अप्पाणे विय णिवसइ, सज्झायपरायणो होदि॥४३८॥

कम्माणणिज्जरट्ठं, आहारं परिहरेइ लीलाए।
एगदिणादिपमाणं, तस्स तवं अणसणं होदि॥४३९॥

निरपेक्ष हो इस लोक परभव सौख्य मन इन्द्रियजयी।
स्वाध्याय में तत्पर सदा, निज रूप में लवलीन हैं॥४३८॥

एक दिन परिमाण ले, आहार त्यागे हर्ष से।
कर्म क्षय के लिए जो जिन कहें अनशन तप उसे॥४३९॥

अन्वयार्थ : [**जो मणइंदियविजई**] जो मन और इन्द्रियों को जीतनेवाला है, [**इहभवपरलोयसोक्खणिरवेक्खो**] इस भव और पर भव के विषयसुखों में अपेक्षारहित है, वाँछा नहीं करता है; [**अप्पाणे विय णिवसइ**] अपने आत्मस्वरूप में ही रहता है [**सज्झायपरायणों होदि**] तथा स्वाध्याय में तत्पर है [**एगदिणादिपमाणं**] और एक दिन की मर्यादा से, [**कम्माण णिज्जरट्ठं**] कर्मों की निर्जरा के लिये [**लीलाए आहारं परिहरेइ**] लीलामात्र ही क्लेशरहित हर्ष से आहार को छोड़ता है, [**तस्स अणसणं वतं होदि**] उसके अनशनतप होता है।

भावार्थ : इन्द्रिय और मन-विषयों में प्रवृत्ति से रहित होकर, आत्मा में वसे (निवास करे), वह उपवास है। इन्द्रियों को जीतना, इस लोक-पर लोकसम्बन्धी विषयों की वाँछा न करना, या तो आत्मस्वरूप में लीन रहना, या शास्त्र के अभ्यास स्वाध्याय में मन लगाना- उपवास में ये कार्य प्रधान हैं और क्लेश उत्पन्न न हो, जैसे क्रीड़ामात्र, एक

दिन की मर्यादारूप आहार का त्याग करना सो उपवास है। ऐसे उपवास का नाम अनशनतप होता है।

उववासं कुव्वाणो, आरंभं जो करेदि मोहादो।
तस्स किलेसो अवरं, कम्माणं णेव णिज्जरणं॥४४०॥

उपवास करता हुआ भी, आरम्भ करता मोह से।
क्लेश हो उसको क्षुधा का, कर्मक्षेय होवे नहीं॥४४०॥

अन्वयार्थ : [**जो उववासं कुव्वाणो**] जो उपवास करता हुआ, [**मोहादो आरंभं करेदि**] मोह से आरम्भ (गृहकार्यादि) को करता है, [**तस्स अवरं किलेसो**] उसके पहले तो गृहकार्य का क्लेश था ही; दूसरा भोजन के बिना क्षुधा-तृषा का और क्लेश हो गया; [**कम्माण णिज्जरणं णेव**] कर्मों का निर्जरण तो नहीं हुआ।

भावार्थ : आहार को तो छोड़े और विषय-कषाय-आरम्भ को न छोड़े, उसके पहले तो क्लेश था ही और दूसरा क्लेश भूख-प्यास का और हो गया - ऐसे उपवास में कर्म की निर्जरा कैसे हो ? कर्म की निर्जरा तो सब क्लेश छोड़कर, साम्यभाव करने से होती है।

अब, अवमौदर्यतप को दो गाथाओं में कहते हैं —

आहारगिद्धिरहिओ, चरियामग्गेण पासुगं जोग्गं।
अप्पयरं जो भुञ्जइ, अवमोदरियं तवं तस्स॥४४१॥

जो पुण कित्तिणिमित्तं, मायाए मिट्ठभिक्खलाहट्ठं।
अप्पं भुञ्जदि भोज्जं, तस्स तवं णिप्फलं बिदियं॥४४२॥

आहार गृद्धि से रहित, शास्त्रोक्त प्रासुक योग्य जो।
आत्यल्प ले आहार, अवमोदर्य तप होता उसे॥४४१॥

कीर्ति एवं मिष्ट भोजन, चाहकर मायादि से।
जो करे अवमोदर्य उसका, तप सभी निष्फल अरे॥४४२॥

अन्वयार्थ : [**जो आहारगिद्धिरहिओ**] जो तपस्वी, आहार की अति चाह से रहित

होकर, [**चरियामग्गेण जोग्गं पासुगं**] शास्त्रोक्त चर्या की विधि से, योग्य प्रासुक आहार [**अप्पयरं भुंजइ**] अति अल्प लेता है, [**तस्स अवमोदरियं तवं**] उसके अवमौदर्य-तप होता है।

[**जो पुण कित्तिणिमित्तं**] जो मुनि, कीर्ति के निमित्त तथा [**मायाए मिट्ठभिक्खलाहट्ठं**] माया (कपट) से और मिष्ट भोजन के लाभ के लिये [**अप्पं भोज्जं भुंजदि**] अल्प भोजन करता है, अर्थात् तप का नाम करता है, [**तस्स बिदियं तवं णिप्फलं**] उसके दूसरा अवमौदर्यतप निष्फल है।

भावार्थ : मुनि, आहार के छियालीस दोष, बत्तीस अन्तराय टालकर, चौदह मलदोषरहित प्रासुक, योग्य भोजन लेते हैं तो भी ऊनोदनतप करते हैं; अपने आहार के प्रमाण से थोड़ा लेते हैं। एक ग्रास से बत्तीस ग्रास तक आहार का प्रमाण कहा गया है, उसमें इच्छानुसार घटाकर लेना, वह अवमौदर्यतप है।

जो ऐसा विचार करे कि अल्प भोजन करने से मेरी कीर्ति होगी तथा कपट से लोगों को धोखा देकर कुछ प्रयोजन सिद्ध कर लूँगा और थोड़ा भोजन करने पर भोजन मिष्टरससहित मिलेगा – ऐसे अभिप्रायों से ऊनोदरतप करे तो वह निष्फल है; वह तप नहीं, पाखण्ड है।

अब, वृत्तिपरिसंख्यानतप को कहते हैं —

एगादिगिहपमाणं, किं वा संकप्पकप्पियं विरसं।
भोज्जं पसुव्व भुंजदि, वित्तिपमाणं तवो तस्स॥४४३॥

एकादि गृह परिमाण ले, दातार-रस की प्रतिज्ञा।
पशुवत करे भोजन उसे है वृत्तिपरिसंख्यान तप॥४४३॥

अन्वयार्थ : [**एगादिगिपमाणं**] जब मुनि, आहार के लिए चले, तब पहले मन में ऐसी प्रतिज्ञा करे की आज एक ही घर आहार मिलेगा तो लेंगे, नहीं तो लौट आवेंगे तथा दो घर तक जाएँगे। [**किं वा संकप्पकप्पिय विरसं**] एक रस की, देनेवाले की, पात्र की प्रतिज्ञा करे कि ऐसा दातार, ऐसी रीति से, ऐसे पात्र में लेकर देगा तो लेंगे तथा आहार की प्रतिज्ञा करे कि सरस-नीरस या अमुक अन्न मिलेगा तो लेंगे – इत्यादि वृत्ति की

संख्या (गणना) प्रतिज्ञा मन में विचार कर चले, वैसी ही विधि से मिले तो आहार ले अन्यथा न ले [**भोज्जं पसु व्व भुंजदि**] और आहार, पशु–गौ आदि की तरह करे (जैसे, गौ इधर–उधर नहीं देखती है, चरने ही की तरफ देखती है), [**तस्स वित्तिपमाणं तवो**] उसके वृत्तिपरिसंख्यानतप है।

भावार्थ : भोजन की आशा को निराश करने के लिये यह तप है। सङ्कल्पानुसार विधि मिलना, दैवयोग है, यह बड़ा कठिन तप महामुनि करते हैं।

अब, रसपरित्यातप को कहते हैं —

संसारदुक्खतट्ठो, विससमविसयं विचिंतमाणो जो।
णीरसभोज्जं भुंजइ, रसचाओ तस्स सुविसुद्धो॥४४४॥

संसार दुःख से तप्त हो, विषसम विषय हैं चिन्तते।
भोजन करें नीरस, उन्हें रसत्याग तप निर्मल अरे॥४४४॥

अन्वयार्थ : [**जो संसारदुक्खतट्ठो विससमविसयं विचिंतमाणो**] जो मुनि, संसार के दुःख से तप्तायमान होकर ऐसे विचार करता है कि इन्द्रियों के विषय, विषसमान हैं। विष खाने पर तो एक ही बार मरता है और विषय–सेवन करने पर बहुत जन्म–मरण होते हैं – ऐसा विचार कर [**णीरसभोज्जं भुंजइ**] नीरस भोजन करता है, [**तस्सं रसचाओ सुविसुद्धो**] उसके रसपरित्यागतप निर्मल होता है।

भावार्थ : रस छह प्रकार के हैं – घृत, तैल, दधि (दही), मिष्ट (मीठा), लवण (नमक), दुग्ध (दूध) और खट्टा, तथा खारा, मीठा, कडुआ, तीखा, कसायला ये भी रस* कहे गये हैं। इनका दृढ़तानुसार त्याग करना – एक दो या सब रसों को छोड़ना, रसपरित्याग है।

यहाँ कोई पूछता है कि मन ही में त्याग करने के कारण रसपरित्याग को कोई नहीं जानता है और ऐसे ही वृत्तिपरिसंख्यान होता है, तब इसमें और उसमें क्या विशेषता है?

इसका समाधान – वृत्तिपरिसंख्यान में तो अनेक प्रकार का त्याग है, यहाँ केवल

* मूलाचार पंचाचाराधिकार, गाथा १५५।

रस ही का त्याग है – यह विशेषता है। दूसरी विशेषता यह है कि रसपरित्याग तो बहुत दिन का भी होता है, उसको श्रावक जान भी जाता है और वृत्तिपरिसंख्यान बहुत दिन का नहीं होता है।

अब, विविक्तशय्यासनतप को कहते हैं —

जो रायदोसहेदू आसणसिज्जादियं परिच्चयइ।
अप्पा णिव्विसय सया, तस्स तवो पंचमो परमो॥४४५॥

रागादि हेतुक शयन आसन, आदि को जो परित्यजे।
लीन निज में रहे तप है, विविक्त शय्यासन उन्हें॥४४५॥

अन्वयार्थ : [**जो रायदोसहेदू**] जो मुनि, राग-द्वेष के कारण (जो राग-द्वेष के कारण हैं, ऐसे) [**आसणसिज्जादियं परिच्चयइ**] आसन-शय्या आदि को छोड़ता है [**अप्पा णिव्विसय सया**] तथा सदा अपने आत्मस्वरूप में रहता है और इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होता है, [**तस्स पंचमो तवो परमो**] उस मुनि के पाँचवाँ तप, विविक्तशय्यासन उत्कृष्ट होता है।

भावार्थ : आसन, अर्थात् बैठने का स्थान और शय्या, अर्थात् सोने का स्थान – आदि शब्द से मल-मूत्रादि क्षेपण करने का स्थान – ऐसा हो, जहाँ राग-द्वेष उत्पन्न न हो और वीतरागता बढ़े – ऐसे एकान्त स्थान में सोवे-बैठे, क्योंकि मुनियों को अपना आत्मस्वरूप साधना है; इन्द्रिय विषय नहीं सेवन करने हैं, इसलिए एकान्त स्थान कहा गया है।

पूजादिसु णिरवेक्खो, संसारसरीरभोगणिव्विण्णो।
अब्भंतरतवकुसलो, उवसमसीलो महासंतो॥४४६॥
जो णिवसेदि मसाणे, वणगहणे णिज्जरो महाभीमे।
अण्णत्थ वि एयंते, तस्स वि एदं तवं होदि॥४४७॥

पूजादि से निरपेक्ष, तन संसार भोग विरक्त हो।
कुशल अन्तर तप, महामुनि शान्त परिणामी अहो॥४४६॥
वास करते महाभयंकर, गहन वन एकान्त में।
मशान में जो रहें तप हो, विविक्तशय्यासन उन्हें॥४४७॥

अन्वयार्थ : [**जो पूजादिसु णिरवेक्खो**] जो महामुनि, पूजा आदि में निरपेक्ष हैं, अर्थात् अपनी पूजा महिमादि नहीं चाहते हैं; [**संसारसरीरभोगणिव्विण्णो**] संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हैं; [**अब्भंतरतवकुसलो**] स्वाध्याय, ध्यान आदि अन्तरङ्ग तपों में प्रवीण हैं; ध्यानाध्ययन का निरन्तर अभ्यास रखते हैं; [**उवसमसीलो**] उपशमशील मन्दकषायरूप, अर्थात् शान्तपरिणाम ही है स्वभाव जिनका, ऐसा है तथा [**महासंतो**] महा पराक्रमी हैं; क्षमादिपरिणाम युक्त हैं; [**मसाणे वणगहणे णिज्जणे महाभीमे अण्णत्थ वि एयंते णिवसेदि**] श्मशानभूमि में, गहन वन में, निर्जन स्थान में, महाभयानक उद्यान में और अन्य भी ऐसे एकान्त स्थानों में रहते हैं, [**तस्स वि एदं तवं होदि**] उसके निश्चय से यह विविक्तशय्यासनतप होता है।

भावार्थ : महामुनि, विविक्तशय्यासन तप करते हैं। वे ऐसे एकान्त स्थानों में सोते –बैठते हैं, जहाँ चित्त में क्षोभ करनेवाले कोई भी पदार्थ नहीं होते हैं – जैसे, शून्यगृह, गिरि की गुफा, वृक्ष के मूल तथा स्वयमेव गृहस्थों के बनाये हुए उद्यान, वसतिकादि, देवमन्दिर और श्मशानभूमि इत्यादि एकान्त स्थानों में ध्यानाध्ययन करते हैं क्योंकि शरीर से तो निर्ममत्व हैं, विषयों से विरक्त हैं और अपने आत्मस्वरूप में अनुरक्त हैं, वे ही मुनि विविक्तशय्यासनतप से संयुक्त हैं।

अब, कायक्लेशतप को कहते हैं —

दुस्सहउवसग्गजई, आतावणसीयवायखिण्णो वि।
जो ण वि खेदं गच्छदि, कायकिलेसो तवो तस्स॥४४८॥

वात शीताताप हो, पर जीतते उपसर्ग जो।
खेद नहिं करते उन्हें, तप काय क्लेश कहा अहो॥४४८॥

अन्वयार्थ : [**जो दुस्सहउवसग्गई**] जो मुनि, दु:सह उपसर्ग को जीतनेवाला है; [**आतावणसीयवायखिण्णो वि**] आताप, शीत, वात पीड़ित होकर भी खेद को प्राप्त नहीं होता है; [**खेद वि ण गच्छदि**] चित्त में क्षोभ (क्लेश) भी नहीं करता है, [**तस्स कायकिलेसो तवो**] उस मुनि के कायक्लेश नामक तप होता है।

भावार्थ : महामुनि, ग्रीष्मकाल में तो पर्वत शिखर आदि पर जहाँ सूर्य की किरणों

का अत्यन्त आताप होता है, नीचे भूमि शिलादिक तप्तायमान होती है, वहाँ आतापनयोग धारण करते हैं। शीतकाल में नदी आदि के किनारे पर खुले मैदानों में जहाँ अत्यन्त शीत पड़ती है, डाहे से वृक्ष भी जल जाते हैं, वहाँ खड़े रहते हैं और चातुर्मास में वर्षा बरसती है, प्रचण्ड पवन चलता है, दंशमशक काटते हैं – ऐसे समय में वृक्ष के नीचे योग धारण करते हैं। अनेक विकट आसन करते हैं – ऐसे अनेक कायक्लेश के कारण मिलाते हैं और साम्यभाव से चलायमान नहीं होते हैं क्योंकि अनेक प्रकार के उपसर्ग जीतनेवाले हैं। इसलिए जिन के चित्त में खेद उत्पन्न नहीं होता है; (जो) अपने स्वरूप के ध्यान में लगे रहते हैं, उनके कायक्लेश नाम का तप होता है। जिनके काय तथा इन्द्रियों में ममत्व होता है, उनके चित्त में क्षोभ होता है। ये मुनि सबसे निस्पृह रहते हैं, इनको किसका खेद हो? ऐसे छह प्रकार के बाह्यतप का वर्णन किया।

अब, छह प्रकार के अन्तरङ्गतप का व्याख्यान करेंगे। पहले प्रायश्चित नामक तप को कहते हैं —

दोसं ण करेदि सयं, अण्णं पि ण कारएदि जो तिविहं।
कुव्वाणं पि ण इच्छदि, तस्स विसोही परा होदि॥४४९॥

खुद नहिं करें जो दोष, पर से नहिं करावें, त्रिविध जो।
जो करें, अनुमोदें नहीं, उत्तम विशुद्धि उन्हें हो॥४४९॥

अन्वयार्थ : [जो तिविहं सयं दोसं ण करेदि अण्णं पि ण कारएदि] जो मुनि, मन-वचन-काय से स्वयं दोष नहीं करता है, दूसरे से भी दोष नहीं कराता है, और **[कुव्वाणं पि ण इच्छदि]** करते हुए को भी अच्छा नहीं मानता है, **[तस्स परा विसोही होदि]** उसके उत्कृष्ट विशुद्धि होती है।

भावार्थ : यहाँ विशुद्धि नाम प्रायश्चित का है क्योंकि 'प्राय:' शब्द से तो प्रकृष्ट चारित्र का ग्रहण है – ऐसा चारित्र जिसके होता है, वह 'प्राय:', अर्थात् साधु लोक; उसका चित्त जिस कार्य में होता है, उसे प्रायश्चित कहते हैं; इसलिए जो आत्मा की विशुद्धि करता है, वह प्रायश्चित है। दूसरा अर्थ ऐसा भी है कि प्राय: नाम अपराध का है, उसका चित्त, अर्थात् शुद्ध करना, वह प्रायश्चित कहलाता है। इस तरह पहले किये हुए अपराधों की

शुद्धता जिससे होती है, वह प्रायश्चित है। ऐसे जो मुनि, मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से दोष नहीं लगाता है, उसके उत्कृष्ट विशुद्धता होती है। यही प्रायश्चित[१] नाम का तप है।

अह कह वि पमादेण य, दोसो जदि एदि तं पि पयडेदि।
णिद्दोससाहुमूले, दसदोसविवज्जिदो होदुं॥४५०॥

अथवा किसी प्रमादवश, चारित्र में यदि दोष हो।
निर्दोष साधु समक्ष दसविध, दोष टाल प्रकट करे॥४५०॥

अन्वयार्थ : [अह कह वि पमादेण य दोसो जदि एदि तं पि] अथवा किसी प्रमाद से अपने चरित्र में दोष आया हो तो उसको **[णिद्दोससाहुमूले दसदोसविवज्जिदो होदुं पयडेदि]** निर्दोष आचार्य के पास दश दोषों से रहित होकर प्रकट करे, आलोचना करे।

भावार्थ : अपने चारित्र में दोष प्रमाद से लग गया हो तो आचार्य के पास जाकर दस दोषरहित आलोचना करे। [२]प्रमाद— ५ इन्द्रिय, १ निद्रा, ४ कषाय, ४ विकथा, १ स्नेह ये पाँच इनके पन्द्रह भेद हैं। भंगों की अपेक्षा बहुत भेद होते हैं। भंगों की अपेक्षा बहुत भेद होते हैं, उनसे दोष लगते हैं, आलोचना के दस [३]दोष हैं—१ आकम्पित, २ अनुमानति, ३ बादर, ४ सूक्ष्म, ५ दृष्ट, ६ प्रच्छन्न, ७ शब्दाकुलित, ८ बहुजन, ९ अव्यक्त, १० तत्सेवी। आचार्य को उपकरणादि देकर, अपने प्रति करुणा उत्पन्न कर आलोचना करे कि ऐसा करने से थोड़ा प्रायश्चित्त देंगे, ऐसा विचार करना आकम्पिति दोष है। वचन ही से अचार्यों की बढ़ाई आदि कर लाओचना करे, अभिप्राय ऐसा रक्खे कि आचार्य मुझसे प्रसन्न रहेंगे तो थोड़ा प्रायश्चित्त देंगे, यह अनुमानित दोष है। प्रत्यक्ष दृष्टिदोष हो सो कहे, अदृष्ट न कहे

---

१) यत्याचारोक्तं दशप्रकारं प्रायश्चितं। मूलाचार-पंचाचार
आलोयण पडिकमणं, उभय विवेगो तहा विहोसग्गो।
तवछदा मूलं पि य, परिहारा चेव सद्दहण ॥१६५॥

२) विकहा तहा कषाया, इन्दिय णिद्दा तहेव पणओ य।
चउ चउ पण मेगेगं, होदि पमादा हु पण्णरसा॥ गो०जी० ३४॥

३) आकम्पित अणुमाणिय, जं दिट्ठं वादर च सुहमं च।
छण्णं सद्दाउलियं, बहुजणमव्वत्तं तस्सेवी॥
(भगवती आराधना पृष्ठ २५७ तथा मूला० भाग० २ शीलगुणाधिकार गाथा १५)

यह दृष्टदोष है। स्थूल (बड़ा) दोष तो कहे सूक्ष्म न कहे सो वादरदोष है। सूक्ष्म दोष ही कहे, वादर न कहे यह बतावे कि इसने सूक्ष्म ही कह दिया सो वादर क्यों छिपाता यह सूक्ष्म दोष है। छिपाकर ही कहे, कोई दूसरा अपना दोष कहे तब कहे कि ऐसा ही दोष मेरे लगा है, उसका नाम प्रगट न करे सो प्रच्छन्नदोष है। बहुत शब्द के कोलाहल में दोष कहे, अभिप्राय ऐसा रखे कि कोई और न सुने तो शब्दाकुलित दोष है। एक गुरु के पास आलोचना कर फिर अन्य गुरु के पास आलोचना करे अभिप्राय ऐसा रखे कि इसका प्रायश्चित्त अन्य गुरु क्या बतावें सो बहुजन दोष है। जो दोष व्यक्त हो सो कहे, अभिप्राय ऐसा रखे कि यह दोष छिपाने से नहीं छिपेगा अत: कहना ही चाहिए सो अव्यक्त दोष है। अन्य मुनि को लगे हुए दोष की गुरु के पास आलोचना कर प्रायश्चित्त लिए हुए देखकर उसके समान अपने को दोष लगा हो तो उसको प्रगट न करने के अभिप्राय से उसकी आलोचना गुरु के पास न करे आप ही प्रायश्चित्त ले लेवे सो तत्सेवी दोष है। इस तरह दस दोषरहित सरलचित्त होकर बालक के समान आलोचना करे।

जं किं पि तेण दिण्णं, तं सव्वं सो करेदि सद्धाए।
णो पुण हियए संकदि, किं थोवं किं पि वहुयं वा॥४५१॥

जो दिया प्रायश्चित गुरु ने, ग्रहण श्रद्धा से करे।
यह अल्प है या अधिक है, उस में विकल्प नहीं करे॥४५१॥

अन्वयार्थ : [**जं किं पि तेण दिण्णं तं सव्वं सो सद्धाए करेदि**] दोषों की आलोचना करने के बाद में जो कुछ आचार्य ने प्रायश्चित दिया हो, उस सब ही को श्रद्धापूर्वक करे [**पुण हियए णो संकदि किं थोवं किंपि वहुयं वा**] और हृदय में ऐसी शङ्का न करे कि यह प्रायश्चित दिया सो थोड़ा है या बहुत है।

पुणरवि काउं णेच्छदि, तं दोसं जइ वि जाइ सयखंडं।
एवं णिच्चयसहिदो, पायच्छित्तं तवो होदि॥४५२॥
जो चिंतइ अप्पाणं, णाणसरूवं पुणो पुणो णाणी।
विकहादिविरत्तमणो, पायच्छित्तं वरं तस्स॥४५३॥

यह दोष नहिं हो पुनः, चाहे देह के शत खण्ड हों।
निश्चय करे जो इस तरह, हो परम प्रायश्चित उसे ॥४५२॥
चिन्तन करे जो ज्ञानि, बारम्बार ज्ञान स्वरूप में।
विकथादि में चित् रत नहीं, हो परम प्रायश्चित उन्हें ॥४५३॥

अन्वयार्थ : [**पुणरवि तं दोसं काउं णेच्छदि जइ वि सयखंडं जाइ**] लगे हुए दोष का प्रायश्चित लेकर उस दोष को करना न चाहे; यदि अपने सौ टुकड़े भी हो जाए तो भी न करे, [**एवं णिच्चयसहिदो पायच्छित्तं तवो होदि**] ऐसे निश्चयसहित प्रायश्चित नामक तप होता है।

[**जो णाणी अप्पाणं णाणसरूवं पुणो पुणो चिंतइ**] जो ज्ञानी मुनि, आत्मा को ज्ञानस्वरूप बारम्बार चिन्तवन करता है [**विकहादिविरत्तमणो**] और विकथादिक प्रमादों से विरक्त होता हुआ, ज्ञान ही का निरन्तर सेवन करता है, [**तस्स वरं पायच्छित्तं**] उसके श्रेष्ठ प्रायश्चित होता है।

भावार्थ : ऐसा दृढ़ चित्त करे कि अपने शरीर के सौ टुकड़े भी जो जाएँ तो भी लगे हुए दोष को फिर न लगावे, वह प्रायश्चिततप है।

निश्चयप्रायश्चित यह है, जिसमें सब प्रायश्चित के भेद गर्भित हैं कि प्रमाद से रहित होकर अपना शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा का ध्यान करना, जिससे सब पापों का प्रलय (नाश) होता है। इस तरह प्रायश्चित नामक अभ्यन्तरतप के भेद का वर्णन किया।

अब, विनयतप को तीन गाथाओं में कहते हैं —

विणयो पंचपयारो, दंसणणाणे तहा चरित्ते य।
वारसभेयम्मि तवे, उवयारो बहुविहो णेओ ॥४५४॥
दंसणणाणचरित्ते, सुविसुद्धो जो हवेइ परिणामो।
वारसभेदे वि तवे, सो च्चिय विणओ हवे तेसिं ॥४५५॥
रयणत्तयजुत्ताणं, अणुकूलं जो चरेदि भत्तीए।
भिच्चो जह रायाणं, उवयारो सो हवे विणओ ॥४५६॥

दृग ज्ञान चारित्र विनय एवं, भेद बारह तप विनय।
उपचार विविध प्रकार ये हैं, विनय पाँच प्रकार की ॥४५४॥
ज्ञान दर्शन चरित्र में, परिणाम में सुविशुद्धि है।
बारह तपों में भी विशुद्धि, यही उनकी विनय है ॥४५५॥
जो भृत्य नृप के प्रति करें, त्यों रत्नत्रय संयुक्त की।
जो भक्ति से अनुकुल वर्तन, यह विनय उपचार ही ॥४५६॥

अन्वयार्थ : [**विणओ पंचपयारो**] विनय, पाँच प्रकार का है। [**दंसणणाणे तहा चरित्ते य**] दर्शन में, ज्ञान में तथा चारित्र में और [**वारसभेयम्मि तवे**] बारह प्रकार के तप में विनय [**उवयारो बहुविहो णेओ**] और उपचारविनय, इस प्रकार यह अनेक प्रकार का जानना चाहिए।

[**दंसणणाणचरित्ते**] दर्शन-ज्ञान-चारित्र में [**वारसभेदे वि तवे**] और बारह प्रकार के तप में [**जो सुविसुद्धो परिणामो हवेइ**] जो विशुद्धपरिणाम होते हैं, [**सो च्चिय तेसिं विणओ हवे**] वह ही उनका विनय है।

[**जह रायाणं भिच्चो**] जैसे राजा के नौकर, राजा के अनुकूल प्रवृत्ति करते हैं; वैसे ही [**जो रयणत्तयजुत्ताणं अणुकूलं भत्तीए चरेदि**] जो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) के धारक मुनियों के अनुकूल भक्तिपूर्वक आचरण (प्रवृत्ति) करता है, [**सो उवयारो विणओ हवे**] वह उपचारविनय है।

भावार्थ : सम्यग्दर्शन के शङ्कादिक अतिचाररहित परिणाम, वह दर्शनविनय है। ज्ञान का संशयादिरहित परिणाम से अष्टाङ्ग अभ्यास करना, वह ज्ञानविनय है। चारित्र को अहिंसादिक परिणाम से अतिचाररहित पालना, वह चारित्रविनय है। तप के भेदों का देखभाल कर दोषरहित पालन करना, वह तपविनय है।

जैसे, राजा के नौकर लोग, राजा के अनुकूल प्रवृत्ति करते हैं; उसकी आज्ञा मानते हैं; प्रत्यक्ष में देखकर उठ खड़े हो जाते हैं; सामने जाकर हाथ जोड़ते हैं, प्रणाम करते हैं; चले तब पीछे-पीछे चलते हैं; उसकी पोशाक आदि उपकरण सजाते हैं; वैसे ही मुनियों की भक्ति करना; विनय करना; उनकी आज्ञा मानना; प्रत्यक्ष में देखे तब उठकर सम्मुख

होकर, हाथ जोड़ प्रणाम करना; चले तब पीछे पीछे चलना; उपकरण सम्भालना – इत्यादिक उनका विनय करना, वह उपचारविनय है।

अब, वैयावृत्यतप को दो गाथाओं में कहते हैं —

जो उवयरदि जदीणं, उवसग्गजराइखीणकायाणं।
पूजादिसु णिरवेक्खं, वेज्जावच्चं तवो तस्स॥४५७॥
जो वावरइ सरूवे, समदम भावम्मि सुद्धिउवजुत्तो।
लोयववहारविरदो, वेज्जावच्चं परं तस्स॥४५८॥

उपसर्ग अथवा जरा से, कृशकाय यति को जो करे।
वाञ्छा रहित उपकार, वैयातृत्य तप कहते उसे॥४५७॥
शम दम स्वभावी आत्म में, शुद्धोपयोग प्रवृत्ति हो।
रत नहीं लौकिक कार्य में, तप उसे वैयावृत्य हो॥४५८॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो, [**पूजादिसु णिरवेक्खं**] अपनी पूजा (महिमा) आदि में अपेक्षा (वांछा) रहित होकर, [**उवसग्गजराइखीणकायाणं जदीणं उवयरदि**] उपसर्ग पीड़ित तथा जरा–रोगादि से क्षीणकाय यातियों का अपनी चेष्टा से, उपदेश से और अल्प वस्तु से उपकार करता है, [**तस्स वेज्जावच्चं तवो**] उसके वैयावृत्य नामक तप होता है।

[**जो समदम भावम्मि वावरइ सरूवे सुद्धिउवजुत्तो**] जो मुनि, शमदमभावरूप अपने आत्मस्वरूप में शुद्धोपयोगमय प्रवृत्ति करता है और [**लोयववहारविरदो**] लोक–व्यवहार (बाह्य वैयावृत्य) से विरक्त होता है, [**तस्स परं वेज्जावच्चं**] उसके उत्कृष्ट (निश्चय) वैयावृत्य होता है।

भावार्थ : निस्पृह होकर मुनियों की सेवा करना, वैयावृत्य है। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, मनोज्ञ – ये दश प्रकार के यति, वैयावृत्य करने योग्य कहे गये हैं। इनका यथायोग्य अपनी शक्ति अनुसार वैयावृत्य करना चाहिए।

जो मुनि, सम, अर्थात् राग–द्वेषरहित साम्यभाव, और दम, अर्थात् इन्द्रियों को विषयों में न जाने देना, भावरूप अपने आत्मस्वरूप में लीन होता है, उसके लोकव्यवहाररूप

बाह्यवैयावृत्य किसलिये हो ? उसके तो निश्चयवैयावृत्य ही होता है। शुद्धोपयोगी मुनियों की यह रीति है।

अब, स्वाध्यायतप को छह गाथाओं में कहते हैं —

परतत्तीणिरवेक्खो, दुट्ठवियप्पाण णासणसमत्थो।
तच्चविणिच्छयहेदू, सज्झाओ ज्झाणसिद्धियरो॥४५९॥
पूयादिसु णिरवेक्खो, जिणसत्थं जो पढेइ भत्तीए।
कम्ममलसोहणट्ठं, सुयलाहो सुहयरो तस्स॥४६०॥

निन्दा न पर की करे, दुष्ट विकल्प क्षय जो कर सके।
तत्त्व निर्णय ध्यान सिद्धि के लिए स्वाध्याय है॥४५९॥
पूजादि से निरपेक्ष भक्ति से पढ़े जिन शास्त्र को।
कर्ममल क्षय हेतु जो, श्रुतलाभ सुखकारी उसे॥४६०॥

अन्वयार्थ : [**परतत्तीणिरवेक्खो**] जो मुनि, दूसरे की निन्दा में निरपेक्ष (वांछारहित) होता है, [**दुट्ठवियप्पाण णासणसमत्थो**] मन के दुष्ट विकल्पों का नाश करने में समर्थ होता है, [**तच्चविणिच्छयहेदु**] उसके तत्त्व के निश्चय करने का कारण और [**ज्झाणसिद्धियरो**] ध्यान की सिद्धि करनेवाला [**सज्झाओ**] स्वाध्याय नामक तप होता है।

[**जो पूयादिसु णिरवेक्खो**] जो मुनि, अपनी पूजा आदि में निरपेक्ष (वाँछारहित) होता है और [**कम्ममलसोहणट्ठं**] कर्मरूपी मैल का नाश करने के लिए [**भत्तीए जिणसत्थं पढेइ**] भक्तिपूर्वक जिनशास्त्र को पढ़ता है, [**तस्स सुयलाहो सुहयरो**] उसको श्रुत का लाभ सुखकारी होता है।

भावार्थ : जो पर की निन्दा करने में परिणाम रखता है और आर्त-रौद्रध्यानरूप खोटे विकल्प, मन में चिन्तवन किया करता है, उसके शास्त्रों का अभ्यासरूप स्वाध्याय कैसे हो ? इसलिए इनको छोड़कर जो स्वाध्याय करता है, उसके तत्त्व का निश्चय होता है और धर्म-शुक्लध्यान की सिद्धि होती है - ऐसा स्वाध्यायतप है।

जो पूजा, महिमा आदि के लिये शास्त्र को पढ़ता है, उसको शास्त्र का पढ़ना

सुखकारी नहीं है। अपने कर्मक्षय के निमित्त जिनशास्त्रों को पढ़े, उसे ही सुखकारी है।

जो जिणसत्थं सेवदि, पंडियमाणी फलं समीहंतो।
साहम्मियपडिकूलो, सत्त्थं पि विसं हवे तस्स॥४६१॥
जो जुद्धकामसत्थं, रायदोसेहिं परिणदो पढइ।
लोयावंचणहेदुं, सज्झाओ णिप्फलो तस्स॥४६२॥

फल कामना से शास्त्र पढ़ता, वहीं पंडितमन्य है।
साधर्मि के प्रतिकुल वर्ते, शास्त्र विषमय हों उसे॥४६१॥
राग-द्वेष विकार हो, युद्ध-काम कुशास्त्र को।
जन वञ्चना के लिए पढ़ना, विफल यह स्वाध्याय है॥४६२॥

अन्वयार्थ : [**जो जिणसत्थं सेवदि फलं समीहंतो**] जो पुरुष, जिनशास्त्र तो पढ़ता है और अपनी पूजा-लाभ और सत्कार को चाहता है [**साहम्मियपडिकूलो**] तथा साधर्मी - समयग्दृष्टि जैनियों के प्रतिकूल (विपरीत) है, [**पंडियमाणी**] वह पंडितमन्य है, [**तस्स सत्थं पि विसं हवे**] उसके वह ही शास्त्र विषरूप परिणमता है।

[**जो जुद्धकामसत्थं रायदोसेहिं परिणदो**] जो पुरुष, युद्ध के शास्त्र, कामकथा के शास्त्र, राग-द्वेष परिणाम से [**लोयावंचणहेदुं पढइ**] लोगों को ठगने के लिए पढ़ता है, [**तस्स सज्झाओ णिप्फलो**] उसका स्वाध्याय, निष्फल है।

भावार्थ : जैनशास्त्र पढ़कर भी तीव्रकषायी भोगविलासी होकर जैनियों से प्रतिकूल रहे - ऐसे पण्डितमन्य के शास्त्र ही विष हुआ कहना चाहिए। यदि यह मुनि भी होवे तो वेषी पाखण्डी ही कहलाता है।

जो अप्पाणं जाणदि, असुइसरीरादु तच्चदो भिण्णं।
जाणगस्वसरूवं, सो सत्थं जाणदे सव्वं॥४६३॥

निज आत्म को जो जानता, ज्ञायक स्वभावी मैं सदा।
भिन्न अशुचि शरीर के, सब शास्त्र को वह जानता॥४६३॥

अन्वयार्थ : [**जो अप्पाणं असुइसरीरादु तच्चदो भिण्णं**] जो मुनि, अपनी

आत्मा को, इस अपवित्र शरीर से भिन्न [**जाणगस्वसरूवं जाणदि**] ज्ञायकस्वरूप जानता है, [**सो सव्वं सत्थं जाणदे**] वह सब शास्त्रों को जानता है।

भावार्थ : जो मुनि, शास्त्र अभ्यास अल्प भी करता है और अपनी आत्मा का रूप ज्ञायक, अर्थात् देखने-जाननेवाला, इस अशुचि शरीर से भिन्न, शुद्ध उपयोगरूप होकर जानता है, वह सब ही शास्त्र जानता है। अपना स्वरूप न जाना और बहुत शास्त्र पढ़े, तो क्या साध्य है ?

जो णवि जाणदि अप्पं, णाणसरूवं सरीरदो भिण्णं।
सो णवि जाणदि सत्थं, आगमपाढं कुणंतो वि॥४६४॥

भिन्न तन से ज्ञानमय, निज आत्म को नहीं जानता।
पाठ आगम का करे, पर शास्त्र नहिं वह जानता॥४६४॥

अन्वयार्थ : [**जो अप्पं णाणसरूवं सरीरदो भिण्णं णवि जाणदि**] जो मुनि, अपनी आत्मा को ज्ञानस्वरूपी, शरीर से भिन्न नहीं जानता है, [**सो आगमपाढं कुणंतो वि सत्थं णवि जाणदि**] वह आगम का पाठ करे तो भी शास्त्र को नहीं जानता है।

भावार्थ : जो मुनि, शरीर से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा को नहीं जानता है, वह बहुत शास्त्र पढ़ता है तो भी बिना पढ़ा ही है। शास्त्र पढ़ने का सार तो अपना स्वरूप जानकर, राग-द्वेष रहित होना था, सो पढ़कर भी ऐसा नहीं हुआ, तो क्या पढ़ा ? अपना स्वरूप जानकर उसमें स्थिर होना, वह निश्चयस्वाध्यायतप है। वांचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश – ऐसे पाँच प्रकार का व्यवहारस्वाध्याय है, सो यह व्यवहार, निश्चय के लिये हो तो वह व्यवहार भी सत्यार्थ है और बिना निश्चय के व्यवहार सारहीन (थोथा) है।

अब, व्युत्सर्गतप को कहते हैं —

जल्लमललित्तगत्तो, दुस्सहवाहीसु णिप्पडीयारो।
मुहधोवणादिविरओ, भोयणसेज्जादिणिरवेक्खो॥४६५॥
ससरूवचिंतणरओ, दुज्जणसुयणाण जो हु मज्झत्थो।
देहे वि णिम्ममत्तो, काओसग्गो तवो तस्स॥४६६॥

तन लिप्त जल मल, तीव्र रोगी, करे नहीं प्रतिकार जो।
मुखधोवनादिक से विरक्त, न चाह भोजन सेज की॥४६५॥
निजरूप चिन्तन में निरत, मध्यस्थ दुर्जन सुजन में।
तप उसे कायोत्सर्ग है, निर्मम हुआ जो देह में॥४६६॥

अन्वयार्थ : [**जो जल्लमललित्तगत्तो**] जो मुनि, जल्ल (पसेव) और मल से तो लिप्त शरीर हो, [**दुस्सहवाहीसु णिप्पडीयारो**] असह्य तीव्र रोग आने पर भी उसका प्रतीकार (इलाज) न करता हो, [**मुहधोवणादिविरओ**] मुँह धोना आदि शरीर के संस्कार से विरक्त हो, [**भोयणसेज्जादिणिरवेक्खो**] भोजन और शय्या आदि की वाँछारहित हो, [**ससरूवचिंतणरओ**] अपने स्वरूप के चिन्तवन में रत (लीन) हो, [**दुज्जसुयणाण हु मज्झत्थो**] दुर्जन-सज्जन में मध्यस्थ हो (शत्रु-मित्र के प्रति समभावी हो); [**देहे वि णिम्ममत्तो**] अधिक क्या कहें, देह में भी ममत्वरहित हो, [**तस्स काओसग्गो तवो**] उसके कायोत्सर्ग नामक तप होता है।

भावार्थ : जब मुनि, कायोत्सर्ग करता है, तब सब बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह त्याग कर, सब बाह्य आहार विहारादिक क्रिया से रहित हो, काय से ममत्त्व छोड़, अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा में, राग-द्वेष रहित, शुद्धोपयोगरूप हो लीन होता है, उस समय यदि अनेक उपसर्ग आवे, रोग आवे, कोई शरीर को काट ही डाले तो भी अपने स्वरूप से चलायमान नहीं होता है, किसी से राग-द्वेष नहीं करता है, उसके कायोत्सर्गतप होता है।

जो देहधारणपरो, उवयरणादिविसेससंसत्तो।
बाहिरववहाररओ, काओसग्गो कुदो तस्स॥४६७॥

तन में रहे अनुरक्त अरु, आसक्त उपकारणादि में।
बाह्य में रत रहे, कैसे उसे कायोत्सर्ग हो॥४६७॥

अन्वयार्थ : [**जो देहधारणपरो**] जो मुनि, देह का पालन करने में तत्पर हो, [**उवयरणादीविसेससंसत्तो**] उपकरणादि में विशेष संसक्त हो [**बाहिरववहाररओ**] और बाह्य व्यवहार (लोकरंजन) करने में रत हो (तत्पर हो), [**तस्स काओसग्गो कुदो**] उसके कायोत्सर्गतप कैसे हो?

अब, ध्यान का लक्षण तथा शुभ-अशुभ ध्यान के नाम एवं उनका स्वरूप कहते हैं—

अंतो मुहुत्तमेत्तं, लीणं वत्थुम्मि माणसं णाणं।
ज्झाणं भण्णदि समए, असुहं च सुहं च तं दुविहं ॥४६८॥
असुहं अट्ट रउद्दं, धम्मं सुक्कं च सुहयरं होदि।
अट्टं तिव्वकषायं, तिव्वतमकसायदो रुद्दं ॥४६९॥

अन्तर्मुहरत के लिए हो, लीन मानस ज्ञान जो।
सिद्धान्त में हैं ध्यान कहते, शुभ अशुभ हैं भेद दो पद ॥४६८॥
आर्त रौद्र अशुभ कहे, शुभ और शुभतर धर्म शुक्ल।
आर्त तीव्र कषाय से अरु रौद्र भी है तीव्रतम ॥४६९॥

अन्वयार्थ : [**माणसं णाणं वत्थुम्मि अंतो मुहुत्तमेत्तं लीणं**] जो मन सम्बन्धी ज्ञान, वस्तु में अन्तर्मुहूर्तमात्र लीन होता है (एकाग्र होता है), वह [**समए ज्झाणं भण्णदि**] सिद्धान्त में ध्यान कहा गया है [**तं च असुहं सुहं च दुविहं**] और वह शुभ-अशुभ के भेद से दो प्रकार का है।

[**अट्टं रउद्दं असुहं**] आर्तध्यान-रौद्रध्यान, ये दोनों तो अशुभध्यान हैं [**धम्मं सुक्कं च सुहयरं होदि**] और धर्मध्यान-शुक्लध्यान, ये दोनों शुभ और शुभतर हैं। [**अट्टं तिव्वकषायं**] इनमें आदि का आर्तध्यान तो तीव्रकषाय से होता है [**रुद्दं तिव्वतमकसायदो**] और रौद्रध्यान अति तीव्रकषाय से होता है।

भावार्थ : ध्यान, परमार्थ से ज्ञान का उपयोग ही है। जो ज्ञान का उपयोग एक ज्ञेय वस्तु में अन्तर्मुहूर्तमात्र एकाग्र ठहरता है, वह ध्यान है। वह शुभ भी है और अशुभ भी है - ऐसे दो प्रकार का है।

मंदकषायं धम्मं, मंदतमकसायदो हवे सुक्कं।
अकसाए वि सुयड्ढे, केवलणाणे वि तं होदि ॥४७०॥

धर्म मन्दकषाय है अरु शुक्ल है मन्दतम कषाय।
अकषाय हो तो शुक्ल, ध्यानी केवली पर्यन्त हो ॥४७०॥

अन्वयार्थ : [**धम्मं मंदकषाय**] धर्मध्यान, मन्दकषाय से होता है; [**सुक्कं मंदतमकसायदो हवे**] शुक्लध्यान, अत्यन्त मन्दकषाय में होता है, श्रेणी चढ़नेवाले महामुनि के होता है [**अकसाए वि सुयड्ढे वि तं होदि**] और वह शुक्लध्यान, कषाय का अभाव होने पर श्रुतज्ञानी, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, केवलीज्ञानी, सयोगी तथा अयोगी जिनके भी होता है।

भावार्थ : धर्मध्यान में तो व्यक्तरागसहित पञ्च परमेष्ठी तथा दशलक्षणस्वरूप धर्म और आत्मस्वरूप में उपयोग एकाग्र होता है; इसलिए इसको मन्दकषायसहित है – ऐसा कहा है। शुक्लध्यान के समय उपयोग में व्यक्तराग तो नहीं होता और अपने अनुभव में न आवे, ऐसे सूक्ष्मरागसहित श्रेणी चढ़ता है, वहाँ आत्मपरिणाम उज्ज्वल होते हैं; अत: शुचिगुण के योग से शुक्ल कहा है। इसको मन्दतम कषाय, अर्थात् अत्यन्त मन्दकषाय से होता है, ऐसा कहा है तथा कषाय का अभाव होने पर होता है – ऐसा भी कहा है।

अब, आर्तध्यान को कहते हैं —

दुक्खयर-विसयजोए, केम इमं चयदि इदि विचिंतंत्तो।
चेट्ठदि जो विक्खित्तो, अट्टं ज्झाणं हवे तस्स॥४७१॥
मणहरविसयविओगे, कह तं पावेमि इहि वियप्पो जो।
संतावेण पयट्टो, सो च्चिय अट्टं हवे ज्झाणं॥४७२॥

दु:खमय विषय संयोग हो, किस विधि टले यह चिन्तवे।
विक्षिप्त चित चेष्टा करे जो, आर्तध्यान कहा उसे॥४७१॥
मनहर विषय वियोग हो, किस विधि मिले यह चिन्तवे।
सन्तापमय वर्तन करे, तो आर्तध्यान का उसे॥४७२॥

अन्वयार्थ : [**जो**] जो पुरुष [**दुक्खयरविसयजोए**] दु:खकारी विषय का संयोग होने पर [**इदि विचिंतंत्तो**] ऐसा चिन्तवन करे कि [**इमं केम चयदि**] यह मेरे कैसे दूर हो? [**विक्खत्तो चेट्ठदि**] और उसके संयोग से विक्षिप्तचित्त होकर चेष्टा करे, रुदनादि करे, [**तस्स अट्टं ज्झाणं हवे**] उसके आर्तध्यान होता है। [**जो मणहरविसयविओगे**]

जो मनोहर विषय सामग्री का वियोग होने पर [**इदि वियप्पो**] ऐसा चिंतवन करे कि [**तं कह पावेमि**] उसको मैं कैसे पाऊँ? [**संतावेण पयट्टो**] उसके वियोग से संतापरूप (दु:खस्वरूप) प्रवृत्ति करे, [**सो च्चिय अट्टं ज्झाणं हवे**] वह भी आर्तध्यान है।

भावार्थ : आर्तध्यान, सामान्यता तो दु:ख क्लेशरूप परिणाम है। उस दु:ख में लीन रहने पर अन्य कुछ चेत (ज्ञान) नहीं रहता है। यह दो प्रकार का है। पहले में तो दु:खदाई सामग्री का संयोग होने पर उसको दूर करने का ध्यान रहता है। दूसरे में इष्ट (सुखदाई) सामग्री का वियोग होने पर उसके मिलने का चिन्तवन (ध्यान) रहता है, वह आर्तध्यान है। अन्य ग्रन्थों में इसके चार भेद कहे गये हैं - इष्टवियोग का चिन्तवन, अनिष्टसंयोग का चिन्तवन, पीड़ा का चिन्तवन, निदानबन्ध का चिन्तवन। यहाँ दो भेद कहे, उनमें ही ये सब गर्भित हो जाते हैं। अनिष्टसंयोग के दूर करने में तो पीड़ा का चिन्तवन आ गया और इष्ट के मिलने की वाँछा में निदानबन्ध आ गया। ये दोनों ध्यान, अशुभ हैं, पापबन्ध करते हैं; धर्मात्मा पुरुषों के त्यागने योग्य हैं।

अब, रौद्रध्यान को कहते हैं —

हिंसाणंदेण जुदा, असच्चवयणेण परिणदो जो दु।
तत्थेव अथिरचित्तो, रुद्दं ज्झाणं हवे तस्स॥४७३॥

हिंसा करे आनन्द से, बोले असत्यवचन सदा।
विक्षिप्त चित वर्ते इन्हीं में, रौद्रध्यान उसे कहा॥४७३॥

अन्वयार्थ : [**जो हिंसाणंदेण जुदो**] जो पुरुष, हिंसा में आनन्दयुक्त होता है [**असच्चवयणेण परिणदो दु**] तथा असत्यवचन से प्रवृत्ति करता रहता है [**तत्थेव अथिरचित्तो**] और इन्हीं में विक्षिप्तचित्त बना रहता है, [**तस्स रुद्दं ज्झाणं हवे**] उसके रौद्रध्यान होता है।

भावार्थ : हिंसा (जीवों का घात) करके अति हर्ष माने, शिकार आदि में आनन्द से प्रवृत्ति करे, दूसरे के विघ्न हो, तब अति सन्तुष्ट (प्रसन्न) हो और झूठ बोलकर अपने को प्रवीण माने, दूसरे के दोषों को निरन्तर देखे, कहे और उसमें आनन्द माने; इस तरह ये रौद्रध्यान के दो भेद हैं।

अब, (रौद्रध्यान के) दो भेद और कहते हैं —

परविसयहरणसीलो, सगीयविसये सुरक्खणे दक्खो।
तग्गयचिंत्ताविट्ठो, णिरंतरं तं पि रुद्दं पि॥४७४॥

पर-वस्तु ग्रहण स्वभाव हो, निज वस्तु रक्षण दक्ष हो।
चित्त हो लवलीन इनमें, रौद्रध्यान उसे कहो॥४७४॥

अन्वयार्थ : [**परविसयहरणसीलो**] जो पुरुष, दूसरे की विषय-सामग्री को हरण करने के स्वभावसहित हो, [**सगीयविसये सुरक्खणे दक्खो**] अपनी विषयसामग्री की रक्षा करने में प्रवीण हो, [**तग्गयचिंत्ताविट्ठो णिरंतरं**] इन दोनों कार्यों में निरन्तर चित्त को लवलीन रखता हो, [**तं पि रुद्दं पि**] उस पुरुष के यह भी रौद्रध्यान ही है।

भावार्थ : दूसरे की सम्पत्ति को चुराने में प्रवीण हो, चोरी करके हर्ष माने तथा अपनी विषय-सामग्री को रखने का अति यत्न करे और उसकी रक्षा करके आनन्द माने - ऐसे ये दो भेद रौद्रध्यान के हुए। इस तरह से यह चारों भेदरूप रौद्रध्यान, अतितीव्र कषाय के योग से होता है, महापापरूप है, महापापबन्ध का कारण है; इसलिए धर्मात्मा पुरुष, ऐसे ध्यान को दूर ही से छोड़ देते हैं। जितने जगत में उपद्रव के कारण हैं, वे सब रौद्रध्यानयुक्त पुरुष से बनते हैं क्योंकि जो पाप करके हर्ष (सुख) मानता है, उसको धर्म का उपदेश भी नहीं लगता है; वह तो अति प्रमादी होकर अज्ञानी पाप ही में मस्त रहता है।

अब, धर्मध्यान को कहते हैं —

विण्णि वि असुहे ज्झाणे, पावणिहाणे य दुक्खसंताणे।
तम्हा दूरे वज्जह, धम्मे पुण आयरं कुणह॥४७५॥

आर्त रौद्र अशुभ सदा, अरु पापमय दु:ख जनक हैं।
अत: छोड़ो दूर से, अरु धर्म का आदर करो॥४७५॥

अन्वयार्थ : [**विण्णि विज्झाणे असुहे**] हे भव्यजीवों! आर्त और रौद्र ये दोनों ही ध्यान, अशुभ हैं, [**पावणिहाणे य दुक्खसंताणो**] (इन्हें) पाप के निधान और दु:ख की सन्तान [**तम्हा दूरे वज्जह**] जानकर दूर ही से छोड़ो [**पुण धम्मे आयरं कुणह**] और धर्मध्यान में आदर करो।

भावार्थ : आर्त–रौद्र, दोनों ही ध्यान अशुभ हैं तथा पाप से भरे हैं और दु:ख ही की सन्तति इनसे चलती है; इसलिए इनको छोड़कर, धर्मध्यान करने का श्रीगुरु का उपदेश है।

अब, धर्म का स्वरूप कहते हैं —

धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥४७६॥

धर्म वस्तु स्वभाव, दशविध क्षमा-आदिक भावमय।
रत्नत्रय भी धर्म अरु, प्राणी दया भी धर्म है ॥४७६॥

अन्वयार्थ : [वत्थुसहावो धम्मो] वस्तु का स्वभाव, धर्म है। जैसे – जीव का स्वभाव, दर्शन–ज्ञानस्वरूप चैतन्यता, सो इसका यही धर्म है। **[खमादिभावो य दसविहो धम्मो]** दश प्रकार के क्षमादिक भाव, धर्म हैं। **[रयणत्तंयं य धम्मो]** रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन –ज्ञान–चारित्र) धर्म है **[जीवाणं रक्खणं धम्मो]** और जीवों की रक्षा करना भी धर्म है।

भावार्थ : अभेदविवक्षा से तो वस्तु का स्वभाव, धर्म है। जीव का चैतन्यस्वभाव ही इसका धर्म है। भेदविवक्षा से दशलक्षण उत्तमक्षमादिक तथा रत्नत्रयादिक, धर्म हैं। निश्चय से तो अपने चैतन्य की रक्षा, विभावपरिणतिरूप नहीं परिणमना है और व्यवहार से परजीव को विभावरूप, दु:ख–क्लेशरूप न करना; उसी का भेद, जीव का प्राणान्त न करना, वह धर्म है।

अब, धर्मध्यान कैसे जीव के होता है ? – वह कहते हैं —

धम्मे एयग्गमणो, जो ण वि वेदेदि पंचहा विसयं।
वेरग्गमओ णाणी, धम्मज्झाणं हवे तस्स ॥४७७॥

पञ्चेन्द्रि विषयों को न वेदे, धर्म में एकाग्र मन।
वैराग्य से भीगा हृदय हो, धर्म ध्यानी वह सुजन ॥४७७॥

अन्वयार्थ : [जो] जो **[णाणी]** ज्ञानी पुरुष, **[धम्मे एयग्गमणो]** धर्म में एकाग्र मन हो प्रवृर्त्ते; **[पंचहा विसयं ण वि वेदेदि]** पाँचों इन्द्रियों के विषयों को नहीं वेदै **[वेरग्गमओ]** और वैराग्यमयी हो, **[तस्स धम्मज्झाणं हवे]** उस ज्ञानी के धर्मध्यान होता है।

भावार्थ : ध्यान का स्वरूप एक ज्ञेय में ज्ञान का एकाग्र होना है। जो पुरुष, धर्म में एकाग्रचित्त करता है, उस काल इन्द्रिय विषयों को नहीं वेदता है, उसके धर्मध्यान होता है। इसका मूलकारण संसार देह–भोग से वैराग्य है; बिना वैराग्य के धर्म में चित्त रुकता नहीं है।

सुविसुद्धरायदोसो, बाहिरसंकप्पवज्जिओ धीरो।
एयग्गमणे संतो, जं चिंतइ तं पि सुहज्झाणं॥४७८॥

रागादि दोषों से रहित, संकल्प बाह्य सभी तजे।
धीर चित् एकाग्रमन हो, चिन्तवे शुभ ध्यान है॥४७८॥

अन्वयार्थ : [**सुविद्धरायदोसो**] जो पुरुष, राग–द्वेष से रहित होता हुआ, [**बाहिर –संकप्पवज्जिओ धीरो**] बाह्य के संकल्प से वर्जित होकर, धीरचित्त, [**एयग्गयणो संतो जं चिंतइ**] एकाग्रमन होता हुआ जो चिन्तवन करे, [**तं पि सुहज्झाणं**] वह भी शुभ – ध्यान है।

भावार्थ : जो, राग–द्वेषमयी या वस्तु सम्बन्धी संकल्प छोड़, एकाग्रचित्त हो (किसी से चलायमान करने पर चलायमान न हो) चिन्तवन करता है, वह भी शुभध्यान है।

ससरूवसमुब्भासो, णट्ठममत्तो जिदिंदिओ संतो।
अप्पाणं चिंतंतो, सुहज्झाणरओ हवे साहू॥४७९॥

निजरूप का भासन हुआ, ममता रहित हो जितेन्द्रिय।
आत्म चिन्तन करे साधू, लीन हैं शुभ ध्यान में॥४७९॥

अन्वयार्थ : [**ससरूवसमुब्भासो**] जिस साधु को अपने स्वरूप का समुद्भास, अर्थात् प्रकट होना हो गया हो, [**णट्ठममत्तो**] परद्रव्य में ममत्वभाव जिसका नष्ट हो गया हो, [**जिदिंदिओ संतो**] जितेन्द्रिय हो, [**अप्पाणं चिंतंतो**] और अपनी आत्मा का चिन्तवन करता हुआ प्रवर्तता हो, [**साहू सुहज्झाणरओ हवे**] वह साधु शुभध्यान में लीन होता है।

भावार्थ : जिसको अपने स्वरूप का तो प्रतिभास हो गया हो तथा परद्रव्य में ममत्व नहीं करता हो और इन्द्रियों को वश में रखता हो; इस तरह से आत्मा का चिन्तवन

करनेवाला साधु, शुभध्यान में लीन होता है; दूसरे के शुभध्यान नहीं होता है।

वज्जियसयलवियप्पो, अप्पसरूवे मणं णिरुंधंत्तो।
जं चिंतदि साणंदं, तं धम्मं उत्तमं ज्झाणं ॥४८०॥

तजकर समस्त विकल्प, आत्मस्वरूप में मन रोककर।
सानन्द चिन्तन जो करे, हो धर्मध्यान उसे प्रवर ॥४८०॥

अन्वयार्थ : [**जं**] जो [**वज्जियसयलवियप्पो**] समस्त अन्य विकल्पों को छोड़कर, [**अप्पसरूवे मणं णिरुंधंत्तो**] आत्मस्वरूप में मन को रोककर, [**साणंदं चिंतदि**] आनन्दसहित चिन्तवन करता है, [**तं उत्तमं धम्मं ज्झाणं**] वह उत्तम धर्मध्यान है।

भावार्थ : समस्त अन्य विकल्पों से रहित आत्मस्वरूप में मन को रोकने से, आनन्दरूप चिन्तवन होता है, वह उत्तम धर्मध्यान है। यहाँ संस्कृत टीकाकार ने धर्मध्यान का अन्य ग्रन्थों के अनुसार विशेष कथन किया है, उसे संक्षेप से लिखते हैं।

धर्मध्यान के चार भेद हैं – (१) आज्ञाविचय, (२) अपायविचय, (३) विपाक -विचय, (४) संस्थानविचय। जीवादिक छह द्रव्य, पञ्चास्तिकाय, सप्त तत्त्व, और नौ पदार्थों का विशेष स्वरूप, विशिष्ट गुरु के अभाव से तथा अपनी मन्दबुद्धि के कारण, प्रमाण-नय-निक्षेपों से साधन कर सके – ऐसा न जाना जा सके, तब ऐसा श्रद्धान करे कि जो सर्वज्ञ वीतरागदेव ने कहा है, वह हमें प्रमाण है – ऐसे आज्ञा मानकर, उसके अनुसार पदार्थों में उपयोग को रोकना सो* आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

अपाय का अर्थ नाश है; इसलिए जैसे कर्मों का नाश हो, वैसा चिन्तवन करना तथा मिथ्यात्वभाव, धर्म में विघ्न का कारण है, इसका चिन्तवन रखना। इसका अपने न होने का चिन्तवन, दूसरे के दूर करने का चिन्तवन करना, वह **अपायविचय** है।

विपाक का अर्थ, कर्म का उदय है; इसलिए जैसा कर्म का उदय हो, उसके वैसे ही स्वरूप का चिन्तवन करना, वह **विपाकविचय** है। लोक के स्वरूप का चिन्तवन करना, वह **संस्थानविचय** है।

---

* सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं, हेतुभिर्नैव हन्यन्ते।
आज्ञासिद्धंतुतद्ग्राह्यं, नान्यथावादिनो जिनाः॥

धर्मध्यान के दश भेद भी होते हैं – (१) अपायविचय, (२) उपायविचय, (३) जीवविचय, (४) आज्ञाविचय, (५) विपाकविचय, (६) अजीवविचय, (७) हेतुविचय, (८) विरागविचय, (९) भवविचय, (१०) संस्थानविचय – ऐसे इन दशों का चिन्तवन, वह इन चार भेदों के ही विशेष भेद किये गये हैं।

पदस्थ[१], पिण्डस्थ, रूपस्थ, रूपातीत – ऐसे भी धर्मध्यान, चार प्रकार का होता है। पद अक्षरों के समुदाय को कहते हैं; इसलिए परमेष्ठी के वाचक अक्षर, जिनकी मन्त्र संज्ञा है, सो उन अक्षरों को प्रधान कर परमेष्ठी का चिन्तवन करे, उस समय जिस अक्षर में एकाग्रचित्त होता है, वह ध्यान कहलाता है। णमोकारमन्त्र के पैंतीस अक्षर हैं, वे प्रसिद्ध[२] हैं, उनमें मन लगावे तथा उस ही मन्त्र को भेदरूप करने पर संक्षिप्त सोलह अक्षर हैं – 'अरहन्त सिद्ध आइरिय, उवज्झाय साहू'[३]। इस ही के भेदरूप 'अरहन्त सिद्ध' ये छह अक्षर हैं। इस ही का संक्षेप 'अ सि आ उ सा' ये आदि अक्षररूप पाँच अक्षर हैं। 'अरहन्त' ये चार अक्षर हैं। 'सिद्ध' अथवा 'अर्हं' ये दो अक्षर हैं। 'ॐ' यह एक अक्षर है। इसमें पञ्च परमेष्ठी के सब आदि के अक्षर हैं। अरहन्त का अकार; अशरीरी (सिद्ध) का अकार, आचार्य का आकार, उपाध्याय का उकार, मुनि का मकार – ऐसे पाँच अक्षर अ+अ+आ+उ+म्= 'औम्'[४] – ऐसा सिद्ध होता है। ये मन्त्रवाक्य हैं; इसलिए इनके उच्चारण में मन में चिन्तवनरूप ध्यान करे तथा इनका वाच्य अर्थ जो परमेष्ठी हैं, उनका अनन्त ज्ञानादिरूप स्वरूप विचार कर ध्यान करना। अन्य भी बारह हजार श्लोकरूप नमस्कारग्रन्थ हैं, उनके अनुसार तथा लघु वृहत् सिद्धचक्र प्रतिष्ठा ग्रन्थों में मन्त्र कहे गये हैं, उनका ध्यान करना चाहिए। मन्त्रों का विशेष वर्णन, संस्कृतटीका में है; अत: वहाँ जानना। यहाँ संक्षेप से लिखा है, यह सब **पदस्थध्यान** है।

पिण्ड का अर्थ शरीर है। उसमें पुरुषाकार अमूर्तिक अनन्त चतुष्टयसहित, जैसा परमात्मा का स्वरूप है, वैसा ही आत्मा का चिन्तवन करना, वह **पिण्डस्थध्यान** है।

---

१) पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं, पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तवनं।
रूपस्थं सर्वचिद्रूपं, रूपातीतं निरंजनं॥

२) णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाण, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं॥

३) अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः।

४) अरहंता असरीरा, आइरिया तह उवज्झया मुणिणो।
पढमक्खरणिप्पण्णो, ओंकारो पंचपरमेट्ठी॥

रूप, अर्थात् अरहन्त का रूप, समोसरण में घातिकर्मरहित, चौतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्यसहित, अनन्त चतुष्टयमण्डित, इन्द्रादि से पूज्य, परम औदारिक शरीरसहित - ऐसे अरहन्त का ध्यान करना तथा ऐसा ही सङ्कल्प अपनी आत्मा का करके, अपना ध्यान करना, वह **रूपस्थध्यान** है।

देह बिना, बाह्य के अतिशयादिक बिना, अपना-दूसरे का ध्याता-ध्यान-ध्येय के भेद बिना, सर्व विकल्परहित, परमात्मस्वरूप में लय को प्राप्त हो जाना, वह **रूपातीतध्यान** है। ऐसा ध्यान सातवें गुणस्थान में होता है, तब श्रेणी माण्डता है। यह ध्यान व्यक्तरागसहित चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक अनेक भेदरूप प्रवर्त्तता है।

अब, शुक्लध्यान को पाँच गाथाओं में कहते हैं —

जत्थ गुणा सुविसुद्धा, उवसमखमणं च जत्थ कम्माणं।
लेसा वि जत्थ सुक्का, तं सुक्कं भण्णदे ज्झाणं॥४८१॥

सुविशुद्ध गुण हो जहाँ उपशम, क्षय जहाँ हो कर्म का।
लेश्या जहाँ हो शुक्ल भी, है शुक्लध्यान वहाँ कहा॥४८१॥

अन्वयार्थ : [जत्थ सुविसुद्ध गुणा] जहाँ भले प्रकार विशुद्ध (व्यक्त कषायों के अनुभवरहित) उज्ज्वलगुण (ज्ञानोपयोग आदि) हों, **[जत्थ कम्माणं उवसमखमणं च]** जहाँ कर्मों का उपशम तथा क्षय हो **[जत्थ लेसा वि सुक्का]** और जहाँ लेश्या भी शुक्ल ही हो, **[तं सुक्कं ज्झाणं भण्णदे]** उसको शुक्लध्यान कहते हैं।

भावार्थ : यह सामान्य शुक्लध्यान का स्वरूप कहा, विशेष आगे कहेंगे। कर्म के उपशम और क्षय का विधान अन्य ग्रन्थों से टीकाकार ने लिखा है, वह आगे लिखेंगे।

अब, (शुक्लध्यान के) विशेष भेदों को कहते हैं —

पडिसमयं सुज्झंतो अणंतगुणिदाए उभयसुद्धीए।
पढमं सुक्कं ज्झायदि, आरूढो उभयसेणीसु॥४८२॥

विशुद्धता हो गुण-अनन्त, उपशम तथा क्षय प्रति समय।
हो शुक्ल ध्यान प्रथम उसे, आरूढ़ श्रेणी में उभय॥४८२॥

अन्वयार्थ : [उभयसेणीसु आरूढो] उपशमक और क्षपक, इन दोनों श्रेणियों में आरूढ होकर, **[पडिसमयं]** समय-समय **[अणंतगुणिदाए उभयसुद्धीए सुज्झंतो]** अनन्तगुणी विशुद्धता, कर्म के उपशम तथा क्षयरूप से शुद्ध होता हुआ मुनि, **[पढमं सुक्कं ज्झायदि]** प्रथम शुक्लध्यान पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान करता है।

भावार्थ : पहले, मिथ्यात्व - तीन, कषाय अनन्तानुबन्धी - चार, प्रकृतियों का उपशम तथा क्षय होने से सम्यग्दृष्टि होता है। फिर अप्रमत्तगुणस्थान में सातिशय विशुद्धतासहित हो, श्रेणी प्रारम्भ करता है, तब अपूर्वकरणगुणस्थान होकर शुक्लध्यान का पहला पाया प्रवर्तता है। वहाँ यदि मोह की प्रकृतियों का उपशम करना प्रारम्भ करता है तो अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय - इन तीनों गुणस्थानों में समय-समय अनन्त गुणी विशुद्धता से बढ़ता हुआ मोहनीयकर्म की इक्कीस प्रकृतियों का उपशम कर, उपशान्तकषायगुणस्थान को प्राप्त हो जाता है अथवा मोह की प्रकृतियों का क्षय करना प्रारम्भ करता है तो तीनों गुणस्थानों में इक्कीस मोह की प्रकृतियों का सत्ता में से नाश कर क्षीणकषाय बारहवें गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है। ऐसे शुक्लध्यान का पहला पाया पृथक्त्ववितर्कवीचार प्रवर्त्तता है। सो पृथक, अर्थात् भिन्न-भिन्न; वितर्क, अर्थात् श्रुतज्ञान के अक्षर और अर्थ, तथा वीचार, अर्थात् अर्थ का, *व्यञ्जन का और मन वचन काय के योग, इनका पलटना - इस पहले शुक्लध्यान में होता है। सो अर्थ तो द्रव्य-गुण-पर्याय है, सो द्रव्य से द्रव्यान्तर, गुण से गुणान्तर, पर्याय से पर्यायन्तर होता है और इसी तरह वर्ण से वर्णान्तर तथा योग से योगान्तर होता है।

यहाँ कोई **प्रश्न** करे कि ध्यान तो एकाग्रचिन्ता निरोध है, पलटने को ध्यान कैसे कहा ?

इसका **समाधान** - जितने समय तक एक विषय पर रुका, वह तो ध्यान हुआ और पलट गया, तब दूसरे विषय पर रुका, वह भी ध्यान हुआ - ऐसे ध्यान की सन्तान को भी ध्यान कहते हैं। यहाँ सन्तान की जाति एक है, उसकी अपेक्षा लेना। उपयोग पलटता है,

---

* व्यञ्जन नाम श्रुतवचन का है। जिससे अर्थ विशेष अभिव्यक्त होता है, ऐसे किसी भी श्रुतज्ञान के वाक्य को व्यञ्जन कहते हैं। (सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, पृष्ठ ४२९)

सो ध्याता की पलटने की इच्छा नहीं है। यदि इच्छा हो तो रागसहित होने के कारण यह भी धर्मध्यान ही रहे। यहाँ, राग का अव्यक्त होना केवलज्ञानगम्य है, ध्याता के ज्ञानगम्य नहीं है। आप शुद्धोपयोगरूप हुआ पलटने का भी ज्ञाता ही है। पलटना, क्षयोपशमज्ञान का स्वभाव है; इसलिए यह उपयोग बहुत समय तक एकाग्र नहीं रहता है; इसको 'शुक्ल' राग के अव्यक्त होने ही के कारण कहा है।

अब, (शुक्लध्यान का) दूसरा भेद कहते हैं —

णिस्सेसमोहविलए, खीणकसाए य अंतिमे काल।
ससरूवम्मि णिलीणो, सुक्कं ज्झाएदि एयत्तं॥४८३॥

सब मोह क्षय हो वारखें गुणथान के अन्तिम समय।
निजरूप में हैं लीन, शुक्लध्यान वह एकत्व है॥४८३॥

अन्वयार्थ : [**णिस्सेसमोहविलए**] आत्मा, समस्त मोहकर्म के नाश होने पर [**खीणकसाए य अंतिमे काले**] क्षीणकषायगुणस्थान के अन्त के काल में, [**ससरूवम्मि णिलीणो**] अपने स्वरूप में लीन हुआ, [**एयत्तं सुक्कं ज्झाएदि**] दूसरा शुक्लध्यान एकत्ववितर्कवीचारध्यान करता है।

भावार्थ : पहले पाये में उपयोग पलटता था, सो पलटता रह गया। एक द्रव्य तथा पर्याय पर, एक व्यञ्जन पर, एक योग पर रुक गया। अपने स्वरूप में लीन है ही। अब घातिकर्म के नाश से उपयोग पलटेगा, सो सबका प्रत्यक्ष ज्ञाता होकर लोकालोक को जानना, यह ही पलटना शेष रहता है।

अब, (शुक्लध्यान का) तीसरा भेद कहते हैं —

केवलणाणसहावो, सुहमे जोगम्हि संठिओ काए।
जं ज्झायदि सजोगिजिणो, तं तिदियं सुहमकिरियं च॥४८४॥

सयोगी जिन केवली थिर, सूक्ष्म काय योग में।
जो ध्यान करते हैं वही, सूक्ष्म क्रिया है तीसरा॥४८४॥

अन्वयार्थ : [**केवलणाणसहावो**] केवलज्ञान ही है स्वभाव जिसका, ऐसा [**सजोगिजिणो**] सयोगीजिन [**सुहमे काए जोगम्हि संठिओ**] जब सूक्ष्म काययोग में

स्थित होकर, उस समय [**जं ज्झायदि**] जो ध्यान करता है, [**तं तिदियं सुहमकिरियं च**] वह तीसरा सूक्ष्मक्रिया नामक शुक्लध्यान है।

अब, (शुक्लध्यान का) चौथा भेद कहते हैं —

जोगविणासं किच्चा, कम्मचउक्कस्स खवणकरणट्ठं।
जं ज्झायदि अजोगिजिणो, णिक्किरियं तं चउत्थं च॥४८५॥

योग का क्षय करें, चार अघाति क्षय के लिए जिन।
व्युपरतक्रियानिवृत्ति, चौथे ध्यान में अयोगि जिन॥४८५॥

अन्वयार्थ : [**जोगविणासं किच्चा**] केवली भगवान्, योगों की प्रवृत्ति का अभाव करके [**अजोगिजिणो**] जब अयोगीजिन हो जाते हैं, तब [**कम्मचउक्कस्स खवणकरणट्ठं**] सत्ता में स्थित अघातियाकर्म की पिच्यासी प्रकृतियों का क्षय करने के लिए [**जं ज्झायदि**] जो ध्यान करते हैं, [**तं चउत्थं णिक्किरियं च**] वह चौथा व्युपरतक्रिया -निवृति नामक शुक्लध्यान होता है।

अब, तप के कथन का सङ्कोच / उपसंहार करते हैं —

एसो वारसभेओ, उग्गतवो जो चरेदि उवजुत्तो।
सो खविय कम्मपुंजं, मुत्तिसुहं उत्तमं लहदि॥४८६॥

बारह तपों का जो करें, उपयोगयुत हो आचरण।
सब कर्म पुञ्ज विनाश करके, मुक्ति सुख उत्तम लहें॥४८६॥

अन्वयार्थ : [**एसो वारसभेओ**] यह बारह प्रकार का तप है। [**जो उवजुत्तो उग्गतवो चरेदि**] जो मुनि, उपयोगसहित इस व्रत का आचरण करता है, [**सो कम्मपुंजं खविव**] वह मुनि, कर्मसमूह का नाश करके [**उत्तमं मुत्तिसुहं लहदि**] उत्तम (अक्षय) मोक्षसुख को पाता है।

भावार्थ : तप से कर्म की निर्जरा होती है, संवर होता है; ये दोनों ही मोक्ष के कारण हैं, इसलिए जो मुनिव्रत लेकर बाह्य-अभ्यन्तर भेदरूप तप का विधिपूर्वक आचरण करता है, वह मोक्ष पाता है, तब ही कर्म का अभाव होता है। इसी से अविनाशी बाधारहित

आत्मिकसुख की प्राप्ति होती है। ऐसे बारह प्रकार के तप के धारक तथा इस तप का फल पानेवाले साधु चार प्रकार के कहे गये हैं - (१) अनगार, (२) यति, (३) मुनि, (४) ऋषि। सामान्य साधु, गृहवास के त्यागी; मूलगुणों के धारक, **अनगार** हैं। ध्यान में स्थित होकर श्रेणी माण्डनेवाले **यति** हैं। जिनको अवधि, मन:पर्ययज्ञान हो तथा केवलज्ञान हो, वे मुनि हैं और ऋद्धिधारी हों, वे ऋषि हैं। इनके चार भेद हैं - (१) राजर्षि, (२) ब्रह्मर्षि, (३) देवर्षि, (४) परमर्षि। विक्रियाऋद्धिवाले, राजर्षि; अक्षीणमहानसऋद्धिवाले, ब्रह्मर्षि; आकाशगामी, देवर्षि और केवलज्ञानी, परमर्षि हैं।

अब, इस ग्रन्थ के कर्ता स्वामी कार्तिकेय मुनि अपना कर्तव्य प्रगट करते हैं —

जिणवयणभावणट्ठं, सामिकुमारेण परमसद्धाए।
रइया अणुवेक्खाओ, चंचलमण-रुंभणट्ठं च॥४८७॥

जिनवचन की हो भावना, अवरुद्ध चञ्चल चित्त हो।
परम श्रद्धा से रचा, यह ग्रन्थ स्वामी कुमार ने॥४८७॥

अन्वयार्थ : [**अणुवेक्खाओ**] यह अनुप्रेक्षा नामक ग्रन्थ [**सामिकुमोरण**] स्वामिकुमार ने [**परमसद्धाए**] श्रद्धापूर्वक (ऐसा नहीं कि कथनमात्र कर दिया हो। इस विशेषण से अनुप्रेक्षा से अत्यन्त प्रीति सूचित होती है) [**जिणवयणभावणट्ठं**] जिनवचन की भावना के लिये (इस वचन से यह बताया है कि ख्याति-लाभ-पूजादिक लौकिकप्रयोजन के लिए यह ग्रन्थ नहीं बनाया गया है। जिनवचन का ज्ञान-श्रद्धान हुआ है, उसकी बारम्बार भावना स्पष्ट करना, जिससे ज्ञान की वृद्धि हो, कषायों का नाश हो - ऐसा प्रयोजन है) [**चंचलमणरुं भणट्ठं च रइया**] और चञ्चल मन को रोकने के लिए रचा (बनया) है। इस विशेषण से ऐसा जानना कि मन चञ्चल है, इसलिए एकाग्र नहीं रहता है, उसको इस शास्त्र में लगावें तो राग-द्वेष के कारण विषय-कषायों में न जावे, इस प्रयोजन के लिए ये अनुप्रेक्षा ग्रन्थ बनाया है; अत: भव्यजीवों को इस का अभ्यास करना योग्य है, जिससे जिनवचन की श्रद्धा हो, सम्यग्ज्ञान की वृद्धि हो और चञ्चल मन इसके अभ्यास में लगे; अन्य विषयों में न जाए।

अब, अनुप्रेक्षा का माहात्म्य कहकर भव्यों को उपदेशरूप फल का वर्णन करते हैं—

वारसअणुवेक्खाओ, भणिया हु जिणागमाणुसारेण।
जो पढइ सुणइ भावइ, सो पावइ उत्तमं सोक्खं ॥४८८॥

जिनागम अनुसार, अनुप्रेक्षा कही द्वादश अहो।
जो पठन श्रवण करे सुभावे, पाए उत्तम सौख्य को ॥४८८॥

अन्वयार्थ : [**वारसअणुपेक्खाओ**] ये बारह अनुप्रेक्षाएँ, [**जिणागमाणुसारेण भणिया हु**] जिनागम के अनुसार कही हैं (इस वचन से यह बताया है कि मैंने कल्पित नहीं कही है; शास्त्रानुसार कही है)। [**जो पढइ सुणइ भावइ**] जो भव्यजीव इनको पढ़े, सुने और इनकी भावना (बारम्बार चिन्तवन) करे, [**सो उत्तमं सोक्खं पावइ**] वह उत्तम (बाधारहित, अविनाशी, स्वात्मीक) सुख को पावे। यह सम्भावनारूप कर्तव्य अर्थ का उपेदश जानना। भव्यजीव है सो पढ़ो, सुनो, बारम्बार इनके चिन्तवनरूप भाव करो।

अब, अन्त मङ्गल करते हैं —

तिहुयणपहाणस्वामिं, कुमारकाले वि तविय तवचरणं।
वसुपुज्जसुयं मल्लिं, चरिमतियं संथुवे णिच्चं ॥४८९॥

बालवय में तप किया, तिहुँ लोक के नायक हुए।
वसुपूज्य सुत अरु मल्लि, अन्तिम तीन जिन को नित नमन ॥४८९॥

अन्वयार्थ : [**तिहुयणपहाणस्वामिं**] तीन भुवन के प्रधान स्वामी तीर्थङ्करदेव, जिन्होंने [**कुमारकाले वि तविय तवचरणं**] कुमारकाल में तपश्चरण धारण किया – ऐसे [**वसुपुज्जसुयं मल्लिं चरिमतियं**] वसुपूज्य राजा के पुत्र वासुपूज्यजिन, मल्लिजिन और अन्त के तीन, अर्थात् नेमिनाथजिन, पार्श्वनाथजिन, वर्द्धमानजिन – इन पाँचों जिनों का मैं [**णिच्चं संथुवे**] नित्य ही स्तवन करता हूँ, उनके गुणानुवाद करता हूँ, वन्दन करता हूँ।

भावार्थ : ऐसे कुमारश्रमण पाँच तीर्थङ्करों को स्तवन–नमस्काररूप अन्तमङ्गल किया है। यहाँ ऐसा सूचित होता है कि आप (श्री स्वामिकार्तिकेय) कुमार अवस्था में मुनि हुए हैं, इसलिए कुमार तीर्थङ्करों से विशेष प्रीति उत्पन्न हुई है; इसलिए उनके नामरूप अन्त मङ्गल किया है।

ऐसे श्री स्वामीकार्तिकेय मुनि ने यह अनुप्रेक्षा नामक ग्रन्थ समाप्त किया।

अब इस वचनिका के होने का सम्बन्ध लिखते हैं—

दोहा

प्राकृत स्वामिकुमार कृत, अनुप्रेक्षा शुभ ग्रन्थ।
देशवचनिका तासकी, पढौ लगौ शिव पन्थ॥१॥

चौपाई

देश ढुँढाहड़ जयपुर थान, जगतसिंह नृपराज महान।
न्यायबुद्धि ताकैं नित रहै, ताकी महिमा को कवि कहै॥२॥
ताके मन्त्री बहुगुणवान, तिनकैं मन्त्र राजसुविधान।
ईति भीति लोकनिकै नाहिं, जो व्यापै तो झट मिटि जाहिं॥३॥
धर्मभेद सब मत के भले, अपने अपने इष्ट जु चले।
जैनधर्म की कथनी तनी, भक्ति प्रीति जैननिकै घनी॥४॥
जिनमें तेरापंथ कहाव, धरै गुणीजन करै बढाव।
तिनि के मध्य नाम जयचन्द्र, मैं हूँ आतमराम अनंद॥५॥
धर्मरागतैं ग्रंथ विचारि, करि अभ्यास लेय मनधारि।
भावन बारह चितवन सार, सो हूँ लखि उपज्यो सुविचार॥६॥
देशवचनिका करिये जोय, सुगम होय वांचै सब कोय।
यातें रची वचनिका सार, केवल धर्मराग निरधार॥७॥
मूलग्रंथतैं घटि बढि होय, ज्ञानी पंडित सोधो सोय।
अल्पबुद्धि की हास्य न करैं, संतपुरुष मारग यह धरैं॥८॥
बारह भावन की भावना, बहु लै पुण्ययोग पावना।
तीर्थंकर वैराग जु होय, तब भावै सब राग जु खोय॥९॥
दीक्षा धारै तब निरदोष, केवल ले अरु पावै मोष (मोक्ष)।
यह विचारि भावौ भवि जीव सब कल्याण सु धरो सदीव॥१०॥

पंच परमगुरु अरु जिनधर्म, जिनवानी भाषै सब मर्म।
चैत्य चैत्यमंदिर पढि नाम, नमूं मानि नव देव सुधाम॥११॥

चौपाई

संवत्सर विक्रमतणूं, अष्टादशशत जानि।
त्रेसठि सावण तीज वदि, पूरण भयो सुमानि॥१२॥
जैनधर्म जयवन्त जग, जाको मर्म सु पाय।
वस्तु यथारथरूप लखि, ध्यायें शिवपुर जाय॥१३॥

इति श्रीस्वामिकार्तिकेय विरचित द्वादशानुप्रेक्षा जयचन्दजी कृत वचनिका हिन्दी अनुवाद सहित समाप्त।